राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

प्रबन्ध सम्पादक -- जितेन्द्रकुमार जैन
[निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर]

ग्रन्थांक १२४

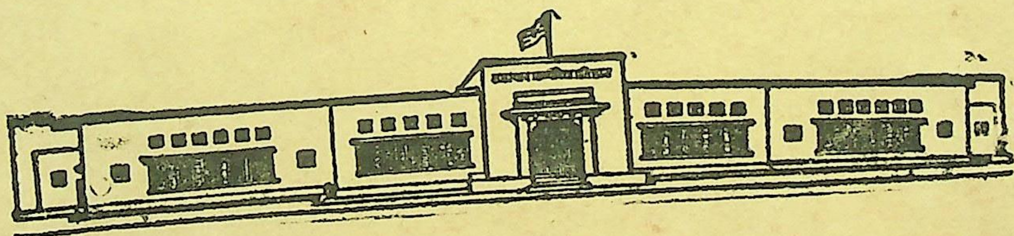
श्रीहनूमत्कविविरचिता

खण्डप्रशस्तिः

दशावतारस्तोत्रम्

श्रीकोकापण्डित प्रणीतया पञ्ज्या पण्डित श्रीगुणविनय गुम्फितया
सुबोधिन्याख्ययावृत्या च संवलिता

सम्पादक
महोपाध्याय-विनयसागर



प्रकाशक
राजस्थान - राज्य - संस्थापित
राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान
जोधपुर (राजस्थान)
RAJASTHAN ORIENTAL RESEARCH INSTITUTE, JODHPUR.
1975

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

प्रबन्ध सम्पादक -- जितेन्द्रकुमार जैन
[निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर]

ग्रन्थांक १२४

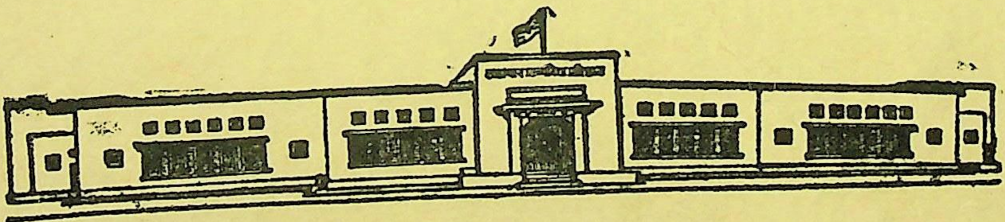
श्रीहनूमत्कविविरचिता

खण्डप्रशस्तिः

दशावतारस्तोत्रम्

श्रीकीकापण्डित प्रणीतया पञ्ज्या पण्डित श्रीगुणविनय गुम्फितया
सुबोधिन्याख्ययावृत्या च संवलिता

सम्पादक
महोपाध्याय-विनयसागर



प्रकाशक
राजस्थान - राज्य - संस्थापित
राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान
जोधपुर (राजस्थान)
RAJASTHAN ORIENTAL RESEARCH INSTITUTE, JODHPUR.
1975

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

प्रबन्धसम्पादकः जितेन्द्रकुमार जैन
[निदेशकः राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठानम्]

ग्रन्थांक १२४

श्रीहनूमत्कविविरचिता

खण्डप्रशस्तिः

(दशावतारस्तोत्रम्)

श्रीकीकापण्डित प्रणीतया पञ्ज्या पण्डित श्रीगुणविनयगुम्फितया
सुबोधिन्याख्यया वृत्या च संवलिता

सम्पादकः

महोपाध्याय-विनयसागरः

प्रकाशकः

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठानम् जोधपुर (राज०)
१९७५

Rajasthan Oriental Research Institute Jodhpur.
1975

प्रथमावृत्तिः १००० मूल्यम् रु. ७.००

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

राजस्थान - राज्य द्वारा प्रकाशित

सामान्यतः अखिल भारतीय तथा विशेषतः राजस्थान-प्रदेशीय पुरातनकालीन
संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी आदि भाषा-निबद्ध
विविधवाङ्मयप्रकाशिनी विशिष्ट ग्रन्थावली

प्रबन्ध सम्पादक
जितेन्द्रकुमार जैन
निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर

ग्रन्थांक १२४

श्रीहनुमत्कविविरचित

खण्डप्रशस्ति

(दशावतारस्तोत्र)

श्रीकीकापण्डितप्रणीतपञ्जिका एवं पण्डित श्रीगुणविनयगुम्फित
सुबोधिनीवृत्ति सहित

प्रकाशक
राजस्थान–राज्य–संस्थापित

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान
जोधपुर (राजस्थान)

मुद्रक :—साधना प्रेस, जोधपुर

वि. सं. २०३१ शकाब्द १८९६

विषयानुक्रम

: प्रकाशकीय :

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला के अन्तर्गत इस ग्रन्थ का प्रकाशन १२४वें ग्रन्थ के रूप में किया जा रहा है।

भारतीय संस्कृति में अवतारवाद का अपना महत्वपूर्ण स्थान है, और जीवन के विरल क्षणों में मनुष्य मात्र किसी अनिवर्चनीय सत्ता के प्रति अभिमुख होकर ही आत्म-कल्याण की कामना करता है – चाहे उस नाम रूप की कल्पना किसी भी प्रकार की हो। इस काव्य में भगवान विष्णु के दश अवतारों का स्तवन मनोहारिणी ललित भाषा में किया गया है, जिसके अध्ययन से अवश्य ही विद्वज्जनों को आह्लाद होगा।

प्रस्तुत संस्करण में मूल रचना के साथ पण्डित कीका कृत 'पंजिकावृत्ति' और श्रीगुणविनय कृत सुबोधिका टीका दी गई है। प्रतिष्ठान के निवृत्त निदेशक डा० फतहसिंह ने अपने कार्यकाल में इसका सम्पादन प्रारम्भ करवाया था जिसको प्रतिष्ठान के गवेषक महोपाध्याय श्री विनयसागर ने सम्पन्न किया है। सम्पादक द्वारा भूमिका एवं परिशिष्टीय भाग में ज्ञातव्य विषयों पर भी अच्छा प्रकाश डाला गया है। इसके लिए श्री म० विनयसागर धन्यवाद के पात्र हैं।

ग्रन्थ में मुद्रित दशावतार के फलक की फोटो प्रति श्री रत्नचन्द्र अग्रवाल निदेशक, पुरातत्व एवं संग्रहालय, जयपुर के सौजन्य से प्राप्त हुई है एतदर्थं प्रतिष्ठान उनका आभारी है।

इस प्रकाशन से अवश्य ही अध्येता एवं अनुसन्धित्सुओं का उपकार होगा, ऐसा मुझे विश्वास है।

१४ मार्च, १९७५ **जितेन्द्रकुमार जैन**
निदेशक

भूमिका

संस्कृत-साहित्य में गीतिकाव्य का विकास सुन्दर स्तोत्रों और प्रशस्तियों के रूप में हुआ है। अनेक समर्थ कवियों ने अपनी रागात्मिका प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति अपने इष्ट-देवताओं के प्रति भावाञ्जलि प्रस्तुत करते हुए सुन्दर स्तोत्रों में की है। ऐसी हो लालित्यपूर्ण भावाञ्जलि हनुमत्कवि विरचित 'खण्डप्रशस्ति' है। एक समर्थ कवि की लेखनी से ही इतनी सुन्दर एवं श्रेष्ठ रचना का प्रादुर्भाव हो सकता है।

इस कृति में कवि ने विष्णु के दश अवतारों की स्तुति को है। विष्णु को राम-नाम से अभिहित करके कवि ने अपने इष्टदेव राम को विविध रूपों में स्तुति की है। विष्णु या राम के मुख्यतः दश अवतार हैं—मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, दाशरथि-राम, कृष्ण, बुद्ध तथा कल्कि अवतारों का यह पौराणिक प्रक्रम है। ग्रन्थकार ने अपनी प्रशस्ति में विष्णु के निराकार और साकार दोनों ही रूपों में आस्था प्रकट की है और विविध अवतारों की स्तुति करते समय यह बात सर्वत्र मन में रखी है कि विष्णु के ये पृथक्-पृथक् रूप वस्तुतः एक ही ब्रह्म के स्वरूप हैं।

नामकरण

'खण्डप्रशस्ति' नामकरण के विषय में टीकाकार श्रीकीका पण्डित[1] और वृत्तिकार पण्डित गुणविनय[2] का मत है कि राम द्वारा निर्मित सेतु के टूट जाने से उसके पत्थरों पर उत्कीर्ण यह कृति खण्ड-खण्ड रूप में प्राप्त हुई। अतः इसको 'खण्डप्रशस्ति' नाम दिया गया। इस मत को प्रमाणित करने का प्रयत्न दोनों ही विद्वानों ने नहीं किया। सम्भव है, ऐसो जानकारी इन्हें किंवदन्तियों से मिली हो और लोक-विश्वास को प्रमाण मानकर इन्होंने उसे स्वीकार कर लिया हो। राम और रामभक्त हनुमान में उत्कट आस्था ने इन विद्वानों के मन में इस सम्बन्ध में किसी प्रकार की जिज्ञासा नहीं जगाई। किसी भी प्रकार के अन्तःसाक्ष्य या अन्य प्रमाण के अभाव में नामकरण के विषय में दो सम्भावनाएँ की जा सकती हैं। प्रथम यह कि सम्भवतया 'खण्डप्रशस्ति' कोई स्वतन्त्र कृति नहीं है वरन् किसी अन्य बड़ी कृति या अनेक कृतियों में से राम के विभिन्न अवतारों से सम्बद्ध स्तुतिपरक श्लोकों को एकत्र करके इस रूप में प्रस्तुत कर दिया गया है। खण्ड-खण्ड रूप से गृहीत होने से 'खण्डप्रशस्ति' नाम रखा गया हो—यह संभव है। एक दूसरी सम्भावना डॉ. बद्रीप्रसाद पंचोली ने इस कृति का आद्योपान्त

१—यही पृ. २ पद्य १०   २—यही पृ. ४

अध्ययन करने के बाद प्रकट की है कि इतनी सुन्दर और मधुर प्रशस्ति को 'खांड' की तरह मीठी होने से 'खण्डप्रशस्ति' नाम दिया गया होगा—खण्डमिव शर्करा इव (मधुरा) प्रशस्तिरिति खण्डप्रशस्तिः। सम्भव है, मिश्री की तरह इन मीठे श्लोकों को कृतिकार ने अपनी अनेक कृतियो में से संकलित करके इसे स्वतंत्र कृति के रूप में उपस्थित कर दिया हो। टीकाकारों की मान्यता से यदि यह मान लें तो भी, कोई विरोध नहीं होगा कि एक नहीं अपितु अनेक कवियों ने इन श्लोकों को लिखा हो, चाहे उनका खण्डित रूप पहले से विद्यमान हो।

इस प्रशस्ति का एक प्रसिद्ध नाम और है—दशावतार स्तोत्र।[1] दश अवतारों की स्तुति होने से यह नाम अन्वर्थक भी है।

हनुमत्कवि

हनुमत् कवि कौन थे, किस समय हुए, किस प्रदेश में हुए—आदि-आदि प्रश्नों का उत्तर देना कठिन ही नहीं, असम्भव भी है। भारत के अन्य कवियों की तरह हनुमत्कवि भी अपने विषय में मौन रहे हैं। इसलिए अन्तःसाक्ष्य के आधार पर उनके विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। बाहरी प्रमाण भी इस विषय में बहुत सहायता नहीं करते। संस्कृत के अन्य ग्रंथों में 'खण्डप्रशस्ति' के कतिपय श्लोक उद्धृत किये गये हैं। उनसे इस कवि की प्राचीनता अवश्य प्रमाणित होती है। प्रायः विद्वानों में यह विश्वास प्रचलित रहा है कि हनुमत्कवि रामभक्त हनुमान् से भिन्न नहीं थे। बालमीकिप्रणीत रामायण से इस बात की पुष्टि होती है कि हनुमान् अत्यन्त विद्वान् और समर्थ लेखनी के धनी थे। राम ने हनुमान् का परिचय लक्ष्मण को इन शब्दों में कराया है—

वाग्यज्ञं मधुरैर्वाक्यैः स्नेहयुक्तमरिन्दमम्॥ २७
नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः।
नासामवेदविदुषः शक्यमेवं विभाषितुम्॥ २८

नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।
बहुव्याहरतानेन न किञ्चिदपशब्दितम्॥ २९

न मुखे नेत्रयोश्चापि ललाटे च भ्रुवोस्तथा।
अन्येष्वपि च सर्वेषु दोषः संविदितः क्वचित्॥ ३०

अविस्तरमसन्दिग्धमविलम्बितमव्ययम्।
उरःस्थं कण्ठग वाक्यं वर्तते मध्यमस्वरम्॥ ३१

संस्कारक्रमसम्पन्नामद्भुतामविलम्बिताम्।
उच्चारयति कल्याणीं वाचं हृदयहर्षिणीम्॥ ३२

१.—खण्डप्रशस्ति पृ. २ पद्य ९.

अनया चित्रया वाचा त्रिस्थानव्यञ्जनस्थया।
कस्य नाराध्यते चित्तमुद्यतासेररेरपि ॥ ३३

[रामायण-किष्किन्धाकाण्ड ३/२७-३३]

इस प्रसंग से यह पता चलता है कि हनुमान् बहुश्रुत विद्वान् और वाग्योगी थे। वे एक सुकृती और रससिद्ध कवि के सभी लक्षणों से सम्पन्न थे। यह भी प्रसिद्धि चली आती है कि हनुमान् ने राम के चरित को लेकर एक महाकाव्य की रचना की थी—ऐसा लोगों का विश्वास है। सम्भव है उनके द्वारा रचित रामायण ही सङ्गीत-रामायण हो। सम्भवत: वाल्मीकि ने अत्यन्त श्रम करके जिस रामायण की आख्यान-काव्य के रूप में रचना की थी और आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार जिसे पढ़ा, गाया और अभिनीत किया जा सकता था, उसका प्रेरक आधार हनुमान् का रामायणग्रन्थ ही हो। यह भी प्रसिद्धि है कि वाल्मीकि की इस प्रार्थना पर कि उनके ग्रंथ के सामने वाल्मीकि की रामायण को लोक में कोई नहीं पूछेगा, हनुमान् ने स्वयं अपने ग्रंथ को नष्ट कर दिया। सम्भव है, उस लुप्तप्राय ग्रंथ के श्रुति-परम्परा से प्राप्त कतिपय अंशों को लेकर उन ग्रंथों की रचना परवर्ती कवियों ने की हो। ऐसे ग्रंथों में खण्डप्रशस्ति के अतिरिक्त 'महानाटक' या 'हनुमन्नाटक भी है।

'महानाटक' के इस समय दो संस्करण प्रचलित हैं—एक मधुसूदनरचित और दूसरा दामोदरमिश्रकृत। स्वीकृत मान्यता के अनुसार दामोदर मिश्र का महानाटक ही हनुमान् के मूलनाटक के अधिक समीप जान पड़ता है। दूसरे संस्करण में ६ अंक हैं जिसे नाट्यशास्त्र की परिभाषा के अनुसार महानाटक नहीं कहा जा सकता। दामोदर मिश्र के महानाटक में १४ अङ्क हैं। इसके अन्त में ग्रन्थ-प्राप्ति के सम्बन्ध में यह श्लोक मिलता है—

रचितमनिलपुत्रेणाऽथ वाल्मीकिनाब्धौ,
निहितममृतबुद्ध्या प्राग्महानाटकं यत्।
सुमतिनृपतिभोजेनोद्धृतं तत्क्रमेण,
ग्रथितमवतु विश्वं मिश्रदामोदरेण ॥ [महानाटक १४/८८]

इस श्लोक से यह पता चलता है कि अमृत के समान अतिसरस इस कृति को हनुमान ने गिरिशिलाओं में लिखा था। वाल्मीकि ने इसे देखा और अपनी कृति के प्रचार न होने की आशंका से इसे समुद्र में डुबा दिया। उसे राजा भोज ने जलयान से निकाला। दामोदर मिश्र ने उन्हीं शिलोत्कीर्ण सूत्रों के आधार पर 'महानाटक' की रचना की।

श्रीबहुरा[1] की सूचनानुसार महानाटक का काशीश्वरप्रणीत एक संस्करण

१ श्री गोपालनारायण बहुरा : लिटरेरी हेरिटेज़ ऑफ दी रूलर्स ऑफ अमेर एण्ड जयपुर।

और प्राप्त है। महाराजा जयपुर के पोथीखाने में ग्रन्थाङ्क ३३६ पर वि. सं. १७२७ में लिखित बलभद्रमिश्रकृत हनुमन्नाटक की 'दीपिका' नामक टीका उपलब्ध है। दीपिकाकार ने स्वयं को काशीनाथ या काशीश्वर का पुत्र बताया है—

श्रीकृष्णदासपदपङ्कजषट्पदस्य,
श्रीकाशिनाथतनयस्य कृतां सुधीराः।
संदीपयन्तु कृपया बलभद्रकस्य,
व्याख्यामिमां विशदनाटकदीपिकाख्याम् ॥

बलभद्र मिश्र ने 'रचितमनिलपुत्रेण' इस पद्य के चतुर्थ चरण में 'मिश्र दामोदरेण' के स्थान पर 'मिश्रकाशीश्वरेण' पाठ दिया है और इसी पद्य की व्याख्या में नाटक के उद्धार का प्रकार बतलाते हुए लिखा है—

"शिला समुद्रे निक्षिप्ता। तत्राऽऽर-(ण्य) वासिभिर्दृष्टा च। तत्सन्तानपरम्परागतजनमुखादुदन्तं दृष्ट्वा भोजराज्ञा तत्र गत्वा मुक्ताफलोद्धारिजनवृन्दं माक्षिकमलं स्निग्धद्रव्येण संलिप्तोरस्कं मज्जयित्वा शिलामालिङ्ग्य अक्षराण्युद्धृत्य लेखितानि इति। तदेव क्रमेण ग्रथित्वा पूर्णीकृतमिति।"

इससे स्पष्ट है कि भोज ने गोताखोरों से मूल-शिलायें न निकलवाकर, उनके सीने पर माक्षिकमल (मोम) लगाकर गोते खाने की आज्ञा दी और वे गोताखोर शिला का आलिङ्गन करके बाहर निकले। सीने पर अंकित (प्रिन्ट) पाठ को पढ़कर रचना की पूर्ति की गई। इससे लिथोप्रिंट की पूर्वकल्पना का पता चलता है।

बल्लाल-रचित भोजप्रबन्ध'[1] में एक कहानी आती है– एक बार नर्मदा के एक बड़े द्रह (जलाशय) में से जाल डालने वालों ने एक शिलाखण्ड निकाला, जिस पर टूटे-फूटे अक्षर लिखे हुए थे। उन्होंने सोचा कि इस पर कुछ लिखा हुआ है, इसलिए इसे राजा के पास पहुंचा देना चाहिए। उस शिलाखण्ड को भोज के पास ले जाया गया। भोज ने कहा—पहले भगवान् हनुमान् ने श्रीमद्रामायण की रचना की थी। सुना जाता है कि वह इस द्रह में फेंकी गई है। इस शिलाखण्ड पर क्या लिखा है इसे जानने के लिये लिपिज्ञान प्राप्त करना चाहिए। अक्षरों की पहचान करने पर एक श्लोक के दो चरण पढ़ने में आये—

अयि खलु विषमः पुराकृतानां
भवति हि जन्तुषु कर्मणां विपाकः।

भोज ने इस श्लोक के पूर्वार्द्ध के दो चरणों की पूर्ति के लिए विद्वानों से कहा। भवभूति बोले—

---

१ श्रीजीवानन्द विद्यासागर संपादित १८७२ ई. संस्करण के पृष्ठ ९६-९७.

क्व नु कुलमकलङ्कमायताक्ष्याः
क्व नु रजनीचरसङ्गमापवादः ।

भोज ने इसे कठिन और ध्वनि-दोषयुक्त मानकर अपने मत में पहले चरण इस तरह सुझाये ।

क्व जनकतनया क्व रामजाया,
क्व च दशकन्धरमन्दिरे निवासः ।

भोज ने कालिदास से भी अपना मत प्रकट करने के लिए कहा । कालिदास ने श्लोक को इस तरह पूर्ण किया—

शिवशिरसि शिरांसि यानि रेजुः,
शिव शिव तानि लुठन्ति गृध्रपादे ।
अयि खलु विषमः पुरा कृतानां
भवति हि जन्तुषु कर्मणां विपाकः ।

राजा भोज ने जतु-परीक्षा से यह निश्चित हो जाने पर सन्तोष प्रकट किया कि कालिदास का श्लोक ही ठीक था ।

इस कथा से एक ओर तो हनुमान् द्वारा ग्रंथरचना किये जाने व उसके लुप्त होने का पता चलता है और साथ ही इस बात की भी पुष्टि होती है कि मूल ग्रंथ के जो खण्डित अंश प्राप्त होते थे उनकी पूर्ति कविगण अनेक प्रकार से किया करते थे । उनमें से सब से सुन्दर रूप को स्वीकार कर लिया जाता था। उनमें से सब पूर्तियां मूल के निकट ही हों, यह आवश्यक नहीं है ।

कवि के स्थान, समय आदि के विषय में इदमित्थं कहना संभव न होने पर भी आनुमानिक आधार पर ग्रंथकार और उसकी कृति की उत्तर सीमा का निर्धारण किया जा सकता है । यह बात उल्लेखनीय है कि खण्डप्रशस्ति के अनेक छन्द अनेक प्राचीन ग्रंथों में प्रयुक्त हैं या उद्धृत किये गये हैं। हनुमत्कवि की दूसरी प्रसिद्ध कृति महानाटक है। उसके १३ श्लोक खण्डप्रशस्ति से लिये गये हैं । यथा—

पद्यांश	महानाटक पृष्ठ[1]	अंक	पद्याङ्क
कल्याणानां निधानं० (पृ.[2] ८१)	६	१	८
पातु श्रीस्तनपत्रभङ्ग० (पृ. ३२)	७	१	९
क्व नु कुलमकलकमा०[3] (पृ. १६७)	२०४	५	४१

१ महानाटक के पृष्ठाङ्कादि श्रीजीवानन्द विद्यासागर-संपादित तृतीय संस्करण ई. सं. १९३९ के आधार से है ।

२ खण्डप्रशस्ति के प्रस्तुत संस्करण के पृष्ठाङ्क हैं ।

३ खण्ड०—अयि खलु विषमः०,

नृपतिमुकुटरत्न०	(पृ. १४४)	२६६	६	६१
भ्रान्त्वा दिग्वलयं०[1]	(पृ. ११९)	२७०	६	६२
वीरक्षीरसमुद्र०	(पृ. १३४)	२७१	६	६४
पातु त्रीणि जगन्ति०	(पृ. ३०)	२७२	६	६६
कूर्मः पादोऽस्य यष्टि०[2]	(पृ. १५५)	२७३	६	६७
अत्युक्तौ यदि न प्रकुप्यसि०	(पृ. १६०)	२७४	६	७०
ये मज्जन्ति जले०	(पृ. ९१)	२८४	६	८९
पातालान्न समुद्धृतो०	(पृ. ४३)	४०५	९	६६
शिवशिरसि शिरांसि० येन०	(पृ. १६६)	·२२	९	९७
अधाक्षीन्नो लङ्का०	(पृ. १५१)	४३१	९	११४

इस प्रकार दोनों कृतियों के साम्य से यह तो स्पष्ट ही है कि ये दोनों कृतियां एक ही कवि की हैं। इस खण्डप्रशस्ति और महानाटक के अनेक श्लोक संस्कृत लक्षण-ग्रन्थों में उद्धृत हैं। यथा—

काव्यप्रकाश में खण्डप्रशस्ति के ४ पद्य प्राप्त हैं— १ - 'आत्ते सीमन्तरत्ने.' (उल्लास ७ पद्य १९०), २—'क्रामन्त्यः क्षतकोमला०' (उल्लास ७ पद्य ३३८), ३—'लावण्यौकसि सत्प्रताप०' (उल्लास १० पद्य ५५३), ४—'संग्रामाङ्गणमागतेन' (उल्लास ७ पद्य २९९) और महानाटक के भी ४ पद्य प्राप्त हैं – १—असौ मरुच्चुम्बित०' (उ.७ पद्य १९०), २—'क्षुद्राः संत्रासमेते०' (उ. ४ पद्य ४०), ३—'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यरदयः'(उ. ७ पद्य १८३), ४—मूर्ध्ना मुद्वृत्तकृत्ता'० (उ. ७ पद्य १५९)।

ध्वन्यालोकलोचन के तृतीयोद्योत में खण्प्रशस्ति का 'क्रामन्त्यः क्षतकोमलाङ्गुलि० और महानाटक का 'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः०' इस प्रकार दो पद्य प्राप्त हैं।

सरस्वतीकण्ठाभरण में खण्डप्रशस्ति का एक और महानाटक के ७ पद्य प्राप्त हैं।

दशकुमारचरित में खण्डप्रशस्ति का एक पद्य प्राप्त है तो अभिज्ञानशाकुन्तल में एक, और उत्तररामचरित में महानाटक के तीन पद्य मिलते हैं। सम्भव है, हनुमत्कवि की कृतियों का संकलन करने वाले किसी कवि ने भूल से कालिदास, भवभूति, दण्डी की प्रसिद्ध कृतियों के श्लोकों को हनुमत्कवि का मान लिया हो।

इन समानताओं से इतना तो माना जा सकता है कि विक्रमाब्द ५०० से १००० तक के काल में रचित कतिपय कृतियों के कवि, हनुमत्कवि को कृतियों

---

१ खण्ड०—भ्रान्त्वा भूवलयं०

२ खण्ड०—स्थाणुः कूर्मोऽत्र यष्टि०

के कुछ अंशों से परिचित अवश्य थे। दूसरी ओर यह भी कि हनुमत्कवि की रचनाओं का उद्धार करने वाले कवि कुछ प्रसिद्ध कृतिकारों की रचनाओं को भावसाम्य के आधार पर उद्धृत कर लिया करते थे।

खण्डप्रशस्ति की भाषा बड़ी प्रौढ़ है और लालित्य की दृष्टि से कालिदास की कृतियों से समता रखती है।

महानाटक की एक विशेषता विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि उसमें स्त्री और राक्षस पात्र भी शुद्ध संस्कृत भाषा बोलते हैं। जब से नाट्यशास्त्र में स्त्री, शूद्र आदि पात्रों द्वारा संस्कृत के स्थान पर प्रायः प्राकृत आदि भाषाओं का प्रयोग करने की अनिवार्य रूप से व्यवस्था दे दी गई तब से इस नियम को अवश्यरूपेण माना जाता रहा है। इससे ऐसा अनुमान होता है कि प्राचीन परम्परा सर्वत्र संस्कृत के प्रयोग पर ही बल देती थी। प्राकृत लोकभाषाओं के प्रचलन के बाद ही इस नियम या परम्परा को बदला गया होगा। यह मान लेने पर हनुमत्कवि की रचना की प्राचीनता प्राकृत-युग के प्रारम्भ होने के पहले तक जा पहुंचती है। संभव है, गुप्तकाल में जब संस्कृत भाषा और उसके प्राचीन साहित्य का पुनरुद्धार किया गया हो तब हनुमत्कवि की ये प्राचीन कृतियां भी सामने आई हों। इस काल के थोड़े ही समय पूर्व 'कुन्दमालानाटक' में दाशरथि-राम को 'रामाभिधानो हरिः' शब्दों द्वारा स्मरण किया गया है। राम के अवतारी पुरुष के रूप की कल्पना का काल भी यही रहा होगा। संभव है, हनुमत्कवि के काव्य ने इस तरह की भावना के विकास में योग दिया हो। इस अज्ञात कवि की प्राचीन कृति की प्राप्ति की बात स्वीकार कर लेने पर इस तरह के अनुमान असंगत प्रतीत नहीं होते।

अवतार

'अवतार' शब्द का अर्थ है उतरना। "जितने भी उत्कृष्ट मानवीय गुण हो सकते हैं, उनका चरमोत्कर्ष ही ईश्वर का ईश्वरत्व या ऐश्वर्य होता है। उस ऐश्वर्य की एकदेशीय छाया किसी सत्त्व में दिखाई पड़े तो वह अवतार-संज्ञा से अभिहित किया जाता है[1]।" इस मान्यता के अनुसार उत्कृष्ट गुणों में से कतिपय का सत्त्व-विशेष में अवतरण होता है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि उस सत्त्व में कतिपय ईश्वरीय गुणों का चरम उत्कर्ष देखने को मिलता है।

'लोक में उतारना या उतरना, क्रियाओं के अर्थ प्रकट करना या कराना, निर्माण करना या कराना, प्रकाशित करना या कराना आदि भी होते हैं[2]।" ब्रह्म की चेतनाधर्मिता प्रकृति का सहारा लेकर संसार में प्रकट होती है इसी का नाम

---

१ डा० बद्रीप्रसाद पंचोली—'लोकधर्म' शीर्षक निबन्ध।
२ डा० बद्रीप्रसाद पंचोली—'लोकधर्म' शीर्षक निबन्ध।

अवतार है। ब्रह्म सच्चिदानन्द-स्वरूप होता है। उसका सत् रूप प्रकृति के उपादानों में आनन्दरूप शरीरस्थ आत्मा में और चित् रूप सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त होकर अखण्ड चेतना के रूप में प्रकट होता है। यह प्रकटीकरण या प्रकाशन की क्रिया ही अवतार कही जा सकती है।

श्रीनागेश्वर द्विवेदी के मत में दशावतार का वर्णन भौतिक दृष्टि से जीवन का क्रमिक विकास है।[१] ब्रह्म निर्गुण, निराकार होते हुए भी 'एकोऽहं बहु स्याम:' की भावना से एक से अनेक होता है। उसका भौतिक स्वरूप पञ्च तत्वों के रूप में क्रमश: विकसित होता है। वह सर्वप्रथम शब्दगुण से युक्त होकर आकाश-तत्व के रूप में प्रकट हुआ। आकाशतत्व अपने स्वरूप में बना रहा; पर विकसित अपने गुण शब्द को धारण करते हुए, दूसरे गुण स्पर्श के साथ वायुरूप में प्रकट होता है। इसी प्रकार शब्द, स्पर्श, रूप के साथ चौथे गुण रस को भी धारण करने वाले जल तत्व का आविर्भाव होता है। अन्त में पाँचवाँ तत्व पृथ्वी, अपने विशेष गुण गन्ध के साथ इस सृष्टि में अवतरित होता है।[२]

श्रीद्विवेदी, मानसिक चेतना के विकास से भी अवतारवाद का संबन्ध स्थापित करते हैं। उनका कहना है कि पृथ्वी पर जीव का विकास जिस क्रम से हुआ उसी को प्रतीकात्मक भाषा में अवतारवाद के रूप में पुराणों में प्रस्तुत किया गया है। प्रारंभिक अवस्था में शारीरिक या प्राकृतिक विकास का क्रम चला। आगे मानसिक विकास चला। भगवान् बुद्ध पूर्ण मानवावतार माने जा सकते हैं। इस प्रकार ये अवतार जीवन के क्रमिक विकास के प्रमुख प्रतीक हैं।[३]

श्रीद्विवेदी ने एक नई दृष्टि भी प्रस्तुत की है। उनके अनुसार अहिंसा-धर्म के क्रमिक विकास का हमें दशावतार के रूप में दर्शन होता है।[४] मत्स्य-गलागल (तिमिंगल) न्याय से समाज किस प्रकार पूर्ण अहिंसात्मक स्थिति तक पहुंचा—इसे इन अवतारों द्वारा समझा जा सकता है।

वस्तुत: अवतारवाद का विचार भारतीय मनीषियों ने पिण्ड और ब्रह्माण्ड की समानान्तर स्थिति में एक साथ किया है और चिन्तन की अन्य धाराओं को तरह इस विषय में भी भारतीय चिन्तकों का मूल प्रेरणा-स्रोत 'यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे' रहा है। पिण्ड के विकास की प्रक्रिया से भारतीय लोकमानस सुपरिचित रहा है। दशावतार के माध्यम से उसी प्रक्रिया का विवरण पुराणों में मिलता है। ब्रह्माण्ड का विकास व्यक्ति के लिये परोक्ष का विषय रहा है। परोक्ष का सम्बन्ध भारतीय मान्यतानुसार देवों से है। 'परोक्षप्रिया हि देवा:' उक्ति के अनुसार यह माना जा सकता है कि सामान्य जानकारी से परोक्ष में होने वाली

---

१ दशावतार : एक नई दृष्टि-लेख, कादम्बिनी, जनवरी १९७३

२ उपर्युक्त पृ. ४३

३ उपर्युक्त पृ. ४४

४ उपर्युक्त पृ. ४५

क्रियाऐं देवमण्डल द्वारा संचालित होती हैं। पिण्ड का विकास जिस क्रम के अनुसार हो रहा है उसी क्रम के अनुसार इस देव-संचालित विश्व का भी हो रहा है। लोक की कल्पना के अनुसार बीजरूपी ब्रह्म ही मीन है। उसका गर्भाशय में पनपना ही मत्स्यावतार है। जब गर्भाशय में बीज पिण्ड का रूप धारण कर लेता है तो वह कच्छप हो जाता है। समुद्र-मन्थन में कच्छप का योग प्रसिद्ध है। चार अन्तःकरण पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय ही १४ रत्न हैं। हिरण्याक्ष को मार कर पृथ्वी का उद्धार करने वाला वराह गर्भबन्धन से अलग होकर जीवन धारण करने वाला जीव है। मल-मूत्र में पलने से ही उसको शूकर कहा जाता है। बुद्धि-सम्पन्न बालक ही नृसिंह है। वामन लड़कपने की अवस्था का द्योतक है। ब्रह्मचर्य द्वारा भोगों की मनोवृत्ति को परास्त करने की अवस्था परशुराम संज्ञा द्वारा मानी जाती है। इन्द्रियों को सुख देने वाली गार्हस्थ्य अवस्था को रामावतार कहा जाता है। वानप्रस्थ जीवन में संयत भोग और प्रकट योग की अवस्था होती है; इसी का नाम कृष्णावतार है। बुद्धावतार सन्यास अवस्था से सम्बद्ध है। कल्कि सम्भवतः इस जीवन के अन्त के समय नये जीवन के धारण की स्थिति का नाम है। चौबीस अवतारों की कल्पना भी लोक-मान्यता के अनुसार शारीरिक-विकास से ही सम्बन्ध रखती है।

पिण्ड की तरह विकास की समानान्तर प्रक्रिया ब्रह्माण्ड में चलती रहती है। दैवी-सृष्टि की परम्परा का विश्लेषण करने पर इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि ब्रह्माण्ड की वैष्णवी-शक्ति जिन-जिन रूप-व्यापारों के माध्यम से सृष्टि के रूप में परिवर्तित होती है उन्हीं व्यापारों को अवतार कहा गया है।

डा० फतहसिंह ने अपने बहुमूल्य ग्रन्थ 'भारतीय समाज शास्त्र' 'मूलाधार में उपर्युक्त वैष्णवी-शक्ति का समाजशास्त्रीय विवेचन करते हुए यह मत प्रकट किया है कि समाज की समष्टिगत चेतना जब व्यक्ति में उभरती है तो सामान्यजन उस शक्ति को अवतार कहा करते हैं। विविध मन्वन्तरों की अवस्था का भी डा. फतहसिंह ने समाजशास्त्रीय विवेचन किया है। उनका मत है कि समाज में पिण्ड और ब्रह्माण्ड की तरह ही व्यष्टि और समष्टि के स्तर पर एक यज्ञ चल रहा है। विष्णु इस यज्ञ के अधिष्ठातृ देव हैं अर्थात् समाज में व्याप्त सामाजिकचेतना ही विष्णु है जो दोनों स्तरों पर इस यज्ञ की व्यवस्था करती है। यजन, जयन और भजन के क्रम से समाज और व्यक्ति का जीवन चला करता है। सामान्य व्यक्ति भी यज्ञमय जीवन बनाकर भगवत्ता का अधिष्ठान बन सकता है और इस क्रम में उसके जीवन में जो परिवर्तन होते हैं उन्हें सामाजिकचेतना के व्यक्ति में अवतरण के क्रम के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

अवतारवाद सम्बन्धी इन विचारों को बौद्धिक स्तर पर ही विश्लेषण का विषय बनाया जा सकता है। हृदय के स्तर पर भावुक भक्त विष्णु को विश्वव्यापी संसार की स्थिति को सुरक्षित रखने वाली दिव्यसत्ता के रूप में मानता है और उसके अवतार की स्थिति जहाँ कहीं देखता है वहीं नमन करता है। हनुमत्कवि एक भावुक भक्त के रूप में ही हमारे सामने आते हैं। पौराणिक कल्पना के अनुसार विष्णु के जिन-जिन प्रसिद्ध नामों से अवतार होने की बातें स्वीकार की गई है, उन सब नामों और स्वरूपों की स्तुति उन्होंने की है। वे उस भगवती-चेतना को विष्णु के स्थान पर राम नाम से सम्बोधित करते हैं। राम वह है जो सब में रमा हुआ हो और जिसमें सब रमे हुए हों। इस अर्थ में यह नाम 'सर्वत्र व्याप्त' अर्थ में प्रयुक्त 'विष्णु' शब्द का समानार्थक है। इसलिए 'राम' नाम के हरि को ही हनुमत्कवि ने अपनी स्तुति का सम्बोध्य बनाया है।

खण्डप्रशस्ति का काव्य सौष्ठव

'खण्डप्रशस्ति' अत्यन्त मधुर और प्रभावशाली रचना है। यदि इसके नामकरण के मूल में 'खण्डमिव प्रशस्तिः' कारण को स्वीकार कर लिया जाय तो कहा जा सकता है कि यह रचना मिश्री के समान मीठी है। यदि संकलन-कर्त्ता का उद्देश्य अनेक कवियों के प्रशस्ति-परक श्लोंको को संकलित करना रहा हो, तो भी निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि उसका परिश्रम सार्थक हुआ है। सभी श्लोक सुन्दर और प्रभावशाली हैं। यदि यह माना जाय कि हनुमत्कवि के प्राचीन काव्य के उपलब्ध संकेतों के आधार पर अन्य कवियों ने इन श्लोकों की पूर्ति की है तो यह निश्चित है कि अनेक कवियों ने श्लोक-पूर्ति में जो श्रम किया होगा उसमें से सर्वसम्मत पाठ श्रम की देन ही हमारे सामने है। विद्वानों ने सबसे सुन्दर, मार्मिक और प्रभावशाली पूर्ति को ही सही मान कर खण्डप्रशस्ति के रूप में सुरक्षित रखा है। कुछ भी हो, परिश्रम एक कवि का रहा हो या अनेक कवियों का, खण्डप्रशस्ति का एक-एक श्लोक प्रभावप्रेषणीयता और मधुरता में दूसरे को चुनौती देता हुआ प्रतीत होता है। क्या शब्द सौष्ठव, क्या अलंकार प्रयोग, क्या पदमैत्री और क्या वाक्यविन्यास—सभी दृष्टियों से खण्डप्रशस्ति अनुपम रचना है।

मीनरूपधारी राम या विष्णु की प्रशस्ति का प्रथम श्लोक है :—

वियत्पुच्छातुच्छोच्छलितजलगर्भे निधिरपा—
मपां नाथः पाथः पृथुललवदुःस्थो वियदभूत्।
निधिर्भासामौर्वो दिनपतिरभूदौर्वदहन—
श्चलत्काये यस्मिन् स जयति हरिर्मीनवपुषा ॥१॥

इसमें अनुप्रास की छटा द्रष्टव्य है। मीनरूपधारी हरि की गति से आकाश का समुद्र रूप में परिवर्तन और समुद्र का पुनः आकाश रूप में परिवर्तन, इसी तरह सूर्य का बडवानल के रूप में परिवर्तन और वडवानल का सूर्यवत् प्रतीत होना—कितनी स्वाभाविक और अछूती कल्पना है। ऐसा ज्ञात होता है कि जैसे हरि की गति की प्रतीति कराने के लिये शिखरिणी छन्द भी तीव्र गति से दौड़ रहा है। पदमैत्री की प्रशंसा में जो कुछ कहा जाय वह कम है।

इसके आगे का छन्द थोड़ा बड़ा हो गया है—स्रग्धरा। अवगति से अधिक मीन के पूंछ की विशालता और क्रियाशीलता की प्रतीति कराती है, इसीलिए छन्द की भी काया बड़ी हो गई। सूर्य-चन्द्ररूपी विशाल नेत्रों वाला महामत्स्य अपनी बड़ी पूंछ उठाकर जैसे आकाश की कालिमा को धो रहा हो, देवाङ्गनाओं के नेत्रों में और अधिक कौतूहल जगाता हुआ। एक और अभिनव कल्पना! देदीप्यमान कालाग्नि रूपी जिह्वा है इस मत्स्य के। सारा विश्व तो जैसे इसके गले में ही समा गया है। (श्लोक सं. २)

मत्स्य की पूंछ की फटकार से उछले हुए जल से आकाश में सैकड़ों चन्द्रमा उदित हो गये हों—ऐसा लगता है। साथ ही जब जल लौट कर गिरता है तो, वडवानल जटाओं वाले तपस्वी का रूप धारण कर लेता है। यह मत्स्य भक्तों को निःश्रेयस् रूपी सम्पत्ति प्रदान करता है। (श्लोक सं. ४)

कवि, राम का प्रणत भक्त है। राम की प्रशस्ति में ही उसका मन सब से अधिक रमा है। रामावतार की प्रशस्ति में १११ श्लोक मिलते हैं जब कि अन्य सब अवतारों की स्तुति इसके आधे से कुछ ही अधिक श्लोकों में की गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि के सामने पूर्ण पुरुष की कल्पना के रूप में राम ही थे। उनके अन्य रूप समाज की आवश्यकता थी उस सीमा तक पूर्ति नहीं कर सकते थे जिस सीमा तक राम कर सके। तुलसी के सामने भी सामाजिक मर्यादा को प्रतिष्ठित और सुरक्षित रखने की समस्या थी जिसके लिए उन्हें राम से अधिक उपयुक्त चरित-नायक नहीं मिला। लीला-पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण से भी वे मांग करते थे:—

तुलसी मस्तक तब नवे, धनुष बाण लो हाथ।

हमारे कवि ने भी राम के नाम को कल्याणों का निधान, पवित्रों में भी पवित्र, मोक्षकामियों के लिये पाथेय, सज्जनों का जीवन, धर्मद्रुम का बीज और कवियों को वाणी का एक-मात्र विश्राम-स्थान कहा है:—

कल्याणानां निधानं कलिमलमथनं पावनं पावनानां,
पाथेयं यन्मुमुक्षोः सपदि परपदप्राप्तये प्रस्थितस्य।
विश्रामस्थानमेकं कविवरवचसां जीवनं सज्जनानां,
बीजं धर्मद्रुमस्य प्रभवतु भवतां भूतये राम नाम॥

इन उद्देश्यों की सिद्धि करने वाले राम के अन्य रूपों को कवि ने एक सीमा तक ही प्रशस्ति का विषय बनाया है, पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कवि की काव्य-प्रतिभा को अभिव्यक्त होने का अन्यत्र अवसर न मिला हो। कवि के मत में राम ही युग-युग में अलग-अलग नामों से अवतार लेते हैं। विश्वव्यापिनी विष्णु संज्ञक शक्ति को ही राम कहा गया है और विष्णु के सभी अवतारों की अत्यन्त भावविभोर होकर कवि ने स्तुति की है।

कवि की यह प्रशस्ति उसी परम्परा में आती है जिसमें जयकाव्य के रूप में पुराणों की सृष्टि हुई है। इस परम्परा का उद्देश्य मानवता की जय और आसुरी प्रवृत्तियों का विनाश होता है। विष्णु के सभी अवतारों का सम्बन्ध असुर-विनाश से है। जब भी भागवत-चेतना जागती है तभी आसुरी शक्तियां तिरोहित हो जाती हैं। हमारे कवि ने इसी भावना से प्रशस्तिगान किया है। कवि जय-कामना से हरि की स्तुति कर रहा है, इसलिए अपने इष्टदेव का जय-जयकार करता है। आदि से अन्त तक सम्पूर्ण कृति में भावुक भक्त के उद्गार देखे जा सकते हैं। कवि के अनुसार हरि ने युग-युग में विभिन्न रूप बनाकर हमको संसार-सागर से पार उतारने के लिये अवतार लिये हैं:—

अस्माकं स विभूतयेऽस्तु भगवान् सेतुर्भवाम्भोनिधा-
वुत्ताराय युगे युगे युगपतिस्त्रैलोक्यनाथो हरिः।

इन सभी अवतारों की स्तुति करते हुए मानव मात्र के लिये सत्य की विजय की कामना करना हमारे कवि के कविकर्म का उद्देश्य रहा है।

खण्डप्रशस्ति की टीकाएँ

इस लघुकाव्य का प्रचार पठन-पाठन अधिक रहा प्रतीत होता है। यही कारण है कि प्रत्येक विशाल संग्रहालयों में इसकी २, ४, १० तक प्रतियां प्राप्त होती हैं। इस खण्डकाव्य पर कई प्रसिद्ध विद्वानों की वैदुष्यपूर्ण टीकाएँ प्राप्त होती हैं। अद्यावधि प्राप्त साधनों के आधार पर निम्नलिखित टीकाएँ उपलब्ध होती हैं:—

१ पञ्जिका. कीकाभट्ट (प्रस्तुत संस्करण में मुद्रित)
२. सुबोधिका. गुणविनय (प्रस्तुत संस्करण में मुद्रित)
३. तिलक व्याख्या, गङ्गदास इसकी एक प्रति ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट,बड़ौदा के संग्रहालय में है जिसका क्रमांक १०६१७ है और इस प्रति के बारह पत्र हैं। 'अल्फाबेटिकल लिस्ट ऑफ मेन्युस्क्रिप्ट्स इन दी ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट बड़ौदा भाग २ पृ. ८९७ पर लिखा है कि इस टीका की रचना सं. १७०९ में हुई है। गंगादास पूर्वाश्रम का नाम है और इनको सन्यासावस्था का नाम ज्ञानानन्द है। राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान जोधपुर के संग्रह में भी इसकी एक प्रति प्राप्त है, किन्तु वह अपूर्ण है। टीकाकाररचित प्रारम्भिक मंगलाचरण भी नहीं

है और न अन्तिम प्रशस्ति ही। प्रतिलिपिकार ने अन्त में 'इति श्रीरामकीर्तिः सम्पूर्णा' अवश्य लिखा है, किन्तु रामावतार के कुछ पद्य और अवशिष्ट तीनों अवतारों के पद्य नहीं है। अतः इसे अपूर्ण ही माना जा सकता है। केवल मत्स्यावतार के अन्त में पुष्पिका प्राप्त होती है "इति वेदपुरःसरव्याकरण-व्याख्यातृचक्रवर्तिभट्टाचार्य वीयातनव्यवरेण श्रीगङ्गदासेन विरचिते व्याख्या-तिलके मत्स्यावतारवर्णनं सम्पूर्णम्।" इस प्रति का ग्रन्थाङ्क १९८४५ है और पत्र संख्या १४ है। थियोडोर ऑफरेट के केटलोगस केटलोग्रम के अनुसार बॉडलिन लायब्रेरी (जर्मनी) में १२९A पर प्राप्त है।

४. टीका, रघुनाथ —केटलॉगस केटलोग्रम के अनुसार राजेन्द्रलाल मित्र कलकत्ता द्वारा संगृहीत व सम्पादित 'संस्कृत ग्रन्थों का विवरणात्मक सूची-पत्र, कलकत्ता, १८७१-९० में क्रमांक ७९८ पर उल्लेख प्राप्त है।

५. अवचूरि, सोमेश्वर —र. सं. १८८९—इसकी एक मात्र प्रति सिन्धिया ओरियन्टल, इन्स्टीट्यूट, उज्जेन (म. प्र.) में प्राप्त है। क्रमांक ९८५४ है, पत्र संख्या ११ हैं और लेखनकाल १९ वीं शती का अन्तिम चरण है। इस अवचूरि की आद्यन्त-पुष्पिका इस प्रकार हैः—

आदि—शिवदं शिवगुरुचरणं नत्वा श्रीरामदूतरचितस्य।
खण्डप्रशस्तिनाम्नष्टीकां संक्षेपतः कुर्वे॥
अन्तिम—इत्थं गभीरार्थपदप्रकर्षा, खण्डप्रशस्तेरवचूरिरेषा।
मया महेशस्य गुरोः प्रसादमासाद्य सद्यो नियमायि यत्नात्॥१॥
व्याख्यातामपि हि पुरातनैः प्रशस्ति, विद्वद्भिर्विततपदप्रबन्धभारैः।
व्याख्या तु पुनरपि मे नयो ऽनयो वा, विज्ञेयो विशदा हृदा सुधीधनेन्द्रैः॥२॥
गम्भीरगूढार्थपदप्रबोध संक्षिप्तसर्वार्थसमर्थनार्था।
मुदे विदामेव सदा मदीया, व्याख्यापि जागर्त्ति विदग्धबोधा॥३॥
निगमशरमुनिक्ष्मासम्मिते (१७५४) शालिवाहा—(द्)
द्रुतवति शककाले निर्मले शुक्रमासे।
प्रतिपदि शशिपुत्रे सोमनाथः समाप्तिं,
समनयत सुटीकामत्र खण्डप्रशस्तेः॥४॥
इति श्रीकविसोमेश्वरविरचिता खण्डप्रशस्तिव्याख्या।

६. भाषा-पञ्जिका—अज्ञातकर्तृक, यह भाषापंजिका वर्तमान समय में अद्यावधि अनुपलब्ध है। कीका और गुणविनय इन दोनों टीकाकारों के सम्मुख यह मौजूद अवश्य थी। कीका ने "मूलेऽनुपलब्धाः क्वचिद् भाषापञ्जिकायामुपल-भ्यमानाः श्लोकाः विलिख्य व्याक्रियन्ते" (पृ. १४६) लिखकर १० पद्य उद्धृत किये हैं। पृ. २८ 'नमस्कुर्मः कूर्मः' श्लोक की व्याख्या करते हुए कीका ने लिखा है कि—"अत्र दरी-गुफेति व्याकृतवता भाषावादिना जरद्गवेन व्याकरणेप्याति-

विज्ञान्यं व्यदर्शि ।" गुणविनय ने इसे पाठभेद मानते हुए लिखा है—"वृत्यन्तरे तु दरीजृम्भङ्डिम्भेति पाठस्तत्र दर्या॑-गुहायां जृम्भनुदयं कुर्वन् ।"

कीका ने पृ. ६८ पर 'स्वस्तीत्यादिना पद्यत्रयं मूले अदृश्यमानमपि टीकाकारेण तं धृतम्' और गुणविनय ने 'पूर्ववृत्तिकृता तु' पृ. ४६, ४९ 'पूर्ववृत्तिकृदेवं व्याचष्टे' पृ. ६४; और 'पूर्ववृत्तिव्याख्या त्वेवम्' पृ. ६७ पर, जो पूर्ववर्ती टीकाकार के मन्तव्य दिये हैं, वे भाषापञ्जिका' से ही सम्बद्ध हैं या किसी अज्ञातकर्तृक टीका से निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता । वस्तुतः यदि यह अज्ञातकर्तृक टीका है तो यह टीका अभी अप्राप्त है ।

थियोडोर ऑफरेट ने जयसोमगणि कृत टीका का भी उल्लेख किया है, वह वस्तुतः भ्रमजन्य है । जयसोमगणि गुणविनय के गुरु हैं । गुणविनय की टीका प्राप्त है, जयसोम की कोई टीका प्राप्त नहीं है ।

टीकाकार कीका और गुणविनय

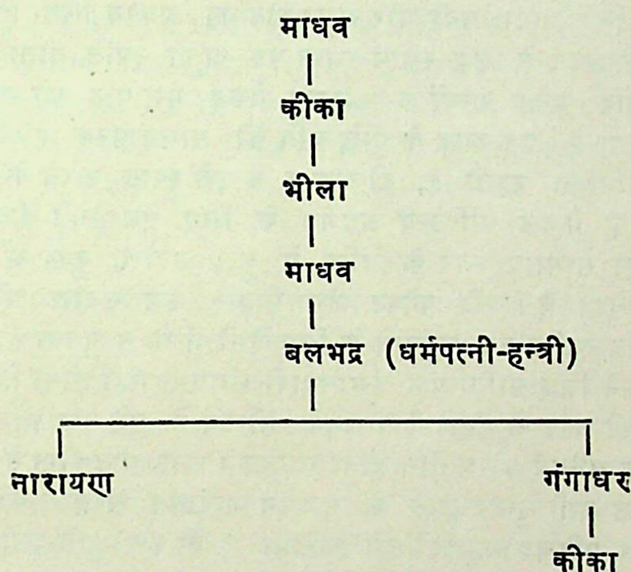
कवि में कारयित्री प्रतिभा होती है तो समीक्षक में भावयित्री प्रतिभा होती है । टीकाकार समीक्षक होता है जो गहराई तक पैठकर काव्य में अन्तर्निहित भावों को उद्घाटित करता है, कृति की व्याख्या करता है और उस पर निर्णय देता है । 'खण्डप्रशस्ति' के टीकाकार कीका पण्डित और गुणविनय ने निश्चय ही इस महत्वपूर्ण कृति की सुष्ठु व्याख्या करके समीक्षक के कर्त्तव्य को भलीभांति निभाया है ।

कवि सहृदय के सामने ही अपनी सुन्दर कृति को प्रस्तुत करता है । सहृदय के अतिरिक्त न तो उस सौन्दर्य का मूल्यांकन ही कर सकते हैं और न उसमें निगूढ भावों का विश्लेषण ही कर सकते हैं । इसके साथ यह बात भी सत्य है कि उच्चकोटि की भावयित्री प्रतिभा से सम्पन्न समीक्षक साहित्य-जगत् में कवि की पैठ जमाता है—उसका स्थान निर्धारित करता है । ऐसा समीक्षक न मिलने पर उच्चकोटि के कवि भी वन्य-कुसुमों की तरह उपेक्षा के शिकार हो जाते हैं । यह हमारे आलोच्य हनुमत्कवि के लिये तो अच्छा हो रहा । सहृदय पाठकों के लिये भी सौभाग्य का विषय माना जाना चाहिए कि कीका जैसे शास्त्र-मर्मज्ञ पण्डित इस कृति के टीकाकार हुए जिन्होंने सारी कृति का भाव-विश्लेषण बड़े ही मनोयोग से किया । जो भावना के क्षेत्र में शास्त्रज्ञान का अतिक्रमण उचित नहीं मानते ऐसे लोगों के लिये गुणविनय की सरल टीका है । दोनों ही टीकाओं का अपना महत्त्व है ।

पञ्जीकार कीका

'पञ्जी' की आद्यन्त-प्रशस्तियों में कीका ने अपना परिचय देते हुए लिखा है—गूर्जर (गुजरात) प्रदेश में त्रिभुवनकमनीय 'नगर' (वडनगर) में सिन्धु-

पर्यन्त भूमण्डल में विश्रुत कीर्त्ति वाला **महादेव** नामक विप्रश्रेष्ठ रहता था। उसके परिपक्वावस्था में 'कीका' नामक पुत्र हुआ जो अठारह विद्याओं का पारगामी था। कीका का पुत्र 'भीला' हुआ। भीला का पुत्र योगनिष्ठ माधव हुआ। माधव का पुत्र बलभद्र हुआ, जो सर्व विद्याओं में पारंगत था और ब्रह्मामृतस्वादग्रहण का लोलुपचित्तवाला होने से उसने काशीवास स्वीकार कर लिया था। मुरारि की लक्ष्मी एवं पुरारि की अम्बिका के समान, उज्जवल गुणवाली 'हन्त्री' नामक बलभद्र की धर्मपत्नी थी। बलभद्र के दो पुत्र हुए—१ नारायण ज्येष्ठ पुत्र और २ कनिष्ठ पुत्र गंगाधर। गंगाधर का पुत्र मैं (कीका) हूँ जिसने महादेव के प्रसाद से स्ववंश्यधन और वाग्वैभव को प्राप्त करके इस 'पञ्जी' विवृत्ति की रचना की है। इस प्रशस्ति के आधार से कीका का वंशवृक्ष इस प्रकार है:—



इस प्रशस्ति में कीका ने अपने वंश का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु अधिकतया संभावना यही है कि इनके पूर्वज 'नगर' निवासी होने के कारण नागर जाति के ब्राह्मण ही कहलाये हों। इस प्रशस्ति में सब से अधिक खटकने वाली कमी यह है कि कवि ने टीका का रचनाकाल नहीं दिया है इससे कीका का समय निश्चित रूप से निर्धारित नहीं किया जा सकता। प्रतिष्ठान में इस टीका की प्रति वि. सं. १६४५ की होने के कारण यह तो निश्चित है कि १६४५ के पूर्व ही इस टीका की रचना हुई है। गुणविनय की सुबोधिनी की रचना सं. १६४१ में हुई है। सुबोधिकाकार ने 'पूर्ववृत्तिकृता तु' पृः २३,५८; पूर्ववृत्तिव्याख्या पृ. ३५, केचित्त्वेवं व्याचक्षते पृ. ४५; पूर्ववृत्तिकृदेवं व्याख्याति

पृ. ५५; पर जो पूर्ववर्ती' टीकाकार के मन्तव्य दिये हैं उससे स्पष्ट है कि गुणविनय के सम्मुख कीका की 'पञ्जी' भी अवश्य ही रही है। अतः पञ्जी की रचना १६४१ के पूर्व ही हुई है। अतः आनुमानिक रूप से कीका का समय कम से कम १७ वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध तो माना ही जा सकता है।

खण्डप्रशस्ति-टीका के अतिरिक्त कीका एवं कीका के पूर्वजों द्वारा रचित किसी ग्रन्थ-विशेष का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है, किन्तु पञ्जीगत उद्धरणों को देखते हुए यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि कीका, उस समय का एक प्रमुख धुरन्धर विद्वान् था और इसका वेद, वेदाङ्ग, स्मृति, पुराणेतिहास, वेदान्त, दर्शन, व्याकरण, काव्य, कोष, छन्द, लक्षणादिशास्त्रों में पूर्णाधिकार था। अर्थात् कीका एकदेशीय विद्वान् न होकर बहुश्रुतज्ञ था।

प्रस्तुत पञ्जी, खण्डान्वयशैली की स्पष्ट एवं विशद टीका है। कीका ने जहां शब्दसिद्धि के लिये अष्टाध्यायी और अमरकोष का आश्रय लिया है वहां विषय-गरिमा के प्रतिपादन के लिये स्थान-स्थान पर श्रुति, स्मृति, गीता ब्रह्मसूत्र और योगशास्त्र आदि अनेक ग्रन्थों के उद्धरण देकर मूल पाठ की भावगरिमा का विश्लेषण किया है। एक शब्द के पीछे कवि की साधनापरक दृष्टि से जो सूक्ष्म भावना अन्तर्निहित रहती है, टीकाकार ने उसे स्पष्ट करने के लिए ही यह शैली अपनाई है केवल पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए ऐसा नहीं किया है। कवि निश्चित रूपेण सामान्य स्तर के व्यक्ति से कुछ उदात्त, कुछ श्रेष्ठ और कुछ अधिक ही सोचता है। यदि कीका जैसा विद्वान् उस उदात्त और श्रेष्ठ को सामान्य सहृदय व्यक्ति तक पहुंचाने के लिए ऐसी शैली न चुनता तो निश्चय ही यह उसके अपने लिए साहित्यिक ईमानदारी की बात नहीं होती। सुन्दर रचना तो एक पुष्प की तरह से होती है। उसके सौन्दर्य से पूरे वृक्ष का—उसके सभी अंग उपांगों के सौन्दर्य की प्रतीति होनी चाहिए। इसी दृष्टिकोण से पडित कीका ने खण्डप्रशस्ति जैसी सुन्दर कृति के माध्यम भारतोय संस्कृति की उन उदात्त मान्यताओं का परिचय सहृदयों को कराया है जो इन स्तुति-श्लोकों के शब्द-शब्द से झलकती है।

सुबोधिकाकार गुणविनय

सुबोधिका टीका के रचयिता श्री गुणविनयोपाध्याय १७ वीं शती के अप्रतिम उद्भट विद्वान् थे। ये जैन श्वेताम्बर खरतरगच्छ की प्रसिद्ध क्षेमकीर्ति शाखा में महोपाध्याय श्री जयसोम गणि के शिष्यरत्न हैं। गुणविनय के नाम में युगप्रधान श्री जिनचन्द्रसूरि स्थापित 'विनय' नंदी को देखते हुये इनका दीक्षा-समय वि. सं. १६२०-१६२१ के आस पास का संभव है। दीक्षा के समय इनकी अवस्था कम से कम ८-९ वर्ष की स्वीकार की जाय तो इनका जन्म समय अनुमानतः वि. सं. १६१२-१३ के लगभग मान सकते हैं। इनके भाषा ग्रंथों को

दृष्टि से इन्हें राजस्थान प्रदेश का मानना अधिक समीचीन है। इनके विद्यागुरु भी श्री जयसोम ही थे। नेमिदूतम् टीका (र. सं. १६४४) की प्रशस्ति में स्वयं के लिये 'गणि' शब्द का प्रयोग होने से निश्चित है कि सं. १६४१ से १६४४ के मध्य में इन्हें गणिपद प्राप्त हो चुका था। सम्राट् अकबर के आमन्त्रण पर युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि जब वि. सं. १६४८ में लाहोर गये थे उस समय इन्हें भी वे साथ ले गये थे। सं. १६४६ फाल्गुन कृष्णा १० को लाहोर में युगप्रधान पद-महोत्सव के समय सम्राट् अकबर की उपस्थिति में युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि ने स्वकरकमलों से समयसुन्दर गणि के साथ इन्हें वाचनाचार्य-पद प्रदान किया था। स्वयं के लिये उपाध्याय-पद का प्रयोग सर्वप्रथम १६६३ में स्वरचित शत्रुंजयतीर्थ स्तवन में प्राप्त होता है; अतः यह निश्चित है कि सं. १६६३ के पूर्व ही श्री जिनचन्द्रसूरि ने इन्हें उपाध्याय-पद प्रदान कर दिया था। गुणविनय के शिष्य मतिकीर्ति के 'निर्युक्ति स्थापना' ग्रन्थ के अनुसार सम्राट् जहांगीर ने इन्हें 'कविराज' पद प्रदान किया था। स्वरचित स्तवन साहित्य के आलोक में इनका विचरण-प्रवास-क्षेत्र सिन्ध, पंजाब, उत्तरप्रदेश, राजस्थान और गुजरात हैं; जिसमें विशेषकर राजस्थान क्षेत्र रहा है। गुणविनय की संवतोल्लेख वाली कृतियों में सं. १६७६ के पश्चात् की (प्राप्त साहित्य में) कोई कृति प्राप्त नहीं है। अतः अनुमान किया जा सकता है कि वि. सं. १६७६ के पश्चात् २-४ वर्षों में ही इनका स्वर्गवास हो गया हो।

गुणविनयोपाध्याय रचित साहित्य के अवलोकन से स्पष्ट है कि ये जैनागम, जैनसाहित्य, व्याकरण, साहित्य, कोष और लक्षणशास्त्र के धुरन्धर एवं अद्वितीय विद्वान् थे। गच्छ और सामाचारी की चर्चाओं के प्रसंग में वादीभपञ्चानन की तरह प्रामाणिक एवं तर्कपूर्ण सचोट उत्तर देने में भी ये सिद्धहस्त थे। प्राकृत, संस्कृत एवं राजस्थानी भाषा पर इनका पूर्ण अधिकार था। इनके रचित ग्रन्थों के उल्लेखानुसार इनका साहित्य-सर्जन काल १६४१ से १६७६ के मध्य का है। इस काल में इनके द्वारा प्रणीत साहित्य विपुल परिमाण में आज भी प्राप्त है। प्राप्त साहित्य को हम ७ विभागों में बांट सकते हैं:—

१. संग्रह ग्रन्थ — विचार रत्न संग्रह अपर नाम हुंडिका

२. अनेकार्थ साहित्य—सव्वत्थशब्दार्थ समुच्चय

३. संस्कृत टीकाएं— खण्डप्रशस्ति, नेमिदूत,[1] दमयन्तीकथाचम्पू,[2] रघुवंश,

---

१. मेरे द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हो चुकी है। २. दमयन्ती कथाचम्पू सारस्वत-टीका की पाठान्तर, परिशिष्ट एवं विस्तृत भूमिका के साथ सम्पादित प्रेस कॉपी मेरे पास तैयार है।

वैराग्यशतक, सम्बोधसप्तति, कर्मचन्द्रवंशोत्कीर्त्तन आदि १३ तेरह ग्रन्थों पर टीकाएँ

४. राजस्थानी गद्य में बालावबोध—बृहत्संग्रहणी, कल्पसूत्र, आदिनाथ-स्तव, णमोत्थुणं, जयतिहुअणस्तोत्र आदि ७ ग्रन्थों पर राजस्थानी गद्य में बालावबोध

५. राजस्थानी पद्य— रासादि संज्ञक रचनाएँ—कयवन्ना संधि, कर्मचन्द्र-वंशावली रास, अंजनासुन्दरी प्रबन्ध, ऋषिदत्ता चौपई, गुणसुन्दरी चतुष्पदी, जम्बूस्वामी चौपई, कलावती चौपई, धन्ना शालिभद्र चौपई, नलदमयन्ती प्रबन्ध आदि १५ रास-चौपाइयां ।

६. खण्डनात्मक साहित्य—उत्सूत्रोद्घाटनकुलक खंडन, प्रश्नोत्तरमालिका, लुम्पकमततमोदिनकर चौपई, अंचलमत स्वरूप वर्णन, एकपञ्चाशद्विचार सार चतुष्पदी, ५ रचनाएँ ।

७. स्तोत्र स्तवन स्वाध्यायादि स्फुट साहित्य—तीर्थंकर, गणधर, गुरुदेव, महामुनि आदि के संस्कृत और राजस्थानी भाषा में स्तोत्र स्तवन, स्वाध्याय एवं औपदेशिक गीत आदि १०८ संख्या में प्राप्त हैं ।

खण्डप्रशस्ति की प्रस्तुत सुबोधिकाटीका रचना संवत् के आधार पर गुणविनय की सर्वप्रथम कृति है । इसकी रचना वि. सं. १६४१ में युगप्रधान श्री जिनचन्द्रसूरि के विजय राज्य में हुई है । प्रान्तप्रशस्ति में "विधुवारिधिरसशशिधरमितवर्षे श्री जिनचन्द्रसूरि विजयिनी" शब्दों का प्रयोग है । 'वारिधि' शब्द ४ एवं ७ दोनों अंकों का द्योतक होता है । ७ को ग्रहण करने से रचना सं. १६७१ आता है जो समीचीन नहीं है । क्योंकि टीका की शैली एवं भाषा सौष्ठव को देखने से यह गुणविनय की प्रारम्भिक कृतियों में प्रतीत होती है । दूसरी बात, जिनचन्द्रसूरि का धर्म साम्राज्य काल १६७० तक का होने से एवं सम्पादन में प्रयुक्त 'हं' संज्ञक प्रति १६४६ की लिखित होने से निश्चित है कि यहां 'वारिधि' ४ अंक का ही द्योतक है ।

जैसा कि नाम से ही पता चलता है कि पं. गुणविनय की टीका सामान्य व्यक्तियों को खण्डप्रशस्ति के साहित्यिक सौन्दर्य की अनुभूति कराने के उद्देश्य से लिखी गई है । इनमें भी उच्चकोटि की भावयित्री प्रतिभा के दर्शन होते हैं । भाषा बड़ी सरल है । शास्त्रीयज्ञान से अभिव्यक्ति को बोझिल नहीं बनाया गया है । राम में असीम श्रद्धा और साहित्यिक स्तर का अनुभावन इस टीकाकार की उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं । राम-काव्य की परम्परा से हमारे टीकाकार सुपरिचित रहे

हैं। उन्होंने अपनी टीका में शीलदेवसूरि के अज्ञातनामा रामप्रताप माहात्म्य प्रकट करने वाले ग्रन्थ का उल्लेख किया है (द्रष्टव्य उनकी टीका पृ. १५१ पर)। ऐसा ही एक और 'श्रीप्रसाद' नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है (पृष्ट ९)। ये दोनों ग्रन्थ आज प्राप्त हैं या नहीं विद्वानों के लिये खोज का विषय है।

प्रति-परिचय—

इस ग्रन्थ के सम्पादन में निम्नांकित प्रतियों का उपयोग किया गया है जिनका क्रमशः वर्णन इस प्रकार है—

१. वि. संज्ञक मूल प्रति,

यह प्रति विनयसागर संग्रह, कोटा की है। माप २७×१०.५ सी. एम. है। पत्र संख्या ११, पंक्ति १३, अक्षर ४४ हैं। लेखन पुष्पिका नहीं है फिर भी इसका लेखनकाल १५ वीं शताब्दी का अन्तिम चरण निश्चित रूप से माना जा सकता है। लिपि सुन्दर है। प्रति की अवस्था जीर्ण है। हासियों में काली धारी के बीच लाल स्याही की लकीरें हैं और मध्य में तथा हासियों में गोल लाल-बिन्दु अंकित हैं। प्रतिलिपिकार तज्ज्ञ न होने से लेखन शुद्धतम नहीं है।

इस प्रति में श्लोक-संख्या क्रमशः न होकर अवतार-क्रम से ही दी गई :- [१] १३. [२] ७. [३] १२. [४] १३. [५] ५. [६] ६. [७] ९७. [८] ६. [९] ३. [१०] ४। इस प्रकार मूल श्लोकों की संख्या १६६ होती है, किन्तु [७] रामावतार-वर्णन में ९० संख्यक पद्य न होने से तथा पद्यांक २५ की द्विरावृति होने से पद्य संख्या १६६ ही रहती है। इस प्रति में कीका, गुणविनय एवं अन्य प्रतियों द्वारा स्वीकृत २५ पद्य नहीं हैं, किन्तु ३ पद्य नवीन हैं जो किसी भी अन्य प्रतियों में प्राप्त नहीं हैं; जैसा कि परिशिष्ट २ से स्पष्ट है।

२. अ. संज्ञक कीका कृत पञ्जिका प्रति—

यह प्रति राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर के संग्रहालय की है। ग्रन्थाङ्क २३५७२ है। माप २५.५×११ सी. एम. है। पत्र संख्या ५७ पंक्ति १५, अक्षर ४५ हैं। लेखन पुष्पिका इस प्रकार है—

> ।। संवत् १६४५ माहा वदि ५ रवौ लषितं ।। स्तम्भतीर्थे साहालालजी लखित्वा। ग्रं. २३००।

लिपी सुन्दर है। अवस्था श्रेष्ठतम है। लेखन शुद्धतम है। इसी को आदर्श प्रति मानकर उपयोग किया गया है।

इस प्रति में मंगलाचरण के दो पद्यों के पश्चात् पद्य संख्या १ से १५६ तक है, जो १५८ होती है। इसमें प्रतिलिपिकर्त्ता पद्यांक १३५ और १५० के अंक

लिखना भूल गया है और ५० के पश्चात् १,२,३४; ९९ तथा ११० की द्विरावृत्ति; ११२ के पश्चात् १, २, ३, ४, ५. ६, ७. ८, ९, १०; १२७ पद्य के क, ख, ग, की एक ही संख्या; १३६ वें पद्य में दो श्लोकों की टीका; तथा १४३ के ख की संख्या न होने से कुल पद्य २० अधिक होते हैं। इस प्रकार इस प्रति की पद्य संख्या १७६ होती है। गुणविनयस्वीकृत ९ पद्यों और अन्य प्रतियों के ६ पद्यों-- कुल १५ पद्यों की टीका इसमें प्राप्त नहीं है।

इस प्रति में केवल ११२ वें पद्य के पश्चात् के पद्य १ से १० तक के मूल श्लोक प्राप्त हैं। इसके अतिरिक्त मूल श्लोकों का आलेखन प्रतिलिपिकार ने नहीं किया है। केवल टीका के प्रारम्भ में प्रत्येक श्लोक का प्रतीक मात्र दिया है।

३. ब संज्ञक कीका कृति पञ्जिका प्रति—

यह प्रति ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा के संग्रहालय की है। ग्रन्थाङ्क ४२६८ है। माप २६ × ११ सी. एम. है। पत्र संख्या १०८ + १५ = १२३ है, किन्तु पत्रांक २० एवं ३५ वां अप्राप्त है तथा ३८ वें के दो पत्र प्राप्त हैं। पंक्ति ९ अक्षर ३३ हैं। लेखन पुष्पिका न होने पर भी यह निश्चित है कि यह प्रति १७ वीं शताब्दी के प्रथम चरण की अवश्य है। अवस्था अच्छी है। लेखन शुद्धतम है। इस प्रति का हमने पाठान्तरों में प्रयोग किया है।

अ. और ब. संज्ञक दोनों प्रतियों में केवल कुछ सामान्य पाठान्तरों के अतिरिक्त कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता। ऐसा लगता है मानों ये दोनों प्रतियां किसी आदर्श प्रति की प्रतिलिपि मात्र हों; क्योंकि न केवल पद्यांकों की दृष्टि से अपितु १३६ वें पद्य में स्वीकृत संयुक्त दो पद्यों की व्याख्या से भी यही स्पष्ट है। संयुक्त पद्य द्वय की व्याख्या में प्रतिलिपिकार भूल से एक या दो पंक्तियां छोड़ गया है इससे 'कान्तास्मद्‌वगत्या' ९३ श्लोक के टीका की समाप्ति और 'संवृत्ते रण-तूर्यभैरवरवे' ९४ श्लोक की टीका का प्रारम्भिक अंश छूट गया है।

४. प्र. संज्ञक गुणविनय-कृत सुबोधिका प्रति—

यह प्रति राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर के संग्रहालय की है। ग्रन्थाङ्क २८७७ है। माप २५ × ११ सी. एम है। पञ्चपाठ है। पत्र संख्या २९ है। मूल पाठ की पंक्ति ५ और अक्षर ५२ हैं तथा टीका-पाठ की पंक्ति १८, अक्षर ५७ हैं। लेखनपुष्पिका (पृ. २९) से स्पष्ट है कि वि सं. १६७२ में, लूणकरणसर (बीकानेर क्षेत्र) में खरतरगच्छीय युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि के शासनकाल में श्री-जिनमाणिक्यसूरि के प्रपौत्र शिष्य, वाचक कल्याणधीर के पौत्र शिष्य, कल्याण-लाभ के शिष्य कमलकीर्ति ने इसकी प्रतिलिपि की है। लिपि सूक्ष्माक्षरी होने पर भी सुवाच्य एवं सुन्दर है। पत्र १ एवं २३ से २९ तक जीर्ण होने पर जीर्णोद्धार

किया हुआ है। अवस्था श्रेष्ठ है। लेखन शुद्धतम एवं संशोधित है। इसीका मैंने आदर्श प्रति के रूप में प्रयोग किया है।

इस प्रति में पद्य संख्या कुल १६० दी है, किन्तु पद्यांक ४७, १०६, ११२, १३४ और १४८ रिक्त हैं और पद्यांक ४२, ५०, १३१ की द्विरावृत्ति हुई है तथा मंगलाचरण का द्वितीय पद्य 'मत्य: कूर्मो वराहश्च' टीका में समादृत होने से कुल पद्य संख्या १५९ होती है। कीका द्वारा स्वीकृत २६ पद्य और अन्य प्रतियों में प्राप्त ६ पद्य कुल ३२ पद्य गुणविनय द्वारा स्वीकृत न होने से इन पद्यों की टीका प्राप्त नहीं है। साथ ही ९ पद्य नवीन है जिसकी टीका कीका-कृत उपलब्ध नहीं है। (द्रष्टव्य परिशिष्ट २)

हं. संज्ञक गुणविनयकृत सुबोधिका प्रति—

यह प्रति भी राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर की है। ग्रन्थाङ्क २६४८४ है। माप २८×११ से. मी. है। पञ्चपाठ है। पत्र संख्या २५ है। मूल पाठ की पंक्ति ७, अक्षर ३० हैं तथा टीका-पाठ की पंक्ति २०, अक्षर ४५ हैं। लेखन पुष्पिका इस प्रकार है—

"संवत् कायवेदरसेन्दुवर्षे श्री अहमदावादे वाचकोत्तम श्रीहंसचन्द्रशिष्येण मण्डणेन लिखितम्। शुभंभूयात्। कल्याणमस्तु॥"

अर्थात् वि. सं. १६४६ में अहमदावाद में वाचक हंसचन्द्र के शिष्य मण्डन ने प्रतिलिपि की है। लेखन शुद्ध है। अवस्था श्रेष्ठ है। इस प्रति का मैंने पाठन्तरों के रूप में उपयोग किया है। प्रति के मूल और टीका के प्रारम्भ में 'श्रीहंसचन्द्रसद्गुरूभ्यो नमः' का आलेखन होने से मैंने इस प्रति की संज्ञा 'हं' ही रखी है।

इस टीका-प्रति में गुणविनयकृत टीका पद्यों के अतिरिक्त 'एकं पादं च पृष्ठे॰ २८ B; यं दृष्ट्वा नारसिंहं॰ ४० B; स्फूर्जद्व्योममधुव्रती॰ ४५ B; स्वस्ति स्वागतमर्थ्यहं॰ ४६ B' चार पद्य मूल-पाठ में अतिरिक्त दिये हैं, किन्तु इनकी टीका नहीं है। इसके अतिरिक्त पृष्ठ २५A की अन्तिम पंक्ति में विशेष उल्लेख है—

"अटीककाव्यानि॥ दृष्यत्कंस॥ ब्रूमो निर्भ॥ मग्ना ये रि॰॥ मघ॰॥ निपत्य॥ वर्षासु भी॰॥ आत्ते सी॰॥ छिन्द्याद्वः॥ रामो दा॰॥ शुष्के गं.॥ उन्मीलन॥"

इस प्रकार खण्डप्रशस्ति में प्राप्त ११ श्लोकों की सूचना दी है। इनमें से ९ पद्य तो अन्य प्रतियों में प्राप्त होते हैं जो प्रस्तुत ग्रन्थ में सम्मिलित हैं, किन्तु दो पद्य मघ॰ और निपत्य॰ अभी तक कई प्रतियों का अवलोकन करने पर भी नजर नहीं आये हैं।

गुणविनय ने टीका की रचना वि. सं. १६४१ में की है और यह प्रतिलिपि सं. १६४६ की है। प्राचीन होने पर भी यह प्रति शुद्धतम नहीं है। इस 'हं' संज्ञक प्रति में टीका के प्रारम्भ में मूल श्लोक का प्रतीक नहीं दिया गया है। कि विशिष्टः के स्थान पर किं वि., किं लक्षणः, किम्भूत।, किम्विधः, आदि पर्यायों का प्रयोग अधिक हुआ है। किं विशिष्टः के पश्चात् के विशेषण प्रायः करके एक-दो अक्षरात्मक ही दिये हैं, कतिपय स्थलों पर अवश्य ही पूर्ण दिये हैं। आदर्श प्रति में टीका में जहां भी शब्दसिद्धि विषयक विचारों का ऊहापोह प्राप्त है वह अंश 'हं' प्रति में प्राप्त नहीं है।

इन प्रतियों के अतिरिक्त राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर की दो मूल प्रतियों में ३ श्लोक नवीन प्राप्त हुये हैं, वे दोनों प्रतियां निम्नलिखित हैं—

१. ग्रथांङ्क १९६२, पत्र संख्या १० है। लेखन समय नहीं है, किन्तु अनुमानतः १७ वीं शताब्दी है। लेखन प्रशस्ति इस प्रकार हैः—

"लिखिता श्रीसीरोही नगरे ।। भट्टारक प्रभु श्री सोमजयसूरिशिष्य-भूशिष्य महोपाध्याय श्री अमरनन्दिगणिशिष्य-अमरमेरु मुनिना ।"

इस प्रति में खण्डप्रशस्ति मूल के पश्चात् 'मान्धातृमण्डलेश्वर प्रशस्तिः' के ५ पद्य लिखे हुये हैं। इस प्रति में कुल १४४ पद्य हैं, जिसमें से उन्मीलद्गुडपाकतन्दुलतया'. पद्य ४३वां नवीन है जो प्रस्तुत पुस्तक के पृ. १८९, पद्यांङ्क ११२ पर मुद्रित है।

२. ग्रन्थाङ्क ५९९८ है। पत्र संख्या ६ है। लेखनकाल अनुमानतः १६ वीं शताब्दी है। इसमें कुल श्लोक १२८ हैं जिनमें से दो पद्य नवीन हैं:—
'द्वारे कल्पतरुर्गृहेषु. ८६; पातालाच्च समुद्धृतो. ८७'। ये दोनों पद्य पृ. ८० और ४३ पर मुद्रित हुये हैं।

प्रतिष्ठान में अद्यावधि प्राप्त समस्त प्रतियों में यह एक विलक्षण प्रति है। इस प्रति में किसी भी अवतार विशेष का उल्लेख या विभाजन नहीं है और इसका प्रारम्भ भी 'कल्याणानां निधानं' से होकर 'प्रेंखद्वाजि.' पर समाप्ति हुई है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रतिलिपिकार के मत से यह पूर्णरूपेण रामस्तुतिमात्र हो और सारे अवतार राम के अन्तर्गत ही हों।

खण्डप्रशस्ति की पद्य संख्या—

प्रतिष्ठान की उपरोक्त पांच प्रतियों के अतिरिक्त प्रतिष्ठान में मूल एवं टीका की निम्नांकित प्रतियां और हैं, जिनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

ग्रन्थाङ्क		पत्र संख्या	लेखन-काल
२७४४	मूल	१२	१७ वीं
४२७६	"	२०	१९ वीं
४३३८	"	३०	१८ वीं
५२७१	"	२८	१७५९
११२२२	"	८	१८ वीं
१६६५९	"	१५	१७३१
१८६२०	"	१४	२० वीं
२१५६२	"	९	१८ वीं
१९८४५	मूल सान्वय	१४	१८ वीं
२८४९९	टीका गुणविनय	४४	१८७१
१००८७	" "	१२९	१९ वीं
१९८४५	" गंगदास	१४	१८ वीं, अपूर्ण

इन समस्त प्रतियों में श्लोक-संख्या की समानता नहीं है। कम से कम १२८ प्राप्त होते हैं और अधिक से अधिक १९१। टीकाकार कीका ने कुल १७६ पद्य स्वीकार किये हैं और इनमें से ३७ श्लोकों को प्रक्षिप्त माना है। अन्य टीकाकार गंगदास और गुणविनय इस सम्बन्ध में मौन हैं। अतः इस प्रशस्ति के कुल कितने पद्य थे और इनमें कितने पद्य प्रक्षिप्त हुये हैं, निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता।

पद्यों का क्रम—

उपरोक्त समस्त प्रतियों में पद्यों का क्रम-विपर्यय दृष्टिगोचर होता है जिसके तीन रूप मुख्य हैं—

(क) अवतारवाद के क्रम से पद्यों की पृथक् पृथक् संख्या—प्रतिष्ठान की १९८४५ को प्रति और विनयसागर संग्रह की प्रति में अवतार-क्रम से ही पद्य संख्या पृथक् २ दी गई है।

(ख) अवतारक्रम से समस्त पद्यों की एक संख्या—प्रतिष्ठान की चौदह प्रतियों और बड़ौदा वाली प्रति में अवतार क्रम से समस्त पद्यों में प्रारम्भ से अन्त तक क्रमबद्ध पद्य संख्या दी गई है।

(ग) अवतार क्रम-रहित समस्त पद्यों की एक संख्या—इसका उदाहरण केवल ग्रन्थाङ्क ५९९८ की प्रति में ही प्राप्त होता है।

न केवल पद्यों का क्रम-विभाजन अपितु विशेषतः रामावतार के पद्यों में कोई पद्य किसी प्रति में ४ की संख्या पर है तो किसी प्रति में वही ६० की संख्या पर

है। इसकी भी सामान्यतया दो परम्परा प्राप्त होती है। १. 'वि' संज्ञक मूल प्रति तथा कीका एवं गंगदास की टीकाओं में प्रायः सादृश्य है तो १७ वीं के उत्तरार्द्ध से प्राप्त प्रायः प्रतियों में गुणविनय की स्वीकृत परम्परा प्राप्त होती है। यह अन्तर परिशिष्ट १ में देखा जा सकता है।

सम्पादन-पद्धति—

प्रस्तुत ग्रन्थ कीका तथा गुणविनय प्रणीत दो व्याख्याओं के साथ सर्वप्रथम प्रकाशित हो रहा है। इस ग्रन्थ के सम्पादन में निम्नांकित पद्धति का आश्रय लिया गया है।

१. अवतार-क्रम से प्रत्येक अवतार की श्लोक संख्या पृथक्-पृथक् रखी गई है।

२. कीका पंजिका की दोनों प्रतियों में मूल-पाठ न होने के कारण, गुणविनय स्वीकृत मूल-पाठ दिया गया है और कीका-टीका सम्मत पाठ को पादटिप्पणी में 'कीकामते तु' करके दिया गया है। जो पद्य सुबोधिका में प्राप्त नहीं हैं और जिनकी टीका पंजिका में प्राप्त है, उन मूल श्लोकों को वि. संज्ञक मूल प्रति के आधार से तथा पंजिका सम्मत पाठ को मान्य रखते हुये मूल-पाठ दिया गया है। किन्तु, निम्नांकित ८ पद्य ऐसे भी हैं जिनकी केवल टीका कीका कृत ही प्राप्त है। और अन्य प्रतियों में मूल प्राप्त नहीं हैं। ऐसी दशा में कीका की पंजिका के अधार से श्लोक-गठित कर, मूल पाठ में दिये गये हैं। ये आठों पद्य निम्नांकित हैं—

१. कुतस्त्वमणुकः स्वतः.' पृ. ७०; २. क्रोधस्फीतस्फुलिङ्ग० पृ. ५८; ३. भूषारत्नं भुवनवलयं० पृ. १५३; ४. भ्रश्यत्कुम्भशिरोधरेषु० पृ. ४२; ५. लीलोन्मूलितमौलि० पृ. ७३; ६. श्रीमद्राम त्वदीयाः० १८३; ७. श्रुतिपथि विचरामः० पृ. १५०; स्वस्तिः स्वागतमर्थ्यहं० पृ. ६६।

३. प्रस्तुत दोनों टीकाओं के अतिरिक्त जो ६ नवीन पद्य प्राप्त हुये हैं उन्हें सम्बन्धित अवतार के अन्त में सम्मिलित कर दिया गया है। यथा १. वराहावतार का १४ वां, २. परशुरामावतार का ८ वां, ३-५ रामावतार का ११२, ११३, ११४ वां, तथा ६ उपसंहार का ।

४. प्रस्तुत दोनों टीकाओं में कीका कृत पंजिका वैदुष्यपूर्ण एवं प्राचीन होने के कारण मूल-पाठ के पश्चात् में (कीका) शीर्षक से १४ प्वाइन्ट ह्वाइट में पंजिका दी गई है और उसके बाद (गुण.) शीर्षक से १२ ह्वाइट ब्लेक में सुबोधिका दी गई है।

५. दोनों टीकाओं के पद्यों में क्रम-विपर्यय होने के कारण यह स्वाभाविक था कि एक टीका का क्रमं-स्वरूप छिन्न भिन्न हो। यही कारण है मूल पाठ के नीचे संयुक्त टीका रखने के कारण 'सुबोधिका' का क्रम अस्त-व्यस्त हो गया। पंजिका का स्वरूप अक्षुण्ण रखा गया है। परिशिष्ट १ में जो तालिका दी है उससे पाठकों को स्पष्ट हो जायगा कि वि. संज्ञक मूल प्रति में तथा कीका एवं गुणविनय की टीकाओं की प्रतियों में कौनसा पद्य किस संख्या पर निर्दिष्ट है।

६. पाद-टिप्पणियों में कहीं - कहीं पर अ. संज्ञक और प्र. संज्ञक प्रति की अपेक्षा ब. सज्ञक और ह. संज्ञक का पाठान्तर शुद्ध प्रतीत हुआ है तो ब. और ह. का ऊपर तथा अ. और प्र. का पाठान्तर पादटिप्पणी में दिया है।

७. ग्रन्थ की उपादेयता को ध्यान में रखकर परिशिष्ट २ में पंजिका एवं सुबोधिका में उद्धृत ग्रन्थ तथा ग्रन्थकारों के नाम दिये हैं। परिशिष्ट ३ में टीकाओं में उद्धृत प्रतीकों की अकारानुक्रम सूची दी है और परिरिष्ट ४ में मूल श्लोकों के छन्दनाम तथा उनके लक्षण दिये गये हैं।

आभार

मेरी वर्षों से अभिलाषा थी कि गुणविनय और कीका पण्डित की टीकाओं के साथ खण्डप्रशस्ति का मैं सम्पादन करूं। इसी इच्छा के वशीभूत होकर सन् १९६६ में मैंने पृथक्-पृथक् रूप से दोनों ही टीकाओं की प्रेसकॉपी भी तैयार की थी। अप्रेल सन् १९६८ में राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान के निदेशक एवं राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला के प्रधान सम्पादक डॉ. फतहसिंह एम. ए, डी. लिट्. ने सन् १९६८-६९ की प्रकाशन योजना में प्रकाशनार्ह ग्रन्थों में इसे स्वीकार किया और डॉ. फतहसिंह ने मुझे साथ लेकर इसका सम्पादन एवं मुद्रण-कार्य भी उसी सन् में प्रारम्भ करवा दिया। दिसम्बर १९६९ में डॉ. फतहसिंह राजकीय सेवा से निवृत्त हो गए। उस समय तक प्रस्तुत पुस्तक के २०८ पृष्ठ छप चुके थे। इनकी सेवा निवृत्ति के पश्चात् कई कारणों से इस पुस्तक का प्रकाशन यथासमय संभव न हो सका।

हर्ष का विषय है कि प्रतिष्ठान के वर्तमान निदेशक श्री जितेन्द्रकुमार जैन के सौहार्दपूर्ण सहयोग एवं सतत प्रयत्न के कारण ही प्रस्तुत ग्रन्थ आज पाठकों के करकमलों में पहुंच रहा है। इसलिए मैं इनका हृदय से आभारी हूँ।

प्रस्तुत खण्डप्रशस्ति के सम्पादन में श्रद्धेय डॉ. फतहसिंहजी, मेरे परम-मित्रद्वय श्रीलक्ष्मीनारायण गोस्वामी एवं डॉ. बद्रीप्रसाद पंचोली आदि विद्वानों का सतत परामर्श एवं प्रूफ-संशोधन आदि में जो समय-समय पर सहयोग प्राप्त हुआ है, इसके लिये मैं इन सब का अत्यन्त ही आभारी हूँ। साथ ही गायकवाड

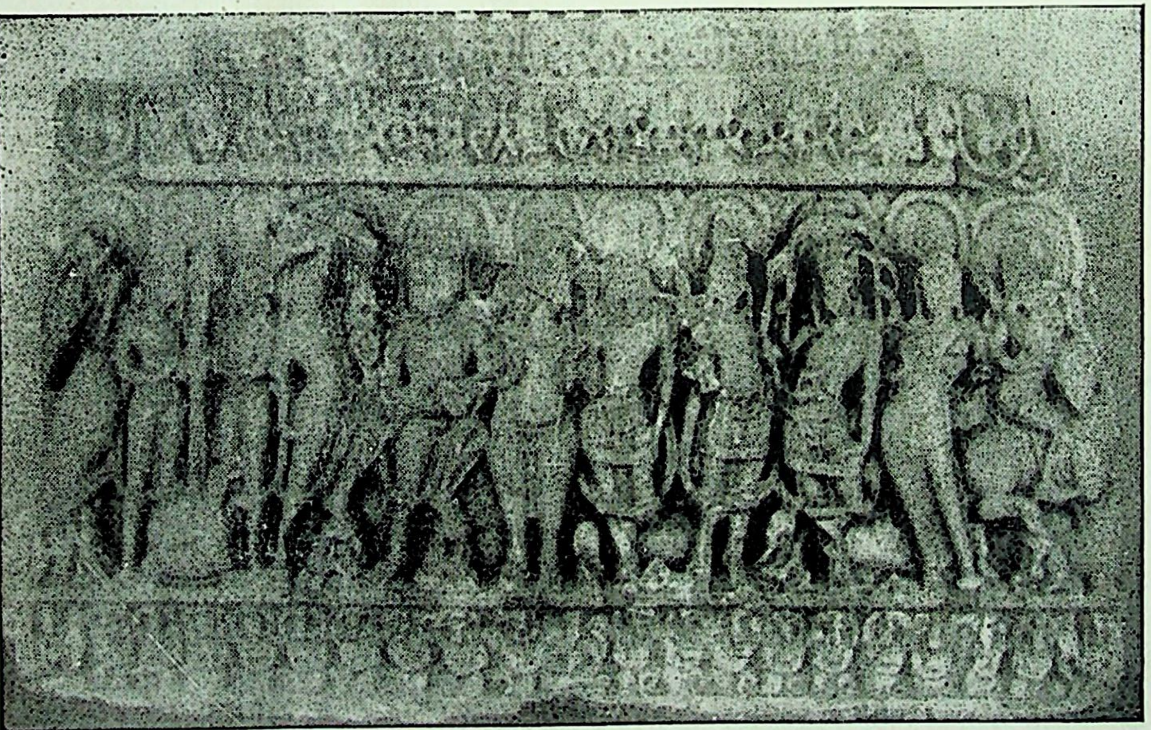
ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट बड़ोदा के निदेशक और राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान जोधपुर का भी में कृतज्ञ हूँ जिनके सहयोग से सम्पादन में मैं अनेक हस्तलिखित प्रतियों का उपयोग कर सका।

अन्त में मैं अपने स्वर्गीय परम पूज्य गुरुदेव, खरतरगच्छालङ्कार आगमवेत्ता श्री जिनमणि सागरसूरिजी महाराज को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ जिनके आशीर्वाद से ही में इस योग्य हो सका।

द्वि. भाद्रपद शुक्ला १४ अनन्त चतुर्द्दशी. २०३१ म. विनयसागर
३० सितम्बर, १९७४
जयपुर।



दशावतार-फलक



श्री रत्नचन्द्रजी अग्रवाल : निदेशक, पुरातत्त्व एवं संग्रहालय, जयपुर के सौजन्य से प्राप्त

(परिचय-पृष्ठ २३२ पर द्रष्टव्य)

श्रीहनूमत्कविविरचिता

खण्डप्रशस्तिः

[दशावतारस्तोत्रम्]

श्रीकीकापण्डितप्रणीतया पञ्ज्या पण्डितश्रीगुणविनयगुम्फितया
सुबोधिन्याख्यया वृत्या च संवलिता

[कीकाकृन्मङ्गलाचरणम्]

बिभ्राणा केशपाशं शबलितमिव मन्दारमन्दाकिनीभ्यां,
भाले बालप्रवालारुणनयनसृजत्सामिसिन्दूरबिन्दुः[1] ।
शम्भोर्नीहारसारोरगपतिकलिता शेषहाराद्धंपूर्ति-
र्मूर्त्तिर्गौरीशरीरावयवसमसमस्तासमस्तार्थदाऽस्तु ॥१॥

ब्रह्माण्डारम्भजृम्भद्विधिवदनसरोजातिनिर्यातविश्व-
व्याविस्रोतःप्रसारश्रुतिरसतटिनीशोणशोभां दधानः ।
आसीदासिन्धुभूमण्डलसकलजनामन्दसंकीर्त्यकीर्ति-
र्भक्ताभीष्टप्रदाता शिव इव स महादेवनामा द्विजेन्द्रः ॥२॥

तत्पुण्योघैरगण्यैर्वयसि परिणते[2] लालनीयः सुतोऽभूद्,
यन्नामोन्मुद्य कीका इति किमपि पिता पेशलं व्यादिदेश ।
यः सर्वत्राहतेच्छः स्वयमभिलषिताः शैशवान्ते वितेने,
विद्याः सद्यः स्वजिह्वातलतरलनटीः स्पष्टमष्टादशाऽपि ॥३॥

तस्मादस्मेरगोष्ठीस्थितिजनितमृषावादवर्णावतारः,
संसारोत्तारणायापरिमितविभवः कर्णधारः परेषाम् ।
पुत्रो भीलाभिधानः समजनि जनितैः कर्मभिर्येन तृप्ता,
वर्षन्त्यद्यापि देवाः प्रकटमिह हविर्दानशून्येऽपि काले ॥४॥

---

१. ब. ०नयनसजत्० । २. अ. परिणिते ।

तत्सूनुः सूनृतोक्तिः श्रुतिविततलतामाधवो माधवोऽभूद्,
यस्याशंसन्ति विष्वक्विधुविशदयशः साधवोऽगाधकीर्त्तिः ।
यो योगाभ्यासवश्येन्द्रियचयविजयो ब्रह्मभूयं प्रपित्सुः,
तुच्छां स्वेच्छाविलासाद्[1] गुणघटिततनुं चैकतानस्तताान ॥५॥

उद्भूतो बलभद्र इत्यथ ततः काशीनिवासी चिरं,
दुर्भिक्षेष्वतिवारिता[2]तिथिमना मीमांसयोर्मांसलः ।
व्यक्तं यस्य विवेकवैभवगिरां शुश्रूषया श्रूयते,
भिक्षूभूय दिदृक्षुरेव[3] हि शुकः साक्षादगादङ्गणम् ॥६॥

नारायणोऽजनि ततस्तपसा पटीयान्,
पारायणश्रवणकौतुकिवर्गवन्द्यः ।
येन त्रिवर्गमुपभुज्य चिराय काश्यां,
ज्योतिर्मयेन भवता भवताप्यलम्भि ॥७॥

गङ्गाधरः सकलवाङ्मयसारपात्रं,
सत्संसदः किमपि मण्डनमद्वितीयम् ।
तस्मादभूद् भणितमेव यदीयमद्य,
श्रुत्वा श्रयन्ति शतशो हि बुधा गुरुत्वम् ॥८॥

कीकाभिधस्तदुरुपादयुगप्रसाद-
लब्धस्ववंश्यधनवाग्विभवो भवस्य ।
नाशाय दाशरथिदासदशावतार-
स्तोत्रैरर्थपुञ्जललितां वितनोति पञ्जीम् ॥९॥

बद्धे सेतौ किल हनुमता या प्रशस्तिः प्रयुक्ता
तां तत्रत्याः परमनिपुणाः पण्डिता लब्धुमीषुः[4] ।
मध्ये सेतुत्रुटनवशतः खण्डशोऽलम्भि यस्मात्,
तस्मादेनां नुतिमतिमुदाऽऽचक्षते खण्डशस्तिम् ॥१०॥

पदे वाक्ये प्रमाणे च नाऽहं सम्यगधीतिमान् ।
तथापि[5] स्वल्पबुद्धीनां बोधहेतोः प्रतन्यते ॥११॥

---

१. अ. विलासीद् । २. ब. दुर्भिक्षेष्वनिवारिता० । ३. ब. दिदक्षुरेव । ४. ब. लब्धमीषुः । ५. ब. यथापि ।

तत्रास्मिन् व्याचिख्यासिते दशावतारे स्तोत्रे हनूमत्कृततया ख्याते—

कृतक्रोधे यस्मिन्नमरनगरी मङ्गलरवा
नवातङ्का लङ्का समजनि वनं वृश्चति सति ।
सदा सीताकान्तप्रणतिमतिविख्यातमहिमा,
हनूमानव्याद्वः कपिकुलशिरोमण्डनमणिः ॥

कृतक्रोध इत्याद्यः श्लोको हनूमद्वर्णनपरत्वात् उपक्रम एव स्ववर्णानानवक्लृप्तेः प्रक्षिप्तऋजुश्चेत्युपेक्ष्यते ।

(टीका०) [कृतक्रोधे० । स हनूमान् वः–युष्मान् अव्याद्–रक्षतु । स इति कः ? यस्मिन् हनूमति कृतक्रोधे सति कृतः–विहितः कोपो येन स तस्मिन्, अमरनगरी–अमरावती मङ्गलरवाः–मङ्गलशब्दा समजनि–जाता । देवप्रतिपन्थिदैत्यविनाशात् सुरपुर्यां महोत्साहः समुत्पेदे इति भावः । तथा यस्मिन् हनूमति वृश्चति–छिन्दति सति लङ्का नवातंका नवसाध्वसा समजनि । किं विशिष्टो हनूमान् ? सदा सीताकान्तप्रणतिमतिविख्यातमहिमा सदा–शश्वत् सीताकान्ताय–रामाय या प्रणतिमतिः नमस्कारबुद्धिस्तया विख्यातः–प्रसिद्धो महिमा–माहात्म्यं यस्य सः । पुनः किं विशिष्टो हनूमान् ? कपिकुलशिरोमण्डनमणिः कपिकुलस्य–वानरसमूहस्य शिरोमण्डनमणिरिव यः सः कपिकुलशिरोमण्डनमणिः ।][1]

[गुणविनयकृतमङ्गलम्]

श्रीगुरुभ्यो नमः ।

श्रीपार्श्वं फलवर्द्धिकाद्भुतमहाराजं महोराजितं,
त्रिःकृत्वः[2] सुकृतैकभाजनमहं नत्वा कृपावारिधिम् ।
सारं श्रीगुरुराजपादकमलं चानन्दसम्वर्द्धकं,
संवक्ष्ये विवृतिं यथा मतिमतां खण्डप्रशस्तेः शुभाम् ॥१॥

एतच्च काव्यं हनूमद्विरचितश्रीरामप्रशस्तिलिखनकर्त्रा मङ्गलार्थमादौ विरचितं तद्व्याख्येयम्—

(गुण०) कृतक्रोधेति[3] । स हनूमान् वः–युष्मान् अव्यात्–रक्षतु । स इति कः ? यस्मिन् हनूमति कृतक्रोधे कृतः–विहितः क्रोधः–कोपो येन स तस्मिन् सति अमरनगरी–अमरावती मङ्गलरवा–मङ्गलशब्दा अजनि–जाता । देवप्रतिपन्थिदैत्यविनाशनात् सुरपुर्यां परमोत्साहः समुत्पेदे इति भावः । तथा यस्मिन् हनूमति वनं वृश्चति–छिन्दति सति लङ्का नवातङ्का–नव-

---

१. क. त्रिकृत्वः । २. [] चिह्नान्तर्गता टीका ब. पुस्तके नास्ति किन्तु अ. पुस्तके पत्रपार्श्वप्रदेशे लिखिताऽस्ति । ३. हं. नास्ति ।

साध्वसा समजनि । किंविशिष्टः हनूमान् ? सदा सीताकान्तप्रणतिमतिविख्यातमहिमा सदा-शश्वत् सीताकान्ताय-रामाय या प्रणतिमतिः-नमस्कारबुद्धिस्तया विख्यातः-प्रसिद्धो महिमा-माहात्म्यं यस्य सः । पुनः किंविशिष्टः ? कपिकुलशिरोमण्डनमणिः कपिकुलस्य-वानर-समूहस्य शिरोमण्डनमणिरिव यः सः कपिकुलशिरोमण्डनमणिः ।।१।।

इह हि श्रीरामप्रशस्तिः खण्डप्रशस्तित्वेन कथमजनि ? इत्याह-

पुरा श्रीदशरथाज्ञया श्रीरामः लक्ष्मणः सीतासहायः समादाय कार्मुकमेकं मुक्त्वा च पुर-ग्रामादिकं विजनवनान्तर्निर्ययौ[1] । तत्र च ते त्रयोऽपि विपिने तरुफलान्येव भुञ्जते, न कृष्ट-क्षेत्रोप्तसस्यानीत्येवं कालं सुखेन गमयन्ति स्म । अन्यदा एकाकिनीं श्रीरामजानीं[2] सीतां विनीतां कामपत्नीस्वरूपां सुरूपामवगम्य स्त्रीलोलुपतया रावणस्तां सीतामपहर्तुकामः कनकमृगं मायया व्यधत्त । तं च मायामृगं दृष्ट्वा सा सीता स्वक्रीडार्थं स्वपतिं श्रीरामं विज्ञपयति स्म । यथा च--हे भर्त्तः ! कनकमृगममुं[3] केलिनिमित्तं समानीय मे देहीत्युक्ते तादृक् प्रियाप्रियवचः-श्रवणविह्वलतया मायामृगमपि अवैतथ्येनाज्ञासीत् । ततः श्रीरामस्तं मायामृगमनुधावति स्म । ततो यावता तन्मायामृगानुगामित्वेनाऽदृश्यतां प्राप्तः श्रीरामस्तावता पश्चादागत्य रावणस्तां[4] सीतामेकाकिनीमपाहरत्, स्वनगरीं लङ्कां चाऽऽनयत् । ततो विफलाशः श्रीरामः समाययौ यत्र सीता निविष्टाऽऽसीत् । तत्र च तामनवलोकयन् महावियोगदुःखार्त्तः 'सा सीता केन नीता' इत्यादि विप्रलपन् स्वस्थीकृतो हनूमता । ततो वानरकुलमुपादाय स समुद्रं दृषद्भिर्बबन्ध । ततस्तां लङ्कां सर्वामपि स्वपुच्छाग्र[5]-न्यस्ताग्निना अदहत् । ततः श्रीरामोऽपि सलक्ष्मणः समागत्य तस्य रावणदैत्यस्य एकेनैव बाणेन दशाऽपि शिरांसि छित्वा तन्मार्गेणैव सीतां स्वगृहं[6] समानयत् । तत्र च सिन्धुसेतौ दृषन्निबद्धे हनूमान् श्रीरामप्रशस्तिमलिखत् । तत्र केचित्सां-यात्रिकाः स्वपोतमारुह्य क्रयविक्रयार्हं वस्तुसमुदायमादाय समुद्रान्तः प्राविशत् । तत्र च यथेप्सिते द्वीपे गत्वा बहूनि धनान्यर्जयित्वा समागच्छतां तेषां पोतवणिजां पोतः केनचिद् वायुना प्रेरितो हनूमद्विरचितसमुद्रसेतुमार्गे समागच्छत् । तत्र च हनूमद्विरचितां श्रीरामप्रशस्तिं सिन्धुसेतौ दृष्ट्वा तां ते सांयात्रिका अलिखन् । तत्र च कानिचित् काव्यानि समुद्रकल्लोलै-र्दृषदां पातनेन खण्डितान्यपि तानि तैर्लिखितानि । ततस्तस्याः खण्डप्रशस्तिरित्यभिधानं स्फुटतया तैश्चक्रे । ततस्ते स्वपुरीमागत्य महतां संख्यावतां पण्डितानां[7] तां खण्डप्रशस्तिम-दर्शयत् । तेऽपि सुन्दराण्येतानि काव्यानीति विमृश्य तानि पूरयन्ति स्मेति सम्बन्धलेशः ।

तत्र च खण्डप्रशस्तौ हनूमद्विरचितायां श्रीरामस्य दशावतारा व्याख्येयाः । तत्क्रमश्चा-यम्—

मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नारसिंहोऽथ वामनः ।
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्की च ते दश ।।

---

१. हं० विजनवनान्तं निर्ययौ । २. हं० श्रीराममजनीं । ३. हं० 'अमु'मिति नास्ति । ४. हं० 'रावणः' इति नास्ति । ५. हं० 'अग्र' इति नास्ति । ६. हं० स्वगृहे । ७. हं० 'पण्डितानां' नास्ति ।

(कीका०)—मत्स्यः कूर्म इति दशावतारसंग्रहगाथा च पौराणिकीति । सम्मतिप्रायत्वात् स्फुटमव्याख्येया ।

इह खलु ग्रन्थारम्भे शिष्टाचारपरिपालनाय ग्रन्थस्याविघ्नेन परिसमाप्तिप्रचयगमनपरिपन्थिकलमषनिवृत्त्यर्थमाशीर्वादनमस्कारवस्तुनिर्देशानामन्यतमस्मिन्प्राप्ते समीहितवस्तुनिर्देशमेव प्राक् प्रणयति—वियत्पुच्छेत्यादिना । अनेनैव विषयप्रयोजनसम्बन्धाधिकारिणश्च प्रवृत्त्यङ्गत्वाद्दर्शिताः । मङ्गलं च च जयति-शब्देन । तत्रादौ वियच्छब्दप्रयोगेण परमेश्वरस्य तात्त्विकं निर्गुणं स्वरूपं संकीर्त्तितमिति बोध्यम् । 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता, ते यदन्तराद् ब्रह्म खं ब्रह्मेति' श्रुतेः । आकाशस्तल्लिङ्गादिति न्यायात् सगुणं चेह प्राधान्येन वर्णयिष्यमाणं यत्स्यादेव । द्वेधा हि विष्णुः—निराकारः साकारश्च । अनवच्छिन्नं चैतन्यं निराकारः, सत्वावच्छिन्नं साकार इति । तदेतदनुसन्धानो मत्स्यं वर्णयन् शिखरिणीवृत्तेनाह—

(गुण०)—इति । अनेनैव क्रमेण हनूमद्विरचितायां श्रीरामप्रशस्तौ प्रथमं मत्स्यावतारश्रीकृष्णवर्णनं विधीयते ।

तत्र च ग्रन्थारम्भे आदौ मङ्गलं विधेयम् । यतस्तदभावे न विघ्नध्वंसः स्यात् । विघ्नध्वंसाभावे च न प्रारब्धशास्त्रसमाप्तिः । [1]प्रारब्धशास्त्रसमाप्त्यर्थिना प्रथममवश्यं मङ्गलं विधेयम् । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां मङ्गलस्य विघ्नविध्वंस[2] प्रति करणत्वान्न च कृतेऽपि मङ्गलेन शास्त्रसमाप्तिः, कादम्बर्यादिवत् । अकृतेऽपि मङ्गले प्रमत्तानुष्ठितशास्त्रसमाप्तिरित्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां व्यभिचारात् । न कारणता मङ्गलस्येति वाच्यं, यतः[3] कादम्बर्यादौ यत् कृतेऽपि मङ्गले न ग्रन्थसमाप्तिस्तत्र विघ्नानां बाहुल्यात् । मङ्गलस्याल्पत्वान्न समग्रा विघ्नाः ध्वंसमापुः यदि बहूनि मङ्गलान्यादौ कृतान्यभविष्यन् तदा सर्वेऽपि विघ्ना अध्वंसिष्यन्त[4], परं तानि बहुलानि न कृतानि ततस्तेऽपि सर्वे न ध्वस्ता इति । यावच्च मङ्गलं कृतं तावान्[5] विघ्नध्वंसस्तत्रापि जात एवेति । तथा यच्च अकृतेऽपि मङ्गले प्रमत्तानुष्ठितशास्त्रसमाप्तिरित्युक्तं तदपि न चेतश्चमत्कारकारि । यतस्तेन पूर्वजन्मनि यत् विघ्नविरहदशायां ग्रन्थारम्भे मङ्गलं कृतमासीत्, तच्च अदग्धदहनन्यायेन यदि तदानीं विघ्ना अभविष्यंस्तदा तान् विघ्नान्[6] मंगलमध्वंसिष्यत । परं तदानीं तदभावात्तन्मङ्गलमसमाप्तफलकं सत् तज्जन्मनि अकृतेऽपि मङ्गले विघ्नध्वंसं विधाय शास्त्रसमाप्तिं करोतीत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां व्यभिचाराभावात् । ग्रन्थसमाप्तिं प्रति पारम्पर्येण मङ्गलस्य कारणत्वादादौ मङ्गलं विधेयम् । तत्र च श्रीभगवतस्तत्कृत्यमेव नास्ति यन्मङ्गलरूपतया न स्यादतो मत्स्याकृतेर्भगवतः शक्तिविशेषप्रकटनं मङ्गलरूपं तदेवादौ श्रीरामप्रशस्तिकारकः श्रीहनूमान् स्वःश्रेयोऽर्थं मङ्गलमारभते ।

---

१. हं० अतः प्रारब्ध० । २. हं विघ्नध्वंसं । ३. हं० नास्ति । ४. हं० अध्वंसिष्यत । ५. हं० तावत् । ६. हं नास्ति ।

वियत्पुच्छातुच्छोच्छलितजलगर्भं[1] निधिरपा-
मपां नाथः पाथःपृथुलवदुःस्थो वियदभूत् ।
निधिर्भासामौर्वो दिनपतिरभूदौर्वदहन-
श्चलत्काये यस्मिन् स जयति हरिर्मीनवपुषा ॥१॥

(कोका०)—वियदित्यादि । मीनवपुषा उपलक्षितः श्रीहरिर्जयति—उत्कर्षेण वर्त्तते । यस्मिन् हरौ चलत्काये सति वियत्—व्योम अपांनिधिः—समुद्रोऽभूत् । चलतीति चलन्, चलन्कायो यस्य स चलत्कायस्तस्मिन् । किम्भूतं वियत् ? पुच्छोत्फालोच्छलितजलगर्भं पुच्छस्योत्फालः—परिवर्त्तः परिभ्रामणमिति यावत्, तेन उच्छलितं जलं गर्भे—मध्ये यस्य तत्तथा, अपरं अपांनाथः—समुद्रः वियत्—आकाशं अभूत् जलशून्यत्वात् । किम्भूतः सः ? पाथःपृथुललवदुःस्थः पीयत इति पाथः—जलं पृथुरेव पृथुलः, पृथुलश्चासौ लवश्च पृथुललवः पाथसः पृथुललवः पाथः-पृथुललवः तस्य दुःस्थः—दरिद्रः, एकेन जलबिन्दुनाऽपि शून्य इत्यर्थः । अपरं भासां निधिः—श्रीसूर्यः औवः—वडवानलोऽभूत् जलान्तर्वर्त्तित्वसाधर्म्यात् । तथा औवंदहनोऽपि—वडवानलोऽपि दिनपतिः—श्रीसूर्यः अभूत्, स्फुटप्रकाशतया दिवाकरतां भेजे इत्यर्थः ॥१॥

(गुण०)—वियत्पुच्छेति । एतद्व्याख्या—स हरिः—विष्णुर्मीनवपुषा—मीनाकृत्या जयति—सर्वोत्कर्षेण वर्तते । दशावतारित्वाद्विष्णोः प्राक् मीनाकृत्या यद्वर्णनं तत्समुद्रशायित्वेन भगवतो मत्स्याकृतेरतीववल्लभत्वादिति । अथ मत्स्याकृतेर्हरेः शक्तिविशेषमाविःकुर्वन्नाह—यस्मिन् हरौ चलत्काये—चलन् कायः—शरीरमस्येति तस्मिन्,वियद्—आकाशं शून्यरूपं अपां निधिः समुद्रोऽभूत्—बभूव । किंविशिष्टं वियत् ? पुच्छातुच्छोच्छलितजलगर्भं पुच्छेन—लाङ्गूलेन-अतुच्छानि—बहूनि उच्छलितानि यानि जलानि तानि गर्भे—मध्यप्रदेशेऽस्येति तथा अपां नाथः-समुद्रः वियत्—नभोऽभूत् । कीदृगपांनाथः ? पाथःपृथुलवदुःस्थः पाथसां—अम्भसां पृथुलः—विपुलो यो लवस्तेन दुःस्थः—दरिद्रोऽभृत्, पानीयरहितो बभूवेति भावः । तथा भासां निधिः श्रीसूर्य औवः—वडवानलोऽभूत् । यतः पानीयं यदा मीनाकृत्या भगवता स्वपुच्छेनोच्छालितं तदा सर्वमपि सामुद्रं जलं वियति गतम् । तत्र च रविर्वर्तत एव स वडवानलाकृत्या मेने बुधैः । तथा औवंदहनः-वाडवाग्निर्दिनपतिरभूत्, यतः समुद्रे पानीयाभावात् समुद्रस्याकाशकल्पना तत्र च वाडवाग्नेः सूर्योपमेति भावः ॥१॥

---

१. कोकाटीकायां—वियत्पुच्छोत्फालोच्छलितजलगर्भं तथा वि० प्रतौ वियत्पुच्छोच्छालो० । इति पाठः ।

चन्द्रादित्योरुनेत्रः कमलभवभवस्फारपृष्ठप्रतिष्ठो,
भास्वत्कालाग्निजिह्वः पृथुलगलगुहादृष्टनिःशेषविश्वः ।
अद्भिः पुच्छोत्थिताभिश्चकितसुरवधूनेत्रसंसूचिताभि-[१]
र्मत्स्यश्छिन्नाब्धिवेलं गगनतलमलं क्षालयन् वः पुनातु ॥२॥

(कीका०)—चन्द्रादित्येत्यादि । स्रग्धरावृत्तम् । श्रीमत्स्यः वः—युष्मान् पातु । किं कुर्वन्? अद्भिर्गगनतलं—आकाशं अलं—अत्यर्थं छिन्नाब्धिवेलं यथा भवति तथा क्षालयन्, गगनतलस्य मलं—कालिमानमिति कश्चित्, गगने तलमलयोर्बालैरेवाध्यस्तत्वा-त्तदुभयसद्भावोऽपि लोकदृष्ट्योचिते न तु शास्त्रदृष्ट्येत्यलं विस्तरेण । आपः धीयन्तेऽस्मिन्निति अब्धिः, अब्धेः वेला अब्धिवेला छिन्ना—विच्छेदं गता अब्धिवेला यस्मिन् क्षालने तत्तथा, कल्पान्तसदृशमित्यर्थः । किंविशिष्टाभिरद्भिः ? पुच्छोच्छृताभिः—पुच्छेनोल्लालिताभिः । अपरं किंविशिष्टाभिरद्भिः ? चकितसुर-वधूनेत्रसंसूचिताभिः चकिताः—किं प्रलयोऽयमिति भीताः याः सुरवध्वः—देवाङ्गना-स्तासां नेत्रैः संसूचिताभिः, त्रासादतिमात्रचटुलनयनैः सविस्मयं दृष्टाभिरित्यर्थः । किं विशिष्टो मत्स्यः ? चन्द्रादित्योरुनेत्रः चन्द्रश्च आदित्यश्च चन्द्रादित्यौ तावेव उरूणी—महती नेत्रे यस्य स तथा, अनेन विश्वरूपोक्तिः । पुनः किम्भूतः ? कमल-भवभवस्फारपृष्ठप्रतिष्ठः कमलोद्भवः—उत्पत्तिर्यस्य स कमलभवः—ब्रह्मा भजतां सुखहेतुर्भवतीति भवः—शर्वः, कमलभवश्च भवश्च कमलभवभवौ पृष्ठं—पृष्ठवंशः प्रकर्षेण तिष्ठत्याभ्यां ते प्रतिष्ठे पादावित्यर्थः, पृष्ठञ्च प्रतिष्ठे च पृष्ठप्रतिष्ठं, 'प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः' स्फारं—विशालं च तत् पृष्ठप्रतिष्ठं च स्फारपृष्ठप्रतिष्ठं, कमलभवभवौ क्रमेण स्फारपृष्ठप्रतिष्ठं यस्य स तथा, कमलभवः पृष्ठं भवः प्रतिष्ठेत्यर्थः । विश्वरूपस्य सर्वदेवमयत्वात् प्रधानदेवयोः संकीर्त्तनात् सर्वे देवास्त[२]-दवयवत्वेनोपलक्षणीयाः । 'सर्वदेवमयं रूपं सर्वात्मा सर्वतो दधौ ।' इति स्मृतेः । अपरं किम्भूतः ? भास्वत्कालाग्निजिह्वः भासो विद्यन्ते यस्मिन्स भास्वान्—देदीप्यमानः कालाग्निः—प्रलयानलो यस्मिन् सोऽनन्तः शेष इत्यर्थः, स जिह्वा यस्य मत्स्यस्येति तथा । पुनः किम्भूतः ? पृथुलगलगुहादृष्टनिःशेषविश्वः गल एव गुहा गलगुहा पृथुला चासौ गलगुहा च पृथुलगलगुहा तस्यां दृष्टं—मुनिजनादिभिरव-लोकितं निःशेषं—समग्रं विश्वं यस्य स तथा ॥२॥

१. कीकाटीकायां—पुच्छोच्छ्रूता० । २. ब. तत्तद् ।

(गुण०)––चन्द्रादित्योरुनेत्र इति[1]। व्याख्या––मत्स्यः–मत्स्याकृतिर्भगवान् वः–युष्मान् पुनातु–पवित्रीकरोतु। किं कुर्वन्? गगनतलमलं अत्यर्थं क्षालयन्। कीदृग् गगनतलम्? छिन्नाब्धिवेलं छिन्नाः–द्वैधीकृताः पुच्छघातद्वयेन आकाशं गच्छन्त्योऽन्तराले अब्धिवेलाः–समुद्र-जलवृद्धयो यस्मिन् तत्, इद क्रियाविशेषणं वा। काभिः क्षालयन्? अद्भिः–पानीयैः। कीदृशीभिः? पुच्छोत्थिताभिः पुच्छादुत्थिताभिस्तादृग् समुद्राऽऽच्छोटनादुद्गताभिः। पुनः किंविशिष्टाभिः? चकितसुरवधूनेत्रसंसूचिताभिः चकितानि–भयविह्वलानि यानि सुरवधूनां–अप्सरसां नेत्राणि तैः संसूचिताभिः–सविस्मयं दृष्टाभिः। कीदृशो मत्स्यः? चन्द्रादित्योरुनेत्रः चन्द्रश्चादित्यश्च चन्द्रादित्यौ तावेव उरूणी–गरिष्ठे नेत्रे यस्येति। पुनः किंविशिष्टो मत्स्यः? कमलभवभवस्फारपृष्ठप्रतिष्ठः कमलभवभवाः–वेदास्तेषां स्फारे–गरिष्ठे पृष्ठे–स्वपृष्ठप्रदेशे प्रतिष्ठा–स्थापनं यस्येति। अत्राऽऽम्नायः–

पुरा हि शङ्खदैत्यो ब्रह्मणः सकाशाद् वेदान् लात्वा समुद्रस्य शरण गतः। ततस्त्रयस्त्रिंशत् कोटिदेवविज्ञप्त्या कृष्णेन मात्स्यं रूपं कृत्वा दैत्यं निगृह्य समुद्राद् वेदाः स्वपृष्ठे क्षिप्त्वा समानीता इति।

अथवा कमलभवात्––ब्रह्मणः सकाशाद् भवं–उत्पन्नं अर्थात् ब्रह्माण्डं तस्य स्फारे–विस्तीर्णे पृष्ठे प्रतिष्ठा यस्य स। अतिमहागरिष्ठरूपत्वात् ब्रह्माण्डं मत्स्यपृष्ठे लग्न[2]मस्तीति भावः। यद्वा कमलभवः–ब्रह्मा भवः–महेशः तद्वत् स्फारा-बहुला पृष्ठप्रतिष्ठा यस्येति। पुनः किंविशिष्टो मत्स्यः? भास्वत्कालाग्निजिह्वः भास्वन् देदीप्यमानो यः कालः यमः स च सकलजगज्जन्तु-दाहकत्वेन अग्निरिव अग्निः स एव जिह्वा अस्येति। पुनः किंविशिष्टः? 'पृथुलगलगुहादृष्टनि-श्शेषविश्वः पृथुलगलगुहायां–विस्तीर्णकण्ठकुहरे अदृष्टं निःशेषं विश्व विश्वं-जगत् यस्येति। सर्वस्यापि जगतो गलगुहायां निक्षिप्तत्वात् परैरदृश्यमानतेति भावः। अथवा पृथुलगलगुहायां दृष्टं निःशेषं विश्वं यस्मिन् सः। 'पृथुलगलगुहायां दृष्टं निःशेषं विश्वं येन स इति वा'[3] ॥२॥

जीयासुः शकलाकृतेर्भगवतः[4] पुच्छच्छटाच्छोटना-
दुद्यन्तः शतचन्द्रिताम्बरतलं ते बिन्दवः सैन्धवाः।
यैर्व्यावृत्य पतद्भिरौर्वशिखिनस्तेजोजटालं वपुः,
पानाध्मानवशादरोचकरुजां चक्रे चिरायास्पदम् ॥३॥

(कीका०)–जीयासुरित्यादि। शार्दूलविक्रीडितत्रयम्। ते सैन्धवाः बिन्दवो जीयासुःजयवन्तो भूयासुः। सिन्धुः–समुद्रस्तस्य इमे सैन्धवाः। किंविशिष्टाः बिन्दवः? शकुलाकृतेः–मत्स्याकारस्य भगवतः षड्विधैश्वर्यगुणसम्पन्नस्य विष्णोः पुच्छच्छटाच्छोटनात् शतचन्द्रिताम्बरतलं यथा स्यात्तथा उद्यन्तः–उत्पतन्तः

१. हं० चन्द्रेति। २. हं० विलग्नं। ३'–' हं० नास्ति पाठः। ४. कीकाटीकायां वि. पुस्तके च-शकुला०।

शकुलः--मत्स्यस्तस्येवाऽऽकृतिः–लीलाशरीरं यस्य स शकुलाकृतिस्तस्य, भगो नाम ऐश्वर्यादिषाडगुण्यं, तथा च स्मरन्ति—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥

अपि च—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥

इति। स भगोऽस्यास्तीति भगवान् पुच्छस्य छटा पुच्छच्छटा–पुच्छाग्रभागः तस्य छोटनं–आस्फालनं तस्मात् उत्–ऊर्ध्वं यन्तीति उद्यन्तः, इणः शतरि रूपम्। शतशब्दः इह आनन्त्यवचनः, शतं असंख्याश्चन्द्राः सञ्जाता यस्मिन् तत् शतचन्द्रितं,शतचन्द्रितं अम्बरतलं यस्यां उद्‌गमनक्रियायां तत्तथा। ते के ? यैर्बिन्दुभिर्व्यावृत्य–व्याघुटय पतद्भिः सद्भिः और्वशिखिनः--वडवानलस्य तेजोजटालं–ज्योतिर्ज्वालाव्याप्तमपि वपुः–शरीरं पानाध्मानवशात्–अतिपानजनितानाहवशात् अरोचकरुजां–अरुचिव्याधीनां चिरायास्पदं चक्रे–बहुकालं स्थानं कृतम्। ऊरौ भवः और्वः वेनस्य ऊरौ मथ्यमाने जातत्वात्, और्वश्चासौ शिखी च और्वशिखी तस्य जटाः सन्त्यस्मिन्निति जटालं, मत्वर्थीयो लः, तेजोभिर्जटालं तेजोजटालं, लक्षणया तेजःसंकुलितमित्यर्थः। पानेन आध्मानं पानाध्मानं, अरोचकस्य रुजः अरोचकरुजस्तासां, चक्रे इति कृञः कर्मणि लिट्॥३॥

(गुण०)—जीयासुरिति व्याख्या—शकलाकृतेः–मत्स्याकृतेः[1] भगवतः पुच्छच्छटाच्छोटनात् पुच्छच्छटाभिर्यदा छोटनं–इतस्ततः समालोडनं तस्मात् शतचन्द्रिताम्बरतलं यथा स्यात्तथा शतचन्द्रितं शतमित्युपलक्षणमनेके सञ्जाताश्चन्द्रा अस्येति। तारकादित्वादितच्। ततः शतचन्द्रितमम्बरतलं शतचन्द्रिताम्बरतलं। तलशब्दोऽत्र उपरिभागवाची आदर्शतलादिवत्। उद्यन्तः-ऊर्ध्वं गच्छन्तस्ते सैन्धवाः सिन्धौ भवाः सैन्धवाः, भवाद्यर्थे अण्, [2]यद्वा, सिन्धोरिमे सैन्धवाः[2], बिन्दवः–पृषताः[3] जीयासुः। ते इति के ? यैः–बिन्दुभिः प्रागाकाशं गच्छद्भिः पश्चाद् व्यावृत्य–निवृत्य पतद्भि और्वशिखिनः-वाडवाग्नेःतेजोजटालं–तेजांस्येव जटा[4] अस्येति तत्। 'सिध्मादिभ्यश्च' इति सूत्रे आदिशब्दाज्जटाघटाकलाभ्यः क्षेपे, क्षेपः–निन्दा जटालः–तापस इति श्रीप्रसादेऽभिहितमस्तीति ज्ञेयम्। 'प्राणिस्थादातोलजन्यतरस्यां' इति लच मत्वर्थीयः। तेजसा[5] व्याप्तमिति भावः। ईदृग्वपुः–शरीरं अरोचकरुजां[6]–अरुचिरोगाणां चिराय-चिरकालं प्र -स्थानं चक्रे। कथमरुचिर्जाता ? इत्याह—पानाध्मानवशादिति[7]

१. हं० मत्स्याकारस्य। २–२. हं० नास्ति पाठः। ३. हं० पृषतो। ४. हं० नास्ति। ५. हं० तेजो। ६. हं० अरोचिकरुजां। ७. हं० नास्ति पाठः।

पानेन—अतिजलपानेन अध्मानं[1]—अग्निसंयोगाभावः । ध्माशब्दाग्निसंयोगयोः इति । तद्वशादन्योऽपि यः तादृग् दाघज्वरादिरुगाक्रान्तो बहुपानीयं पिबति तस्य पश्चात् पानीयस्यारुचिर्जायते तथा एतस्येति भावः । अथवा पानेन—अतिजलपानेन अध्मानवशात्[2] वातव्याकोपवशात् अरोचकरुजां चिरायास्पदं चक्रे । अतिपानेनाध्मानमरुचिश्च जायते इति निदानविदः ।।३।

दिश्याद्वः शकलाकृतिः[3] स भगवान्नैःश्रेयसीं सम्पदं,
यस्य स्फूर्जदतुच्छपुच्छशिखरप्रेङ्खोलनक्रीडनैः ।
क्षुभ्यद्वार्धिसमुच्छलज्जलभरैर्मन्दाकिनीसङ्गतै-
र्गङ्गासागरसङ्गमप्रणयिनी जाता विहायःस्थली ॥४॥

(कीका०)—दिश्यादिति । स शफराकृतिः—मत्स्याकारो भगवान् वः—युष्मान् नैःश्रेयसीं सम्पदं दिश्यात्-ददातु । नितरां श्रेयो निःश्रेयसं—मुक्तिः, निःश्रेयसस्य इयं नैःश्रेयसी तां नैःश्रेयसीं । स कः ? यस्य स्फूर्जदतुच्छपुच्छशिखरप्रेङ्-खोलनक्रीडनैः कृत्वा क्षुभ्यद्वार्धिसमुच्छलज्जलभरैर्मन्दाकिनीसंगतैः सद्भिः विहाय-स्थली—व्योमभूमिः गङ्गासागरसङ्गमप्रणयिनी जाता । मन्दाकिन्याः समुद्रसंगति-प्रीतिमती अजनि । स्फूर्जतीति स्फूर्जत्-देदीप्यमानं, न तुच्छं अतुच्छं—दीर्घं पुच्छस्य शिखरं पुच्छशिखरं अग्रभागः, अतुच्छं च तत पुच्छशिखरं च अतुच्छ-पुच्छशिखरं, स्फूर्जच्च तत् अतुच्छपुच्छशिखरं च स्फूर्जदतुच्छपुच्छशिखरं तस्य प्रेंखोलनानि—चालनानि तान्येव क्रीडनानि—विहारास्तैः क्षुभ्यतीति क्षुभ्यन् वारीणि-उदकानि धीयन्तेऽस्मिन् स वार्धिः, क्षुभ्यंश्चासौ वार्धिश्च क्षुभ्यद्वार्धिः, जलानां भराः जलभराः, सम्यक् उच्छलन्तीति समुच्छलन्तः, समुच्छलन्तश्च ते जलभराश्च समुच्छलज्जलभराः, क्षुभ्यद्वार्धेः समुच्छलज्जलभराः क्षुभ्यद्वार्धिसमुच्छलज्जलभराः तैः, 'मन्दाकिनी वियद्गङ्गा' इत्यमरः, तया सङ्गताः—मिलिताः[4] तैः, सगरस्यायं सागरः तत्पुत्रैः खनितत्वात, सागरेण संगमः सागरसंगमः, सागरसङ्गमे प्रणयः सागरसङ्गमप्रणयः, गङ्गायाः सागरसङ्गमप्रणयः गङ्गासागरसङ्गमप्रणयः स विद्यते यस्याः विहायस्थल्याः सा तथा विहाय—आकाशं तस्य स्थली—अकृत्रिमा भूमिर्विहायःस्थली । 'वियदविष्णुपदं वा तु पुंस्याकाशविहायसी' इत्यमरः ।।४।

(गुण०)—दिश्यादिति । व्याख्या—स भगवान् शकलाकृतिः—मत्स्याकृतिः[5] नैःश्रेयसीं सम्पदं मोक्षलक्ष्मीं दिश्यात्-देयात् । 'दिश् अतिसर्जने' । स इति कः ? यस्य स्फूर्जदतुच्छपुच्छ-शिखरप्रेङ्खोलनक्रीडनैः स्फूर्जद्[6] अतुच्छं गरिष्ठं यत्पुच्छशिखरं—पुच्छाग्रं तदेव प्रङ्खोलनं—दोला

१. हं० आध्मानं । २. हं० आध्मानवशात् । ३. कीकाटीकायां-शफराकृतिः, वि. प्रतौ शकुलाकृतिः पाठः । ४. ब. सम्मिलिताः । ५. हं० मत्स्यरूपं । ६. हं० स्फूर्जत्-देदीप्यमानं ।

तेन क्रीडनं[४]-क्रीडाकरणं येषु तैः। ईदृग्विधैः क्षुभ्यद्वार्धिसमुच्छलज्जलभरैः क्षुभ्यन्-क्षोभं प्राप्नुवन् यो वार्धिः-समुद्रस्तस्मात् समुच्छलन्तः-ऊर्ध्वं गच्छन्तो य जलभरास्तैः। किंविशिष्टैः? मन्दाकिनीसङ्गतैः मन्दाकिनी-सुरसरित् तां सङ्गता[१]-मिलिता ये ते तैः, कृत्वा॥ विहायः-स्थली[२]-आकाशस्थली[२] गङ्गासागरसङ्गमप्रणयिनी गङ्गासागरयोः सङ्गमे-मिलने प्रणयः-स्नेहः सञ्जातोऽस्या इति गङ्गासागरसङ्गमप्रणयिनी जाता-बभूव। अय भावः, यतः सागरं जलं मत्स्यपुच्छेनोच्छालितं सुरनद्याः सङ्गमवाप ततो गङ्गासागरसङ्गमतीर्थो जज्ञे नभस्यपीति ॥४॥

मायामीनतनोस्तनोतु भवतां पुण्यानि पङ्कस्थितिः[३],
पुच्छाच्छोटसमुच्छलज्जलगुरुप्राग्भाररिक्तोदधेः[४]।
पातालावटमध्यसंकटतयापर्याप्तकष्टस्थिते-
र्वेदोद्धारपरायणस्य[५] सततं नारायणस्य प्रभोः ॥५॥

(कीका०)—मायामीनतनोरिति। मायामीनतनोः-मायया मत्स्यरूपधारिणः प्रभोः परिवृढस्य श्रीनारायणस्य पङ्कप्लुतिः-कर्दमप्लवनक्रीडा भवतां-युष्माकं पुण्यानि-पुण्यफलानि मंगलानि 'कारणे कार्योपचारः[६]' इति न्यायात् तानि तनोतु-वर्द्धयतु। मीनस्य तनुः मीनतनुः मायया मीनतनुर्यस्य सः तस्येति। तथा तनोत्विति 'तनु विस्तारे' आशिषि लोट्, 'प्लु वातौ' प्लवनं प्लुतिः, पङ्केषु प्लुतिः पङ्कप्लुतिः, मत्स्यजातेः सुखस्थानत्वेन क्रीडेत्युच्यते। नारायणो नाम नानावताराणां बीजं मायाशबलितं ब्रह्म नारं नरसमूहं अयते अन्तर्यामितया गच्छतीति व्युत्पत्तेः। तथा चान्तर्यामि ब्राह्मणे श्रूयते—'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरीयं पृथिवी न वेद' इत्यादि। 'कारणात् कार्यं नातिरिच्यते' इति न्यायात् मीने नारायणत्वोपचारः। यद्वा, नरात् हिरण्यगर्भात् प्रसूता आपो नाराः ता अयनं आश्रयो सोऽयं नारायणः। तथा च स्मरन्ति मनुव्यासादयः शिष्टाः—

'आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥'

इति। किंविशिष्टस्य तस्य? पुच्छाच्छोटसमुच्छलज्जलभरप्राग्भाररिक्तोदधेः आच्छोटनं आच्छोटः, आस्फालनं-लीलया परिवर्तनमित्यर्थः, पुच्छस्याच्छोटः पुच्छाच्छोटः तेन सम्यगुच्छलन् जलभरस्य-सलिलसमूहस्य यः प्राग्भारः बाहुल्यं समग्रतेति यावत्, तेन रिक्तः-शून्य उदधिः-समुद्रो यस्मात् प्रभोः स तस्येति तथा पुनः किम्भूतस्य? पातालावटमध्यसंकटतया पर्याप्तकष्टस्थितेः पातालं-रसातलं

१. हं० नास्ति। २. हं० ०स्थलीं। ३. कीकाटीकायां वि० प्रतौ च—पङ्कप्लुतिः। ४. कीकाटीकायां जलभरप्राग्भार०। ५. कीकाटीकायां—वेदध्यानपरायणस्य। ६. ब. कार्यसमावेशः।

अवटः–गर्त्त इवेति पातालावटः तस्य मध्यं स्थातुं संकटं–संकीर्णं यस्य मत्स्यस्य सोऽयं पातालावटमध्यसंकटः तस्य भावस्तत्ता तया हेतुना पर्याप्ता प्राप्ता कष्टस्थितिः–संकटताजन्योद्वेगावस्थानं येन सः पर्याप्तकष्टस्थितिः तस्य। पुनः किम्भूतस्य ? सततं वेदध्यानपरायणस्य शंखासुरापहृतवेदप्रत्याहरणचित्तैकतानस्य, यद्वा ध्यानं नाम विषयान्तरतिरस्कारेणैकविषयाक्षिप्तचित्तता। तथा च पतञ्जलिः—'तत्रैकतानता ध्यानमिति'। वेदो देवः परमात्मा सिंहः सहनाद्धिंसेर्वा विपरीतस्येतिवत् तस्य ध्यानं–प्रवाहाकारेण चिन्तनं तदेव परं–उत्कृष्टं अयनं–आश्रयो यस्य स तथा। सततपदसामर्थ्यादियमेवार्थश्चित्तचमत्कारमातनोति। नहि निमेषोन्मेषलीलाभिः सर्गस्थित्यन्तकारिणः परमेश्वरांशस्य शंखासुराद्वेदप्रत्याहरण सततं चिन्तनीयं भवतीत्यलम् ॥५॥

(गुण०)—मायामीनतनोरिति[1]। [2]अस्य व्याख्या[2]—मायामीनतनोः मायया–शङ्खदैत्यनिर्भर्त्सनचिकीर्षितकपटेन मीनेति मीनाकृतिः–मत्स्याकारा तनुः–शरीरं यस्य स तस्य नारायणस्य प्रभोः–स्वामिनः पङ्कस्थितिः–पङ्कावस्थानं भवतां पुण्यानि तनोतु–विस्तारयतु।[3]पाठान्तरे पङ्कप्लुतिरिति तत्र पङ्क–कर्दमे प्लुतिः–स्नानं पङ्कप्लुतिः। मत्स्याः खलु पङ्के स्नुतिं कुर्वन्ति, अतस्तच्छरीराग्रहादस्यापि तत्स्वभावता[3]। ननु पङ्कप्लवनं किं पुण्यकर्तृत्वेन भविष्यतीति न वाच्यम्, यतो महतां सर्वमपि कृत्यं श्रेयसे भवतीति। किंविशिष्टस्य नारायणस्य ? पुच्छाच्छोटसमुच्छलज्जलगुरुप्राग्भाररिक्तोदधेः पुच्छाच्छोटेन–पुच्छोल्लोलनेन समुच्छलन् यो जलस्य गुरुःगरिष्ठः प्राग्भारः–सामस्त्यं[4] तेन रिक्तः–निर्जल उदधिः–समुद्रो यस्मात् स तस्य। पुनः किंविशिष्टस्य ? पातालावटमध्यसंकटतयापर्याप्तकष्टस्थितेः पातालमेव अवटः–भूरन्ध्रं तस्य यन्मध्यं तत्संकटतया–तत्संकीर्णतया पर्याप्ता–प्राप्ता कष्टेन[5] स्थितिर्येन स तस्य। [6]अनेन तस्य कायमहत्वं वर्णितम्[6]। पुनः किंविशिष्टस्य ? वेदोद्धारपरायणस्य वेदानां[7] उद्धार–समुद्राद्वेदानामाविःकरणं तत्र परायणस्य–तत्परस्य सततं–निरन्तरमिति ॥५॥

एवं तत्कायमहत्वमुक्त्वा अधुना गुणगौरवमुपक्रमते[8]—

मग्ने मेरौ पतति तपने तोयबिन्दाविवेन्दा-
वन्तर्लीने जलधिसलिले व्याकुले[9] देवलोके।
मात्स्यं रूपं मुखपुटतटाकृष्टनिर्मुक्तवार्द्धि,[10]
श्रीकान्तस्य स्थलजलगतं वेत्यलक्ष्यं पुनातु ॥६॥

---

१. हं० मायेति;। २–२. हं० नास्ति। ३–३. हं० पाठो नास्ति। ४. हं० नास्ति। ५. हं० कष्ट०। ६–६. हं० पाठो नास्ति। ७. हं० वेदस्य। ८. हं० पंक्तिरियं नास्ति। ९. वि० प्रतौ–जलधिसलिलेऽप्याकुले। १०. कीकाटीकायां–निर्मुक्तवार्द्धेः।

(कोका०)—मग्ने मेराविति। मन्दाक्रान्तावृत्तम्। श्रीकान्तस्य--लक्ष्मीभर्त्तुः श्रीविष्णोर्मात्स्यं—मत्स्यसम्बन्धिरूप मूर्त्तिविशेषः व.—युष्मान् पुनातु--पवित्रयतु। श्रयन्त्येनां ब्रह्मादय इति श्रीः तस्याः कान्तः श्रीकान्तः स्वभावचपलाया अपि लक्ष्म्या अभीष्टत्वेन सर्वगुणनिधानतोक्तेति भावः। मत्स्यस्य इदं मात्स्यं। पुनात्विति 'पूञ् पवने' प्वादित्वादेव ह्रस्वः। किंभूतम् रूपं? स्थलजलगतं वेत्यलक्ष्यं स्थलञ्च जलञ्च स्थलजले, गत स्थलजलगतं 'द्वितीयाश्रित' इत्यादिना द्वितीया-समासः। अलक्ष्यमिति 'लक्षं दर्शनांकनयोः' इह दर्शनमर्थो गृह्यते, लक्षितुमर्हं लक्ष्यं, न लक्ष्यं अलक्ष्यं, प्रमाणातिक्रान्तत्वेन स्थलगतं जलगतं चेति यद्रूपं निश्चेतु-मशक्यमिति भावः। किम्भूतस्य श्रीकान्तस्य? मुखपुटतटाकृष्टनिर्मुक्तवार्द्धेः मुखस्य पुटः मुखपुटः विशालत्वान्मुखपुटस्तटमिवेति मुखपुटतटं तेन पूर्वं आकृष्ट आपीतः पश्चान्निर्मुक्तो वार्द्धिः—समुद्रो येन स तथा। इयं च जातिस्वभावोक्तिः। तथा च कालिदासः सस्मार—

'स सत्त्वमादाय नदीमुखाम्भः, सम्मीलयन्तो विवृताननत्वम्।
अमी शिरोभिस्तिमयः सरन्ध्रैरूर्ध्वं वितन्वन्ति जलप्रवाहान्॥'

इति। क्व सति? जलधिसलिले—एकार्णवजले मेरौ—सुवर्णपर्वते मग्ने—ब्रुडिते सति, तथा तपने—सूर्ये पतति सति, अपरं इन्दौ—चन्द्रे बिन्दाविव अन्तर्लीने—गुप्ते सति। पुनरपि क्व सति? देवलोके व्याकुले—व्यग्रे सति, ईदृशावस्थायां येन कल्पान्त-कालीनस्समुद्रो गडूषीकृत्य पुनर्निर्मुक्तः स देवो वः पवित्रीकरोत्विति पूर्वेण सम्बन्धः॥६॥

(गुण०)—मग्ने मेराविति[1]। श्रीकान्तस्य—विष्णोर्मात्स्य रूप स्थलगत जलगतं[2] वा[3] इत्यलक्ष्य पुनातु—पवित्रीकरोतु भक्तानिति शेषः। किंविशिष्टं मात्स्यं रूपं? मुखपुटतटाकृष्टनिर्मुक्तवार्द्धिः मुखपुटतटेनाकृष्टः पूर्वं पीतः पश्चान्निर्मुक्तो वार्द्धिः—समुद्रो येन तत्। कस्मिन् सति? जलधिसलिले मेरौ—सुवर्णाचले[4] मग्ने सति, तथा तत्रैव इन्दौ—चन्द्रे तोयबिन्दाविव अन्तर्लीने सति—उदकान्तः प्रविष्टे सति[5]। [6]सागरे चन्द्रः कथ लीनः? इत्यपेक्षायां तोयबिन्दाविवेति दृष्टान्तितम्। यथा तोयबिन्दुस्तोययोगोदकेषु लीयते, चन्द्रोऽपि कोमलत्वात्, एवंविध एवेति उत्प्रेक्ष्यते[6]। तथा देवलोके जलदर्शनात्[7] व्याकुले संजाते सति मात्स्यं रूपं अलक्ष्यतया वृत्त-मिति, किं स्थलगतं जलगतं वेति भावः॥६॥

अथ यदर्थं रूपमकारि तं वर्णयति[8]—

---

१. हं० मग्ने०। २. ह० नास्ति। ३. ह० च०। ४. ह० नास्ति। ५ ह० नास्ति। ६–६ ह० पाठो नास्ति। ७. हं० नास्ति। ८. पंक्तिरियं नास्ति।

जृम्भाविस्तृतवक्त्रपङ्कजविधेर्हृत्वा श्रुतीः सागरे,
लीनं त्रस्तसमस्तनक्रनिकरं[1] शङ्खं जघानाजिरे।
पुच्छोत्क्षिप्तजलोत्करैः प्रतिदिशं सम्पूर्य यो वै धरां,
पायाद्वः स मृणालकोमलतनुर्मीनाभिधानो हरिः ॥७॥

(कीका०)—जृम्भाविस्तृतेत्यादि। शार्दूलविक्रीडितम्। स मीनाभिधानो हरिर्वः-युष्मान् पायाद्-रक्षतु। 'पा रक्षणे' आशिषि लिङ्। मीन इत्यभिधानं नाममात्रं यस्य स मीनाभिधानः। वस्तुतस्तु हरिर्भजतां सर्वपापहर्ता[2]। कीदृशो हरिः ? मृणालकोमलतनुः मृणालं-पद्मिनीकन्दतन्तुस्तद्वत् कोमला-पेशला तनुः-मूर्त्तिर्यस्य स तथा, धवलमृणालसादृश्योक्त्या शुद्धसत्त्वावच्छिन्नलीलाविग्रहत्वं व्यज्यते, न पुनस्तिर्यक्स्वाभासस्तमस्सम्पर्क इति भावः। स कः ? यो हरिरजिरे-संग्रामांगणे शंखं दैत्यं जघान-हतवान्। हन्तेः कर्त्तरि लिट्। किं कृत्वा ? पुच्छोत्क्षिप्तजलोत्करैः प्रतिदिशं-सर्वासु दिक्षु धरां-पृथिवीं संपूर्य--आप्लाव्येत्यर्थः। वै इति निपातः। प्रसिद्धिवचनः पुराणप्रणीततत्तदवसरकथास्मरणार्थः। काव्यस्य चार्षत्वसूचनार्थश्चेति निपातानामनेकार्थत्वाल्लभ्यते। जलानां उत्कराः-समूहाः जलोत्कराःपुच्छेनोत्क्षिप्ताः-उल्लालिताः, पुच्छोत्क्षिप्तास्ते च ते जलोत्कराश्च पुच्छोत्क्षिप्तजलोत्करास्तैः; दिशं दिशं प्रतीति प्रतिदिशं सम्पूर्येति 'पॄ पालनपूरणयोः' सम्पूर्विकत्वात् क्त्वो ल्यप्। किम्भूतं शंखं ? जृम्भाविस्तृतवक्त्रपङ्कजविधेः श्रुतीः-वेदान् हृत्वा सागरे-समुद्रे लीनं-निलीयावस्थितमित्यर्थः। 'जृभि गात्रविनामे' जृम्भणं जृम्भाः, आलस्यसहवर्तित्वेन प्रसिद्धा तया विस्तृतानि-प्रसारितानि जृम्भाविस्तृतानि, वक्त्राणि-पङ्कजानीवेति वक्त्रपङ्कजानि, जृम्भाविस्तृतानि वक्त्रपङ्कजानि यस्य विधेः स जृम्भाविस्तृतवक्त्रपङ्कजः चतुर्मुखत्वाद् बहुवचनम्। विश्वं विधत्ते-करोतीति विधिः, जृम्भाविस्तृतवक्त्रपङ्कजश्चासौ विधिश्च स तथा तस्मात्। यद्यपि श्रुतीनां शब्दराशिरूपत्वेनाद्रव्यत्वात् स्फुटापहर्तुमशक्यता, तथापि विधिसन्निधौ 'यत्र रूपधरा वेदाः पद्मयोनिमुपासते' इति वेदानां लीलाविग्रहवत्त्वस्मरणात् अपहरणं सुसंगतम्। शब्दमयत्वेऽपि अनेकमायाविभावनचतुरस्य शंखासुरस्य ब्रह्माणं जडीकृत्य शब्दराशेरपि वेदस्यापहरणं वक्तुं पार्यत एवेत्यलम्। कीदृशं शंखम् ? त्रस्तसमस्तनक्रनिवहं मकरवचनोऽपि नक्रशब्द इह सर्वजलजन्तूपलक्षणः, त्रस्ताः-त्रासं गताः समस्ताः सर्वे नक्रनिवहाः-यादः-

---

१. कीकाटीकायां वि. प्रतौ च—त्रस्तसमस्तनक्रनिवहं इति पाठः। २. ब. सर्वपापापहर्ता।

समूहा यस्मात् शंखात् स तथा । युक्तो हि तद्बलोत्सेकेन यादसां त्रासातिशयः । यद्वा, सागरं-समुद्रं लीनं-प्रविष्टमिति संयोज्य द्वितीयान्तसागरविशेषणं चैतत् त्रस्ताः समस्ता नक्रनिवहा यस्मिन्निति ॥७॥

(गण०)—जृम्भावीति । स मृणालकोमलतनुः मृणालवत् कोमला तनुर्यस्य स मीनाभिधानः-मत्स्याख्यो हरिः-विष्णर्वः-युष्मान् पायात्-रक्षतु । स इति कः ? यः [1]शङ्ख-शङ्खदैत्यं[1] अजिरे [2]अर्थात् रणाङ्गणे[2] जघान-अहन् । किंविशिष्टं शङ्खं ? जृम्भाविस्तृतवक्त्रपङ्कजविधेः श्रुतीः हृत्वा सागरे लीनं जृम्भया-मुखविस्तारणेन विस्तृत वक्त्रपङ्कजं-मुखकमलं यस्य, ईदृग्विधो यो विधिः-ब्रह्मा तस्माद् ब्रह्मणः सकाशात् श्रुतीः-वेदान् हृत्वा-चोरयित्वा सागरे-समुद्रे[3] लीनं-तत्रोषितम् । पुनः किंविशिष्टं ? त्रस्तसमस्तनक्रनिकरं त्रस्तः-भयविलोलः समस्तो नक्रनिकरो यस्मात्स तम् । किं कृत्वा जघान ? पुच्छोत्क्षिप्तजलभरैः-पुच्छोत्पाटितजलभरैः[4] धरां-पृथ्वीं[5] दिश दिशं प्रतीति प्रतिदिशं वीप्सायां । 'योग्यतावीप्सापदार्थानतिवृत्ति-सादृश्ये' इत्यव्ययीभावः । [6]'शरत्प्रभृतिभ्यः टच्' इति समासान्तः[6] । यो विष्णुर्वै इति स्फुट सम्पूर्य-भृत्वा [7]आशासु चतसृष्वपि सागरो भुवि विद्यते तद्, यदा हरिणा मैनं रूपं कृत्वा पुच्छेन जलमुत्क्षिप्तं तदा भू. प्रतिभाग जलैः पूरिता सागरप्रविष्टशङ्खविलोकनाय जलं तत उद्धृतमित्याशयः[7] ॥७॥

तं दृष्ट्वा शङ्खदैत्यं विविधविचरणैर्दर्शयन् चन्द्रकान्त-
प्रख्यं कुक्षिं सवक्षःस्थलमतुलमुखात्[8] फेनराशिं वमन् यः ।
यातो यस्तत्सनीडं गिरिवरसदृशं हन्तुकामोऽपि वेगात्,
श्येनो वोच्चैः[9] कपोतं स भवतु वरदः पीनपाठीनमूर्तिः ॥८॥

(कोका०)—तं दृष्ट्वेति । स्रग्धरात्रयम् । तत्र प्रथमश्लोको जीर्णनात्पात्तोऽपि अस्माभिर्व्याख्यायते । स पीनपाठीनमूर्त्तिः-स्थूलमत्स्यतनुर्भगवान् वः-युष्माकं वरदो भवतु-अभीष्टदाताऽस्तु । पाठीनो मत्स्यविशेषः, पाठीनस्य मूर्त्तिः पाठीनमूर्त्तिः, पीना पाठीनमूर्त्तिर्यस्य स तथा । स कः ? यः पाठीनमूर्त्तिस्तं शंखदैत्यं दृष्ट्वा हन्तुकामोऽपि सन् वेगात् तत् सनीडं शंखसमीपं यातः-गतः । हन्तुकामोऽपि तत्समीपगमनेन दर्शनस्पर्शनादिना तस्यानुग्रहमेव कृतवान्, न तु तत्क्षणं हतवानिति करुणाकरत्वं व्यज्यते । सनीडशब्दः सामीप्यवचनः, तस्य शंखस्य सनीडं तत्सनीडं । कदाचित्सुगमं चेन्नतिविशिनष्टि—गिरिवरसदृशमिति गिरिषु

१–१. हं० शंखं दैत्यं । २–२ हं० नास्ति । ३. हं० नास्ति । ४. हं० जलसमूहैः । ५. हं० पृथ्वीं विश्वम्भरां । ६–६. हं० नास्ति । ७. हं० पाठो नास्ति । ८. वि. प्रतौ—प्रख्ये कुक्षे स्ववक्षःस्थलमतुलमुखात् । ९. वि. वोच्चात् ।

वरा गिरिवराः-मेरुकैलाशादयस्तैः सदृशं-समानं मैनाकादिभिर्दुर्गममित्यर्थः। शीघ्रगमने दृष्टान्तमाह—श्येनो वेति। वा शब्द इवार्थः, निपातानामनेकार्थत्वात्। यथा कश्चित् श्येन उच्चैर्वर्त्तमानमपि कपोतं हन्तुकामः सन् वेगात् तत्सनीड कपोतसमीपं याति तद्वदित्यर्थः। किं कुर्वन् मत्स्यः? विविधविचक्षणैः-मत्स्यजात्युचितैर्नानोत्प्लवनोत्परिवर्त्तनादिभिः चन्द्रकान्तप्रख्यं-इन्दूपलतुल्यं स्वकुक्षि दर्शयन्-प्रकटीकुर्वन्नित्यर्थः। 'चर गतौ'। विशिष्टानि चरणानि विचरणानि, विशिष्टा विधाः-प्रकारा येषां तानि विविधानि, विविधानि च तानि विचरणानि च विविधविचरणानि तैः दर्शयतीति दर्शयन् 'दर्शेर्णिजन्तात्' शतृप्रत्ययः। चन्द्रः कान्तो येषां ते चन्द्रकान्ता मणयः, ते हि चन्द्रकरसम्पर्के शीतमानन्दजलं स्रवन्ते, तैः प्रख्यं-श्वेतमित्यर्थः। कीदृशं कुक्षिम्? सवक्षःस्थलं वक्षो नाम पशोः क्रोडाभिधो हृदयादधःप्रदेश उच्यते। वक्ष एव स्थलं तेन सह वर्तमानः सवक्षस्थलस्तम्। पुनः किं कुर्वन् मत्स्यः? अतुलमुखात् फेनराशिं वमन्, न विद्यते तुला-साम्यं यस्य महत्त्वात्तदतुलं, अतुलं च तन्मुखं च अतुलमुखं तस्मात् फेनानां-डिण्डीराणां राशिः-समूहः फेनराशिस्तं। वमन्निति 'टुवमु उद्गिरणे' शतृप्रत्ययः। वमतीति वमन् वमनोक्त्या वेगातिशयकृतं फेनबाहुल्यं ध्वन्यत इति भावः॥८॥

[पद्यस्यास्य गुणविनयकृता टीका नोपलभ्यते]

यं दृष्ट्वा मीनरूपं स्फुरदनलशिखायुक्तसंरक्तनेत्रं,
लोलद्विस्तीर्णकर्णक्षुभितजलनिधिं नीलजीमूतवर्णम्।
श्वासोच्छ्वासानिलौघैः प्रचलितगगनं पीतवारिं मुरारिं,
दिङ्मूढोऽभूत् स शङ्खः स भवतु भवतां भूतये मीनरूपः॥९॥

(टीका०)—यं दृष्ट्वा मीनरूपमिति। स मीनरूपो मुरारिर्भवतां भूतये-समृद्ध्यै भवतु। मीनस्य रूपं-मूर्त्तिर्यस्य स तथा। सम्यक् ऋद्धिः समृद्धिरक्षीणधनतेत्यर्थस्तस्यै। स कः? यं मीनरूपं मुरारिं दृष्ट्वा स शंखो दिङ्मूढः-कान्दिशीकोऽभूत्। पीनं-स्थूलं रूपं यस्य स तम्। दिक्षु मूढो दिङ्मूढो विचेता इत्यर्थः। कीदृशं मीनम्? स्फुरदनलशिखायुक्तसंरक्तनेत्रं अनलः-अग्निस्तस्य शिखाः-ज्वालाः स्फुरन्तीति, स्फुरन्त्यः-देदीप्यमानाश्च ता अनलशिखाश्च ताभिर्युक्तः, अत एव सम्यक् रक्ते नेत्रे यस्य स तम्। अपरं किम्भूतम्? लोलद्विस्तीर्णकर्णक्षुभितजल निधिं लोलन्तौ-चंचलायमानौ विस्तीर्णौ-विशालौ यौ कर्णौ-श्रोत्रे ताभ्यां क्षुभितः चलितो जलनिधिर्यस्मात् स तथा तम्। पुनः कीदृशं? नीलजीमूतवर्णं-सजल-

जलदश्याममित्यर्थः। पूर्वं मृणालकोमलतनुरिति श्वैत्यं अधःप्रदेशाभिप्रायेणोक्तं, इह पुनः श्यामता तूपरितनभागाभिप्रायेण विरोधः। अपरं किम्भूतम्? श्वासोच्छ्वासानिलौघैः प्रचलितगगनं श्वासाः-स्वाभाविकाः प्राणवायवः, उच्छ्वासाः-तत्कालीनावगतकृतदैर्घ्ययुक्ताः प्राणवायवः, श्वासाश्च उच्छ्वासाश्च श्वासोच्छ्वासाः, अनिलानां ओघाः अनिलौघाः, श्वासोच्छ्वासा एव अनिलौघाः श्वासोच्छ्वासानिलौघाः तैः कृत्वा प्रचलितं-आन्दोलितं गगनं येन स तम्। चलिर्णिजन्तभावितो ज्ञेयः। गगनशब्देनेहान्तरिक्षनिवासिनो देवविशेषा लक्ष्यन्ते शून्यस्य गगनस्य प्रचलनासम्भवात्। अपरं किम्भूतम्? पीतवारिं वारिशोषणसामर्थ्योक्त्या किं नाम दैत्यदमनमिति विचित्रशक्तियोगोऽस्य ध्वन्यते। पीतानि-आस्वादितानि वारीणि-जलानि येन स पीतवारिस्तं। अपरं किम्भूतम्? मुरारिं मुरो नाम दैत्यविशेषः-तस्यारिः-हन्ता तम्। अनेन स दृप्तदैत्यदानवादिशमने लाघवातिशयो व्यज्यते इति भावः॥९॥

(गुण०)—यमिति। स मीनरूपो भगवान् भवतां भूतये-लक्ष्म्यै भवतु। स इति कः? यं मीनरूपं मुरारिं दृष्ट्वा-अवलोक्य स शङ्खो दिङ्मूढः-अस्वस्थचित्तो[1] व्याकुलोऽभूत्-बभूव। किं विशिष्टं[2] हरिम्? स्फुरदनलशिखायुक्तसंरक्तनेत्रम्, स्फुरन्ती [3]'स्फुर स्फुरणे' अयं धातुः कुटादिषु तुदादौ वर्ततेऽतः 'शीनद्योर्वा नुम्' स्यादिति[3]। अनलशिखायुक्ते संरक्ते-लोहिते नेत्रे यस्य स तम्। पुनः कीदृशम्? लोलद्विस्तीर्णकर्णक्षुभितजलनिधिं लोलद्विस्तीर्णकर्णाभ्यां-चलत्पृथुकर्णाभ्यां[4] क्षुभितो[5] जलनिधिर्यस्मात् स तं, [6]इति कर्णमहत्त्वम्[6]। पुनः किंविशिष्टम्[7]? नीलजीमूतवर्णं-नीलमेघवर्णं[8]। पुनः किंविशिष्टम्[9]? श्वासोच्छ्वासानिलौघैः-श्वासोच्छ्वासवायुसमूहैः प्रचलितं गगनं यस्मात् स तं। [10]गगनं कस्मात् प्रचलितम् इत्यत आह[10]। पुनः किंविशिष्टम्[11]? पीतवारिं-पीतं वारि-जलं येन स तं। [12]भवति हि जलपानानन्तरं श्वासोच्छ्वासमोचनम्[12]॥९॥

दिङ्मूढं तं सुरारिं किल शितदशनैः पीडयमानं रटन्तं,
हत्वा[13] तीरे पयोधेः करतलकलितं पूरयामास शङ्खम्।
नादेनाक्षोभ्य विश्वं प्रमुदितविबुधं त्रस्तदैत्यं स देवै-[14]
र्दत्तार्घः पद्मयोनेः प्रहसितवदनः पातु वो दत्तवेदः॥१०॥

---

१. हं० नास्ति। २ हं० किंलक्षणं। ३-३. हं० पाठो नास्ति। ४. हं० पृथुल०। ५. हं० क्षुभितो उत्कल्लोलत्वं नीतो। ६-६. हं० नास्ति पाठः। ७. हं० किंविधम्। ८. हं० नीलमेघाकृतिं। ९. हं० कीदृशं। १०-१०. हं० नास्ति पाठः। ११. हं० किंलक्षणम्। १२-१२. हं० नास्ति पाठः। १३. कीकाटीकायां हत्वा इति पाठः। १४. कीकाटीकायां 'देवो' इति पाठः।

(कीका०)—दिङ्मूढं तम्। स तादृशमीनरूपो देवो वः-युष्मान् पातु-रक्षतु। किम्भूतः सः? दत्तार्घः दत्तः अर्घो यस्मै स दत्तार्घः, अर्थान्नरसुरमुनि-जनैरिति बोध्यम्। देवैरिति पाठे स इत्यनेनैव प्रकृतपरामर्शित्वात् देव इति लप्स्यत इति कृतमध्याहारेण। अपरं किम्भूतः? पद्मयोनिर्दत्तवेदः नारायणना-भिपद्मं योनिः-उत्पत्तिस्थानं यस्य स पद्मयोनिस्तस्य, सम्प्रदानत्वविवक्षाभावात् न चतुर्थी, दत्ताः-शंखासुरात् प्रहृत्य[1] प्रदत्ता वेदा येन स दत्तवेदः। पुनः किम्भूतः? प्रहसितवदनः कृतकार्यत्वेन सस्मितमुख इत्यर्थः। स कः? यो भगवान् किलेति पुरावृत्तकथने तं तादृशवीर्यं सुरारिं शंखं शितदशनैः-तीक्ष्णदन्तैः पीडयमानं अत एव रटन्तं-आर्त्तमिव शब्दायमानं पयोधेः-समुद्रस्य तीरे हृत्वा-हिंसित्वा शंख-प्रसिद्धशंखाकृति तदस्थिपुटं करकलितं-हस्तधृतं स तं पूरयामास-आपूरितवान् दृश्यते। एभिस्ते दशनाः शितास्तीव्राश्च ते दशनाश्च शितदशनास्तैः पीड्यते इति पीडयमानस्तं मर्मसु संमर्द्यमानमित्यर्थः। रटशब्दे शतृप्रत्ययः। तीरे हृत्वा[2] नीत्वेति जीर्णाः तदसत्, तीरशब्दगतसप्तम्या[3] सहानन्वयात्, हननक्रिया-साकांक्षत्वाच्चेति हत्वेत्येव पाठं युक्तमुत्पश्यामः। पयांसि धीयन्ते यस्मिन् स पयोधिस्तस्य करयोस्तले करतले करतलाभ्यां कलितः करकलितस्तम्[4]। किम्भूतं शंखम्? नादेन विश्वं आक्षुभ्य प्रमुदितविबुधं स्वदरोत्पन्नशब्देन[5] जगदाक्षुब्धं संचलितं कृत्वा हर्षितदेवमित्यर्थः। अपरं किम्भूतं? त्रस्तदैत्यम् दितेरपत्यानि दैत्यास्त्रस्ता दैत्या यस्मात् स तथा तम्। अत्रापि विशेषणे नादेनेत्यविशेषात् संगच्छत एव ॥१०॥

(गुण०)—दिङ्मूढं तमिति। स मीनरूपो देवः वः-युष्मान् पातु-रक्षतु। [6]किम्भूतः? देवैः दत्तार्घः-अवतीर्णपूजाविशेषः[6]। पुनः किम्भूतः? प्रहसितवदनः प्रहसितं प्रकर्षेण हसो-हास्यं जातोऽस्येति तत् प्रहसितं-सुस्मितोपेतं वदनं-आननं यस्य स, ईदृग्विधः सन् पद्म-योनेः-ब्रह्मणो दत्तवेदः दत्ता वेदा येन सः। [7]अयमाशयः ब्रह्मणा पूर्वं वेदेष्वपहृतेषु सुरारेरग्रे कथितं शखेन वेदा अपहृताः। ततो मीनं रूपं धृत्वा तं हत्वा ब्रह्मणा अर्घे दत्ते तस्मै वेदानदात्[7]। स इति कः? यो भगवान् तं दिङ्मूढं-कान्दिशीकं सुरारिं-दैत्यं किलेति-निश्चये शितदशनैः-तीक्ष्णदन्तैः पीडयमानं अत एव रटन्तं-आक्रन्दं कुर्वाणं पयोधेः-समुद्रस्य तीरे-तटे हृत्वा-नीत्वा करतलकलितं-पाणितलधृतं शङ्खं-पाञ्चजन्यं पूरयामास-वादयामासेत्यर्थः। किम्भूतं शङ्खं? नादेन-शंखारवेण विश्वं-जगत् आक्षोभ्य-क्षोभमापाद्य प्रमुदितविबुधं प्रमुदिता

---

१. ब. प्रत्याहृत्य। २. अ. कृत्वा। ३. ब. सप्तम्यां। ४. ब. करतलितस्तं। ५. ब. स्वेदरोत्पन्नशब्देन। ६–६ हं० पाठो नास्ति। ७–७. हं० नास्ति पाठः।

अन्तर्भूतण्यर्थत्वात्[1] प्रमोदं प्रापिता विबुधाः-देवा येन स तम्। पुनः किंविशिष्टम्[2] ? त्रस्तदैत्यं त्रस्ताः-भयाकुलाः दैत्या यस्मात्स तम्[3] ॥१०॥

हं हो ! मीनतनो ! हरे ! किमुदधे ! किं कम्पसे शैत्यतः,[4]
स्विन्नः किं वडवानलात् पुलकितः कस्मात्स्वभावादहम्।
इत्थं सागरकन्यकामुखशशिव्यालोकनेनाधिक-
प्रोद्यत्कामजचिह्ननिह्नुतिपरः शौरिः शिवायाऽस्तु वः ॥११॥

(कीका०)—हं हो इति। शार्दूलविक्रीडितम्। जीर्णैरनुपात्तमपि प्रकरणपतितत्वाद् व्याख्यायते। इह पद्ये जामातुर्हरेर्मूर्त्तिमतः समुद्रश्वसुरस्य पुरतः लक्ष्मीदर्शनसमुत्पन्नसात्विकाख्यभावसंगुप्तिर्वर्ण्यत इति समस्तार्थः। अथैकपदनिरुक्तं, शौरिः—तत्क्षणप्रकटितचतुर्भुजादिश्रीमूर्त्तिपरमेश्वरः वः—युष्माकं शिवाय—कल्याणायाऽस्तु। किम्भूतः शौरिः ? इत्थं वक्ष्यमाणप्रकारेण सागरकन्यकामुखशशिव्यालोकनेन कृत्वाऽधिकप्रोद्यत्कामजचिह्ननिह्नुतिपरः, सागरस्य कन्यका सागरकन्यका—लक्ष्मीः शशोऽस्यास्तीति शशी, मुखं शशी वेति मुखशशी, सागरकन्यकायाः मुखशशी सागरकन्यकामुखशशी, भावितचित्ततया विशिष्टमालोकनं-व्यालोकनं, सागरकन्यकामुखशशिनो व्यालोकनं-दर्शनं सत् तेन तथा। कामाज्जातानि कामजानि,कामजानि च तानि चिह्नानि च कामजचिह्नानि, वक्ष्यमाणकम्पस्वेदादीनि अधिकं—अतिमात्रं यथा स्यात्तथा प्रकर्षेण उद्यन्ति—आविर्भवन्ति च तानि कामजचिह्नानि च अधिकप्रोद्यत्कामजचिह्नानि तेषां निह्नुतावलापे परः सादरः स तथा। इत्थं कथमित्याह—हं हो इति, अयं निपातो भोशब्दप्ररूपकः[5] सम्बोधनाभिव्यञ्जकः समुद्रः सम्बोधयति, हं हो—हे मीनतनो ! हे मत्स्यमूर्ते ! हरे! ,हरिः प्रत्याह—किमुदधे इति। पुनः समुद्रो आह—किं कम्पसे इति, महतः कम्पस्य किं ते कारणमिति प्रश्नः। अथोत्तरयति—शीतल इति युगान्तवातव्याहतमहोर्मिमालाकुलत्वदवगाहजनितशीतादयं कम्पभर इत्यपह्नुतिः। प्रश्नान्तरमवतारयति—स्विन्नः किमिति, तेजस्तिमिरयोरिव। शीतस्वेदयोः सहावस्थानविरोधादिति भावः। समाधत्ते—वडवानलादिति, यथा त्वयि शीतकारणं तथैव[6] वडवानलः स्वेदकारणमपि वर्तत एवेत्यर्थः। अपरं प्रश्नमुद्भावयति—पुलकितः कस्मादिति,

---

१. हं० अन्तर्भूतपूर्णार्थत्वात्। २. हं० किंभूतं। ३. हं० प्रतौ अग्रे—पुनः किंविधः सः दैवैर्दत्तार्घः सुरैः कृतपूजोपहारः। ४. कीकाटीकायां शीलतः इति पाठः। ५. ब. ०प्रतिरूपकः। ६. ब. वर्णितं तथैव।

पुलकाः-रोमाञ्चा वा संजाता यस्य स पुलकितः। प्रत्युत्तरयति—स्वभावादहमिति, नानादैत्यदमनहर्षभरेण प्रकृत्यैवाहं रोमाञ्चितोस्मीति नान्यत्पुलककारणमिति निह्नुत्यन्तरम् ॥११॥

इति मीनावतारः।

(गुण०)—हं हो मीनेति। व्याख्या—इत्थं-पूर्वोक्तप्रकारेण सागरकन्यकामुखशशिव्यालोकनेन-लक्ष्मीमुखचन्द्रवीक्षणेन अधिकानि प्रोद्यन्ति यानि कामजचिह्नानि तेषां या निह्नुतिः-अपनयन[1] तत्र परः-सावधानः शौरिः-शूरस्यापत्यं शौरिः 'अत इञ्' इति इञ् अपत्येऽर्थे, वः-युष्माक शिवाय-कल्याणाय अस्तु। इत्थमिति कथम्[2] ? हं हो ! इति सम्बोधने, समुद्रः प्राह-भो मीनतनो[3] ! हरे ! इति सम्बोधनीकृते हरिराह-हे उदधे ! किं पृच्छसीति शेषः। इत्युक्ते समुद्र आह-किं कम्पसे ? हरिराह-शैत्यतः-समुद्रोत्थशीतलसमीरणस्पर्शात्। पुनराह समुद्रो हरिं प्रति—तर्हि स्विन्नः-परिस्वेदाकुलः किम् ? हरिराह-वडवानलात्-वडवाग्नेरुष्णत्वात्तत्संयोगे स्वेदः सम्भवतीति। पुनः प्रश्नितस्तेनाब्धिना[4]-कस्मात् पुलकितः-रोमाञ्चितः ? हरिरूचे—स्वभावात् अहं हरिः पुलकितः। यत एते भावाः कामिनां कामिनीमुखावलोकनाज्जायन्ते तत्र च[5] हरेरपि समुद्रमथनादुद्भूतायाः लक्ष्म्याः एते भावाः समुत्पेदिरे, परं श्वसुरस्य ह्रिया तान् भावान् हरिरपजुह्नवे[6] इति ॥११॥

[7]इति श्रीगुणविनयविरचितायां खण्डप्रशस्तिवृत्तौ
मीनावतारहरिवर्णनव्याख्या[7] ॥१॥



१. हं० अपलपनं। २. हं० किं। ३. हं० भीमतनो। ४. हं० पृश्नितं तेन। ५. हं० नास्ति। ६. हरिरपनुह्नवे। ७–७ हं० इति श्रीमीनावतारहरिवर्णनव्याख्या खण्डप्रशस्तौ ज्ञेया।

२. अथ कूर्म्मावतारः

योधत्ते शेषनागं तदनु वसुमतीं स्वर्गपातालयुक्तां,
युक्तां सर्वैः समुद्रैर्हिमगिरिकनकप्रस्थमुख्यैर्नगेन्द्रैः।
एतद्ब्रह्माण्डमस्यामृतघटसदृशं भाति वंशे मुरारेः,
पायाद्वः कूर्मदेहः प्रकटितमहिमा माधवः कामरूपी ॥१॥

(कीका०)—अथ स्रग्धरावृत्तेन क्रमप्राप्तं कूर्मवर्णनमुपक्रमते—यो धत्ते इति। यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् यच्छब्दाक्षिप्तस्तच्छब्दोऽध्याह्रियते। स कामरूपः-स्वेच्छामूर्त्तिधारी माधवो वः-युष्मान् पायाद्-रक्षतु। कामेन-भक्तेच्छया रूपं-लीलाविग्रहो यस्य स कामरूपः। तथा च स्मर्यते—

तान्येव तेऽभिरूपाणि रूपाणि भगवंस्तव।
यानि यानि च रोचन्ते स्वजनानामरूपिणः॥

इति। मा-लक्ष्मीः 'इन्दिरा लोकमाता मा क्षीरोदतनया रमा।' इति त्रिकाण्डीस्मरणात्। तस्या धवः-पतिर्माधवः। किंविशिष्टो माधवः? कूर्म्मदेहप्रकटितमहिमा कूर्मस्य देहः कूर्मदेहः, कूर्मदेहेन प्रकटितः-आविष्कृतो महिमा त्रैलोक्यधारणलक्षणं माहात्म्यं येन स तथा। अयमर्थः शतपथे ब्राह्मणे श्रूयते—'कूर्म्ममुपदधातीति उपक्रम्य तस्य यदधरं कपालमयं स लोकस्तत्प्रतिष्ठितमिव भवति प्रतिष्ठित इव ह्ययं लोकोऽथ यदुत्तरं सा द्यौः।' इत्यादि। तदेव विशदयति—यो धत्ते इति। यः कूर्म्मः शेषनागं-अनन्तं धत्ते-धारयति तदनु-पश्चात् स्वर्गपातालयुक्तां वसुमतीं-पृथ्वीं च धत्ते, वसु-धनं विद्यते यस्यां सा वसुमती तां, स्वर्गश्च पातालं च स्वर्गपाताले ताभ्यां युक्ता ताम्। किम्भूतां वसुमतीम्? सर्वैः समुद्रैर्हिमगिरिकनकप्रस्थमुख्यैर्नगेन्द्रैश्च युक्तां-सहिताम्। समुच्चयार्थश्चकारोऽध्याहारः। सर्वैरिति सप्तापि समुद्रा विवक्ष्यन्ते। हिमगिरिः-हिमाचलः कनकस्य प्रस्थानि यस्यासौ कनकप्रस्थः-मेरुः, हिमगिरिश्च कनकप्रस्थश्च हिमगिरिकनकप्रस्थौ तौ मुख्यौ येषां ते तथा तैः। नगानां इन्द्राः नगेन्द्रास्तैः। किञ्चास्य कूर्माकारस्य मुरारेर्वंशे-पृष्ठदेशे एतत् प्रसिद्धं समष्टिव्यष्ट्यात्मकं ब्रह्माण्डं अमृतघटसदृशं-सुधाकलशसन्निभं भाति-दीप्यते। मन्थनसमये किल सागराद-

मृतघट उत्पन्न इति सान्निध्यात् युक्तं तेनोपमानम् । इह श्लेषेण 'पिण्डब्रह्माण्डयोरैक्यं' इति न्यायात् कूर्म्मः-कूर्म्माकारमाधारचक्रमुच्यते । तत्पक्षे मोक्षद्वारं पिधाय सुप्ता कुण्डलिनीशक्तिः शेषनाग उच्यते । तथा च योगतन्त्रेऽभिहितम्—

अहङ्कारो धियं ब्रूते मा सुप्तं प्रतिबोधय ।
उत्थिते परमानन्दे न त्वं नाऽहं न वै जगत् ।।'

इति । तस्याधारचक्रे आधेयत्वात् तेन धरणं वसुमती स्थूलशरीरं स्वर्गो नाभेरुत्तरः कायस्तदधरः पादतलपर्यन्तः पातालं, हिमगिरिरुत्तरपार्श्वास्थीनि कनकप्रस्थो मेरुदण्डः प्रसिद्धः । 'अमृतं नाम आकाशवत् सर्वगतश्च नित्य' इत्यादौ श्रुतं योगिभिर्निर्बीजसमाधिगम्यम् । परमात्मवस्तूच्यते—'तद्घटो ब्रह्मरन्ध्रादिविशिष्टं शिरः' इति यथायथं अध्यात्मपक्षेप्यूह्यम् ।।१।।

(गुण)—अथ कूर्माकृतेर्भगवतो वर्णनम्—यो धत्ते इति । व्या०—स कूर्मदेहः[१]कूर्मः-कमठस्तस्य देहः-शरीरं यस्येति कूर्मावतार इति यावत्[१], माधवो वः-युष्मान् पायात्-रक्षतु । किंविशिष्टः ? प्रकटितमहिमा प्रकटितो महिमा-माहात्म्यं येन सः । पुनः किंविशिष्टः[२] ? कामरूपी कामेन-इच्छया रूपमस्यास्तीति स्वेच्छाचारीति भावः ।[३] यद्वा, कामः-पुष्पधन्वा तद्वद्रूपं अस्यास्तीति मनोहर इति यावत्[३] । स इति कः ? यः शेषनागं धत्ते पृष्ठे इति शेषः । तदनु-तदुपरि स्वर्गपातालयुक्तां[४] वसुमतीं-पृथ्वीं धत्ते । किंविशिष्टां तां[५] ? सर्वैः समुद्रैः[६], तथा हिमगिरिः-हिमाचल; कनकप्रस्थः-कनकाचलस्तावेव मुख्यौ-प्रधानौ येषां ते तैर्नगेन्द्रैः-पर्वतराजैः युक्तां-सहितां[७], तथा अस्य-मुरारेः वंशे-पृष्ठे एतद्ब्रह्माण्डं अमृतघटसदृशं भाति-पीयूषकुम्भोपमं शोभते । यतोऽब्धिमथनसमये किल सागरादमृतघटः समुत्पन्नः, इति प्रसिद्धिः । स हरिः पायादिति ।।१।।

निःप्रत्यूहमनल्पकल्पचरितस्त्रैलोक्यरक्षागुरुः[८],
क्रीडाकूर्मकलेवरः स भगवान् दिश्यादमन्दां मुदम् ।
कल्पान्तोदधिमध्यमज्जनवशाद्व्यासर्पतः संलुठत् ,
पृष्ठे यस्य बभूव सैकतकणच्छायं धरित्रीतलम् ।।२।।

(कीका०)—निःप्रत्यूहमिति । स क्रीडाकूर्म्मकलेवरः - मायाकमठलीलाविग्रहधारी भगवान् अमन्दां-अतिघनां मुदं-प्रीतिं दिश्यात्-ददातु, अर्थात् युष्मा-

---

१–१. हं० पाठो नास्ति । २. हं० किंविधः । ३–३. हं० पाठो नास्ति । ४. हं० नास्ति । ५. हं० किंभूतं भुवं । ६. हं० समुद्रैर्युक्तां । ७. हं० युतां । ८. कीकाटीकायां-निःप्रत्यूहमनल्पकल्पचलितत्रैलोक्य० इति पाठः ।

कमित्यध्याह्रियते । किंलक्षण: ? नि:प्रत्यूहं–निर्विघ्नं यथा स्यात्तथा अनल्पचलितत्रैलोक्यरक्षागुरु: अनल्पा:–बहुलाश्च ते कल्पा:–युगान्ताश्च तेषु चलितं–व्यत्यस्तं यत्त्रैलोक्यं तस्य रक्षायां गुरु:–उपदेष्टा । दैनन्दिनप्रलये हि शेषमुखोत्थितानलेन भस्मितं त्रैलोक्यं पुनरयं कूर्म्म: संजीवयतीति पुराणप्रक्रिया । स क: ? यस्य कूर्मस्य पृष्ठे धरित्रीतल-भूमिमण्डलं संलुठत्–संचलत् सत् सैकतकणच्छायं-बालुकैककणसदृशं बभूव । सिकतानां समूह: सैकतं, सैकतस्य कण: सैकतकणस्तस्येव छाया–कान्तिर्यस्मिन् तत्तथा सम्यगसंकीर्णतया लुठतीति संलुठत् । किम्भूतस्य ? यस्य कल्पान्तोदधिमध्यमज्जनवशाद् व्यासर्पत: कल्पस्य अन्त: कल्पान्त:, तत्र उद्वेलो य उदधि: तन्मध्ये मज्जनं यद् ब्रुडनं तद्वशाद् व्यासर्पत: विविधं आ–समन्तात् कूर्म्मजात्युचितक्रीडानुरोधेन सर्पत: - पातालतलमवलम्ब्य गच्छत इत्यर्थ: ।।२।।

(गुण०)—नि:प्रत्यूहेति । व्या०—क्रीडाकूर्मकलेवर: क्रीडया कूर्माकारं कलेवरं–शरीरं यस्य स, भगवान् अमन्दां–अतुच्छां मुदं–हर्षं दिश्यात्–देयात्[1] । नि:प्रत्यूहं–निर्विघ्नं यथा स्यात्तथेति क्रियाविशेषणम् । किंविशिष्ट: ? अनल्पकल्पचरित: अनल्पं–बहु कल्पे युगान्ते चरितं यस्येति । पुन: कीदृश: ? त्रैलोक्यरक्षागुरु: त्रैलोक्यस्य–त्रिभुवनस्य रक्षायां गुरुरिव गुरु: । तथा यस्य–कूर्माकारस्य पृष्ठे संलुठत्-परिभ्रमत्[2] । धरित्रीतलं सैकतकणच्छायं सिकता–बालुका तस्या अय सैकतो य: कण:–लेश: तच्छायं–तच्छोभं[3] बभूव । [4]पूर्ववृत्तिकृता तु सिकता–रेणुस्तस्या इमे सैकता ये कणास्तेषां छायेति छायाबाहुल्ये इति क्लीबत्वमित्यूचे । अयं भाव:, यदा कल्पान्ते समुद्रमध्ये भूर्मग्ना तदा अनेन भूरुद्धृत्य वंशेन नीता, तत एवमभूदिति[4] । किं विशिष्टस्य हरे: ? कल्पान्तोदधिमध्यमज्जनवशाद् व्यासर्पत: कल्पान्तोदधेर्यन्मध्यं तत्र[5] यन्मज्जन तद्वशात् व्यासर्पत:–प्रसरत इति[6] ।।२।।

भ्रमति गिरिराट् पृष्ठे गर्जत्युपर्यति सागरो,
दहति विततज्वालाजालो जगन्ति विषानल: ।
स तु विनिहितग्रीवाकाण्ड: कटाहकटोदरे,
स्वपिति भगवान् कूर्मो निद्राभरालसलोचन: ।।३।।

(कीका०)—भ्रमतीति । हरिणीवृत्तम् । स भगवान् कूर्म्मो निद्राभरालसलोचन: सन् स्वपिति–योगनिद्रावश: शेते इत्यर्थ: । निद्राया: भरो निद्राभरस्तेन अलसे–मन्थरे लोचने यस्य स तथा । स्वपितीति 'ञिष्वप् शये' 'रुदश्च पञ्चभ्य:'

---

१. हं० दद्यात् । १. हं० लुठन् परिभ्रमन् । ३. हं० तत्सदृशं । ४–४. हं० पाठो नास्ति । ५. हं० तत् । ६. हं० नास्ति ।

इतीट् । किम्भूतः सः ? कटाहकटोदरे विनिहितग्रीवाकाण्डः कटाहः–ब्रह्माण्डाकारः स्वकपालद्वयपुटस्तस्य यत्कटं-तटविशेषस्तस्योदरे–मध्ये विशेषेण निहितः–आरोपितो ग्रीवाकाण्डः–कन्धरास्तम्बो येन स तथा । स कः ? तत्सम्बन्धात् यदोऽध्याहारः । यस्य कूर्म्मस्य पृष्ठे गिरिराट् मेरुर्भ्रमति, उपर्युपरितनभागे च सागरो गर्जति, अतिमात्रं शब्दायत एव । तथा विततज्वालाजालो विषानलो जगन्ति-विश्वानि दहति-भस्मीकुर्वन् वर्तत इत्यर्थः । ज्वालानां जालं ज्वालाजालं विततं–विस्तीर्णं ज्वालाजालं यस्मिन् स तथा । विषं चात्रानन्तमुखोत्थं तस्य अनलः–अग्निर्विषानलः । अत्रापि पूर्ववत् आध्यात्मिकोऽर्थः श्लिष्ट उन्नेयः । तदा सागर उदरं समानमन्यत् । ईदृशे विश्वभयावहेऽपि समये यः कूर्म्मः सुखं स्वपितीति सम्बन्धः ॥३॥

(गुण०)—भ्रमतीति । स भगवान् कूर्मः निद्राभरालसलोचनः निद्राभरेण–तन्द्रातिशयेन[१] अलसे–मन्थरे लोचने–नेत्रे यस्य स निद्राभरालसलोचनः स्वपिति–शेते, 'ञिष्वप् शये[२]' । किंविशिष्टः कूर्मः ? कटाहकटोदरे–ब्रह्मकटाहतटे विनिहितग्रीवाकाण्डः विनिहितः–न्यस्तः ग्रीवाकाण्डः–गलनालं येन सः । तथा यस्य पृष्ठे गिरिराट्–हिमगिरिर्भ्रमति–चलति[३], तथा यस्योपरि सागरः–समुद्रो अतिगर्जति–गाढं गर्जारवं कुरुते. तथा यस्य पृष्ठे विषानलः–[४]विषयुक्तोऽनल इति मध्यमपदलोपी समासः[४]. अर्थाद् युगान्तानलः जगन्ति–त्रिभुवनं दहति–प्लुष्यति[५] । किम्भूतो विषानलः ? विततज्वालः वितता–विस्तीर्णा ज्वाला यस्य स । एवंविधसमये कूर्मः स्वपिति । [६]यदा देवासुरैः सागरो ममन्थे तदा कूर्मोऽधो बभूव, मन्दरः विलोडकोऽभूत्, विषं चोत्पन्नं, तथाऽपि निद्रा यस्य न गतेति बलविशेषवर्णनम् ।[६]

अत्र पृष्ठे 'गर्जत्युपर्यति सागरः इति पाठावलोकनादेतट्टीकानुयोजनावलोकनाच्चास्माभिरतिगर्जतीत्येतदन्वयोऽन्यथा[७] "उपसर्गाः क्रियायोगे–प्रादयः क्रियायोगे उपसर्गसंज्ञाः स्युरिति" कौमुदीप्रक्रियावचोऽनुस्मरणाद् विरोध एव सम्भाव्यते । नहि सुकविरप्येवंविधं पदं प्रयुञ्जीत । यथा "न हि जेतुं प्रजनि भवेत् स्मर" इत्यत्र प्रभवेदिति योजनानुयुक्त्या स्फुरतीति चर्चालिशः। अत्रैतत् समाधानमप्युच्यते—यस्य येनान्वयस्तेन दूरस्थेनाप्यनुयोजनमिति वचनप्रामाण्यात् क्वचिदुपसर्गस्य व्यवधानत्वेऽपि क्रिययानुयोगो घटते[८] । [९]तथा च माघेऽपि–"वारुणीमदविशंकमथा विश्वचक्षुषोऽभवदसाविव रागः" इति । यद्वा, उपसर्गप्रतिरूपकत्वात् समाधानीयमिति ।

क्वचित्' भ्रमति गिरिराट् पृष्ठे, गर्जत्युपर्यपि सागरः' इति पाठस्तत्र गिरिराट्-मन्दरः पृष्ठे–वशे भ्रमति उपर्यपि सागरः गर्जतीत्यादि । हरिणीछन्दः[९] ॥३॥

---

१. ह० नास्ति । २. हं० धातुरिति अधिकः । ३. हं० नास्ति । ४–४. हं० नास्ति पाठः । ५. हं० ज्वालयति । ६–६. हं० पाठो नास्ति । ७. हं० यथैतत्कथं घटेत यत् । ८. हं० घटत इति । ९–९. हं० पाठो नास्ति ।

भ्राम्यन्मन्दरकन्दरोदरदरीव्यावृत्तिभिर्वारिधेः,
कल्लोलैरलमाकुलं कलयते लक्ष्म्या मुखाम्भोरुहम्।
औत्सुक्यात्तरलाः स्मराद्विकसिता भीत्या समाकुञ्चिताः,
क्रोधेन ज्वलिताः मदान्मुकुलिताः शौरेर्दृशः पान्तु वः ॥४॥

(कीका०)—भ्राम्यन्मन्दरेति। शार्दूलविक्रीडितत्रयम्। तत्र भ्राम्यदिति प्रथमं पद्यं जीर्णैरधृतं भावान्तरवर्णनपरत्वात् प्रक्षिप्तप्रायं ऋजु चेत्यस्माभिरप्युपेक्ष्यत[1] एव ॥४॥

[पद्यस्यास्य गुणविनयकृता टीका नोपलभ्यते]

पुत्रिण्यः कति नाऽत्र सन्ति भुवनेऽभूवन् कियन्त्योऽथवा,
सौभाग्यैकमठी तथाहि कमठी स्त्रीषु प्रशंसास्पदम्।
भग्ने भोगिनि भङ्गुरेषु करिषु भ्रष्टोत्सवे दंष्ट्रिणि,
क्षोणीं साहसिकाग्रणीस्तुलयितुं जागर्त्ति यस्याः सुतः ॥५॥

(कीका०)—पुत्रिण्य इति। अस्मिन् भुवने पुत्रिण्यः—सत्पुत्रवत्यः कति स्त्रियो[2] न सन्ति? अपि तु बह्व्योऽपि विद्यन्ते। अथवा कियन्त्यः पुत्रिण्यो नाऽभूवन्? अपि तु बह्व्योऽपि[3] बभूवुः। तथाऽप्येवं सत्यपि कमठी—कच्छपी स्त्रीषु मध्ये प्रशंसास्पदं—स्तुतिपात्रं, सत्पुत्रिणीपरिगणने सैव कमठी वर्णनीयेति भावः। प्रशंसायाः आस्पदं प्रशंसास्पदं, अजहल्लिङ्गत्वात् स्त्रीविशेषणम्। किंविशिष्टा कमठी? सौभाग्यैकमठी सौभाग्यस्य एकं—असाधारणं स्थानं भूमिकेत्यर्थः। अतः परं भाग्यवती स्त्री काऽपि न दृश्यत इति भावः। यस्याः कमठ्याः सुतः—कूर्म्मः क्षोणीं—पृथ्वीं तुलयितुं—धारयितुं जागर्त्ति—जागरूकः सोद्यमो वर्तते। किम्भूतः? साहसिकाग्रणीः साहसं—संग्रामस्तत्र साधवः—साहसिकाः सुभटास्तेष्वग्रणीः—मुख्य इत्यर्थः। क्व सति क्षोणीं तुलयितुं जागर्त्तीत्याह—भोगिनि—शेषनागे भग्ने—अक्षमे सति। पुनः केषु सत्सु? करिषु—ऐरावतादिदिग्गजेषु भङ्गुरेषु—भङ्गशीलेषु सत्सु। पुनः क्व सति? दंष्ट्रिणि श्रीवराहे भ्रष्टोत्सवे निरुद्यमे सति भोगिनीति, 'भोगः सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययोः' इत्यमरः। स भोगफणः कायो वाऽस्यास्तीति भोगी तस्मिन्। भङ्गुरेष्विति 'भञ्जभासमिदो घुरच्'। कराः—

१. अ. उपेक्षित। २. अ. 'स्त्रिया'। ३. ब. बाह्वोऽपि।

शुण्डदण्डाः सन्त्येषां ते करिणः तेषु भ्रष्टः—नष्ट उत्सवो यस्य स तथा । आयुधरूपेण दंष्ट्रे विद्येते यस्य स दंष्ट्री तस्मिन् । शेषनागादिषु पृथ्वीं धारयितुं प्रलयवशेनाशक्तेषु सत्सु यस्याः सुतः एकः पृथ्वीं धत्ते सैव कूर्म्मी स्तुत्येति समस्तार्थः ।।५।।

(गुण०)—पुत्रिण्य इति । यस्याः—कमठ्याः सुतः—कूर्मः[1] क्षोणीं—धरित्रीं तुलयितुं—तुलां रोपयितुं धारयितुमित्यर्थः, जागर्त्ति । किंविशिष्टः कूर्मः[2] ? साहसिकाग्रणीः साहसिकानां—महाबलानां मध्येऽग्रणीः—मुख्यः । [3]सहसा प्रवर्तत इति साहसिकः[3] । एतदेवाऽभिव्यनक्ति—यत् पुत्रिण्यः—सुतजनन्यः कति—कियंत्यो नाऽत्र भुवने सन्ति—विद्यन्ते । अथवा कियंत्यः पुत्रिण्यो नाऽभूवन्, परं तासु स्त्रीषु यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धात् सा कमठी एव प्रशंसास्पदं—श्लाघामन्दिरम् । किंविशिष्टा कमठी ? सौभाग्यैकमठी सौभाग्यस्य—कीर्त्तेरेका मठी इव या सा सौभाग्यैकमठी । [4]कीर्त्तेराधारभूता—गृहभूतेत्यर्थः[4] । मठः तापसाश्रमस्त्रिलिङ्गः । स्त्रियाः "पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्", समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिष्विति पूर्वस्त्रीप्रत्ययस्य पुंवद्भावः । क्व सति धरित्रीं बभार ? इत्याह—भग्ने भोगिनि—शेषे भूभारासहनाद् भग्ने सति, तथा करिषु—पुष्पदन्तादिषु[5] दिग्गजेषु भ्रष्टसु भङ्गुरेषु—विनश्वरेषु भूभारमुद्धर्त्तुमिति । 'भञ्जभासमिदो घुरच्' इति घुरच् । तथा दंष्ट्रिणि—वराहे भ्रष्टोत्सवे—भग्नोद्यमे जाते सति इति ।।५।।

पृष्ठभ्राम्यदमन्दमन्दरगिरिग्रावाग्रकण्डूयनै-
र्निद्रालोः कमठाकृतेर्भगवतः श्वासानिलाः पान्तु वः ।
यत्संस्कारकलानुवर्त्तनवशाद् वेलाछलेनाम्भसां,
यातायातमतन्द्रितं जलनिधेर्नाऽद्यापि विश्राम्यति ।।६।।

(कौका०)—पृष्ठभ्राम्यदिति । कमठाकृतेः—कूर्म्माकारस्य भगवतः श्रीनारायणस्य ते श्वासानिलाः वः—युष्मान् पान्तु—रक्षन्तु । कमठस्याकृतिर्यस्य स कमठाकृतिः तस्य श्वासा एव अनिलाः श्वासानिलाः । किंविशिष्टस्य भगवतः? पृष्ठभ्राम्यदमन्दमन्दरगिरिग्रावाग्रकण्डूयनान्निद्रालोः, पृष्ठे भ्राम्यतीति पृष्ठभ्राम्यन् तादृश अमन्दः—महान् यो मन्दरगिरिस्तस्य ग्राव्णां—शिलानां अग्रैः कण्डूयनात् हेतोः निद्रावत इत्यर्थः । निद्राऽस्यास्तीति निद्रालुः, 'निद्रातन्द्राश्रद्धाभ्य आलुच्' । ते के श्वासानिला इत्याह—यत्संस्कारकलानुवर्तनवशात् वेलाछलेन जलनिधेः—समुद्रस्य अम्भसांयातायातं—गतागतं, अद्यापि अधुनापि अतन्द्रितं—निरालस्यं यथा स्यात्तथा न विश्राम्यति—नैव विश्रान्ति याति, किन्तु प्राक्तनाभ्यासांशानुवृत्तिबलेनाद्यापि अस्मदादिप्रत्यक्षं वर्तत एवेत्यर्थः । येषां श्वासानिलानां संस्कारः—प्राक्तनाभ्यासस्मृतिबाहुल्यं

---

१. हं० मीनः । २. हं० मीनः । ३–३. हं० नास्ति । ४–४. हं० पाठो नास्ति । ५. हं० नास्ति ।

तस्य कला-अंशः तस्या अनुवर्त्तनं-अनुसरणं तद्वशादित्यर्थः । वेलापर्यन्तं गमनच्छलं वेलाछलं तेन वेलाछलेन, मध्यपदलोपी समासः । यातं च आयातं च यातायातं तन्द्रा-आलस्यं सा सञ्जाता यस्मिन् विश्रमणे तत् तन्द्रितं, न तन्द्रितं अतन्द्रितम् । जलानां निधिः जलनिधिः तस्य जलनिधेः । विश्राम्यतीति 'श्रमु तपसि खेदे च' विपूर्वः, दिवादित्वात् श्यन्, 'शमामष्टानां दीर्घः श्यन्' इति दीर्घः ॥६॥

(गुण०)—पृष्ठभ्राम्येति । कमठाकृतेः-कूर्माकृते[1] भंगवतः-विष्णोः श्वासानिलाः-श्वासवायवः वः-युष्मान् पान्तु-रक्षन्तु । कीदृशः कमठाकृतेर्भगवतः ? पृष्ठभ्राम्यदमन्दमन्दरगिरिग्रावाग्रकण्डूयनैः, कूर्मस्य[2] पृष्ठे-वंशे[3] भ्राम्यन् अमन्दो यो मन्दरगिरिः-मेरुस्तस्य यानि ग्रावाग्राणि तेषु यानि कण्डूयनानि तैः, निद्रालो-शयालोः । [4]निद्रायां च श्वासाः प्रादुर्भवन्ति[4] । तथा यत्संस्कारकलानुवर्त्तनवशात् येषां श्वासवायूनां संस्कारकला आकुञ्चनप्रसारणाद्या तस्या अनुवर्त्तनं-अभ्यासस्तद्वशात् वेलामिषेण[5] जलनिधः-समुद्रस्य अम्भसां-नीराणां[5] यातायातं-गतप्रत्यागतं अतन्द्रितं-सर्वदा स्फुरद्रूपं नाद्यापि विश्राम्यति[6]-विश्रांति याति । [7]समुद्रो वेलां गच्छन्नागच्छन्नद्यापि दृश्यते इति भावः[7] ॥६॥

नमस्कुर्मः कूर्मं नमदमरकोटीरनिकर-
प्रसर्पन्माणिक्यच्छविमिलितमाञ्जिष्ठवपुषम् ।
जरीजृम्भड्डिम्भद्युमणिरमणीयांशुलहरी-
परीरम्भस्फूर्जद्बलभिदुपलाद्रिप्रतिभटम् ॥७॥

इति श्रीकूर्मावतारः ।

(कीका०)—नमस्कुर्म इति । शिखरिणीवृत्तेन नमस्कुर्वन् कूर्म्मवर्णनमुपसंहरति । स्वरूपाज्ञानेन स्तोतुमशक्ता वयमेवंविधं श्रीकूर्म्मं केवलं नमस्कुर्मः—मनोवाक्कायकर्मभिः प्रह्वीभवाम इत्यर्थः । किंविशिष्टं कूर्म्मम् ? 'नमदमरकोटीरनिकरप्रसर्पन्माणिक्यच्छविमिलितमाञ्जिष्ठवपुषं नमन्तीति ।' नमन्तः न म्रियन्ते इत्यमराः, नमन्तश्च ते अमराश्च नमदमरा कोटीशिखरं विद्यते येषु ते कोटीराः-मुकुटाः । रो मत्वर्थे, कोटीराणां निकराः-समूहाः कोटीरनिकराः, नमदमराणां कोटीरनिकराः नमदमरकोटीरनिकरास्तेषां प्रसर्पन्त्यः-प्रसरन्त्यो माणिक्यानां-रत्नानां याः कान्तयः ताभिर्मिलितं-संवलितं माञ्जिष्ठं-आरक्तं वपुः-मध्यशरीरं यस्य स तम् । मञ्जिष्ठेन रक्तं माञ्जिष्ठं 'तेन रक्तं रागात्' इत्यण् । वपुश्शब्द इह

---

१. हं० मत्स्याकृतेः । २. हं० मीनस्य । ३. हं० नास्ति । ४-४ हं० नास्ति । ५-५ हं० नीराणां समुद्रस्य । ६. हं० नास्ति । ७-७. हं० नास्ति पाठः ।

कपालान्तर्गतहस्तांह्रिग्रीवादिवचनः। ब्राह्मकपाले तु इन्द्रनीलसादृशस्य वक्ष्यमाणत्वात् तदेवाह—पुनः[1] किंविशिष्टं कूर्म्मम् ? जरीजृम्भड्डिम्भद्युमणिरमणीयांशुलहरीपरीरम्भस्फूर्जद्बलभिदुपलाद्रिप्रतिभटं, अत्र दरी–गुफेति व्याकृतवता भाषावादिना जरद्गवेन व्याकरणेष्यातिविज्ञान्यं व्यदर्शि। अर्थस्तु 'जृभि गात्रविनामे' अतिशयेन जृम्भते इति जरीजृम्भन् 'धातोरेकाच' इति यङ्, तस्य 'यङोऽचि' चेति लुक्, 'रीगृदुपधस्य वा' इति अभ्यासस्य रीगागमः, ततः शतृप्रत्ययः। डिम्भः–बालोऽर्भकः पोतः इत्यभिधानात्। डिम्भश्चासौ द्युमणिः–सूर्यश्च डिम्भद्युमणिः, जरीजृम्भत् तत्क्षणोदयं भजंश्चासौ डिम्भद्युमणिश्च जरीजृम्भड्डिम्भद्युमणिस्तस्य रमणीया–मनोहरा अंशुलहर्यः–किरणोर्मयस्तासां परीरम्भेण–आश्लेषेण स्फूर्जन् देदीप्यमानो बलभिदुपलाद्रि–इन्द्रनीलमणिपर्वतस्तस्य प्रतिभटं–प्रतिमल्लरूपं नवोनोदयरक्तरविकराक्रान्तेन्द्रनीलमणिगिरिणा सह सादृश्येन स्पर्द्धमानमित्यर्थः ॥७॥

इति कूर्मावतारः।

(गुण०)—नमस्कुर्मं इति। कूर्मं नमस्कुर्मः। [2]'उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी' इति वचनाच्चतुर्थीं बाधित्वा द्वितीयाविभक्तिः। 'नमस्पुरसोर्गत्योः' इति सत्वम्[2]। किं विशिष्टम् ? नमदमरकोटीरनिकरप्रसर्पन्माणिक्यच्छविमिलितमाञ्जिष्ठवपुषम्, नमन्तो ये अमरास्तेषां यानि कोटीराणि–मुकुटानि तेषां यो निकरस्तस्मात्प्रसर्पन्ती–उद्गच्छन्ती निःसरन्ती[3] या माणिक्यच्छविः–कान्ति[4]स्तया मिलितं सत् माञ्जिष्ठं–लोहितं वपुः–शरीरं यस्य स तम्। [5]एतदेवोपमानविशिष्ट[6]विशेषणेनाह—किंविशिष्टं कूर्मम् ? जरीजृम्भड्डिम्भद्युमणिरमणीयांशुलहरीपरीरम्भस्फूर्जद्बलभिदुपलाद्रिप्रतिभटम्, जरीजृम्भत्–प्रतिशयेन विकसन् यो डिम्भः–तरुणो द्युमणिः–[7]सूर्यस्तस्य रमणीया या अंशुलहर्यः–किरणवीचयस्तासां यः परीरम्भः–आश्लेषस्तेन स्फूर्जन्–देदीप्यमानो यो बलभिदुपलाद्रिः–इन्द्रनीलगिरिः[8] तत्प्रतिभटं–तत्प्रतिमल्लं तत्सदृशमिति यावत्, [9]नीलाभत्वात् कूर्मस्य[9]। जरीजृम्भदिति यङ्लुकि शतृप्रत्यये रूपम्। वृत्त्यन्तरे तु दरीजृम्भड्डिम्भेति पाठस्तत्र दर्यां–गुहायां जृम्भन्–उदयं कुर्वन् यो डिम्भ[10] इत्यादि पूर्ववत्। परमयं पाठोऽपपाठ एव आत्मनेपदित्वादेतद्धातोरिति।७॥

[11]'इति श्रीगुणविनयविरचितायां खण्डप्रशस्तिवृत्ती
कूर्मावतारविष्णुवर्णनमिति[11]।

। २ ।

---

१. अ. पुनः। २–२. हं० पाठो नास्ति। ३. हं० नास्ति। ४. हं० नास्ति। ५. हं० तदेव। ६–६. हं० विशिष्टं। ७. ह० श्रीसूर्यः। ८. हं० अस्य स्थाने—'बलभिदः इन्द्रस्य उपलः दृषत् इन्द्रनीलमणिः तस्य अद्रिः पर्वत इन्द्रगिरिः इन्द्रनीलमणिशिखरी, अथ पूर्वाचलः सुमेरुर्वा।' ९–९. हं० नास्ति। १०. हं० डिम्भः–बालरविः। ११–११. हं० इति श्रीकूर्म्मावतारविष्णुवर्णनव्याख्या।

३. अथ वराहावतारः

न पङ्कैरालेपं कलयति धरित्रीव्ययभयात्,
न मुस्तामादत्तेऽप्युरगनगरभ्रंशभयतः ।
न धत्ते ब्रह्माण्डस्फुटनसघृणो घर्घररवं[1],
[2]महाक्रोडः पायादिति सकलसंकोचितमुखः[2] ॥१॥

(कीका०) अथ क्रमप्राप्तं शिखरिणीवृत्तेन वराहवर्णनमुपक्रमते—

न पङ्कैरिति । श्रीवराहो वः-युष्मभ्यं शं-सुखं दिश्यात्-ददतु[3] । 'दिश अतिसर्जने' आशिषि लिङ् । किं विशिष्टः ? इति करुणासंवृतसुखः इति जगद्विषयिणी वक्ष्यमाणा या दया तया हेतुना संवृतं-परिसंकुञ्चितं[4] हृतं वराहजात्युचितं सुखं येन स तथा । इतोति धरित्रीव्ययभयात् पङ्कैः—कर्दमैरालेपनं कलयति *स्वजातिसुखहेतुमपि कर्दममालेपनं नाङ्गीकुरुत इत्यर्थः । अयं वराहो जानीते यद्यहं पङ्कालेपं करिष्यामि तदा मम वपुषोऽतिमात्रत्वात् सकला भूमिरेव व्ययं यास्यतीति दयावशादेव सुखहेतुकर्दमलेपपरित्याग इत्यर्थः । तथा उरगनगरभ्रंशभयतः मुस्तामपि नादत्ते-नाङ्गीकरोति । वराहभक्ष्याणीषत्काठिन्येन परिणतानि स्तम्बमूलानि मुस्तोच्यते । अन्यः किल वराहो भक्ष्यार्थं मुस्तां खनति भगवांस्तु पातालविनाशभयमाशङ्कमानो मुस्तां भक्षणमेव त्यजतीति भावः । उरगाणां नगरं उरगनगरं तस्य भ्रंशः-ध्वंसनं तस्माद् भयं-भीतिः, 'पञ्चम्यास्तसिल्' । अपरं ब्रह्माण्डस्फुटनसघृणः सन् घुर्घुररवं न धत्ते-न बिभर्ति । ब्रह्मणः अण्डं ब्रह्माण्डं तस्य स्फुटनं-नाशः तत्र सघृणः-सदयः । घुर्घुर इति शब्दानुकृतिः स चासो रवश्च तम् । यद्यहमन्यवराहवत् मुक्तकण्ठं घुर्घुरारावं मोक्ष्यामि तदेदं ब्रह्माण्डं स्फुटिष्यति । इत्थं विश्वस्योपरि करुणाभरार्द्रचेताः सन् सामान्यवराहचित्रं कियदपि नादत्तवान् इति भावः ॥१॥

---

१. कीकाटीकायां-घुर्घुररवम् । २-२. कीकाटीकायाम् वि. प्रतौ च—वराहोदिश्याद्वः शमिति करुणासंवृतसुखः इति पाठो समुपलभ्यते, तथा हं प्रतौ—सकलसंकोचिततनुरिति पाठः । ३. ब. ददातु । ४. ब. संकुचितं परिहृतं ।

*ब. प्रतौ विंशतितमं पत्रं नास्ति, अतः *-* चिह्नान्तर्गतपाठो नोपलभ्यते ।

(गुण०)—अथ वराहावताररामवर्णनम्[१]—

न पङ्करिति । महाक्रोडः महांश्चासौ क्रोडश्च महाक्रोडः, 'आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः' महत् आकारान्तादेशः स्यात् समानाधिकरणे पदे जातीये च परे इति महतः आकारान्तादेशे जाते महाक्रोड इति सिद्धम् । पायात्–रक्षतु । इति हेतोः सकलसंकोचितमुखः सकलात्–समस्तात् कृत्यात् संकोचितं–पराङ्मुखीकृतं मुखं येन सः । [२]सकलसंकोचितसुखः इति पाठे इत्यमुना प्रकारेण सकलसंकोचितं–महत्वात्परित्यक्तं सुखं येनेति व्याख्येयम्[२] । इतीति किम् ? यः धरित्रीव्ययभयात्–भूविनाशभयात् पङ्कैः–कर्दमैः कृत्वा आलेपं–अभ्यंगं[३] न कलयति–न कुरुते । यद्यहं धरित्र्यां सामुद्रे पङ्के लुठिष्यामि तदेयं भूर्मद्वपुष्येव लयं यास्यतीति विचार्य कृपया न यः पङ्कालेपं तनुते इति । तथा यः मुस्तां न आदत्ते–न गृह्णाति [४]न भक्षयतीत्यर्थः[४] । अपिशब्दो निश्चये । कस्मात् ? उरगनगरभ्रंशभयतः, चेदहं भुवो मुस्तामुत्खनिष्यामि तदा पन्नगनगरोत्खननमपि भविष्यतीति विमृश्य न तामादत्ते । तथा यः घर्घररव–घर्घर इति शब्द न धत्ते–[५]न करोति[५] । कीदृशः ? ब्रह्माण्डस्फुटनसघृणः, [६]ब्रह्माण्डकटाहस्य यत्स्फुटनं–भङ्गस्तत्र सघृणः[६]–सदयः । यद्यहं अन्यवराहवत् घर्घररवं विधास्ये तदा ब्रह्माण्डस्फोटो भविष्यतीति[७] । अत एव विश्वस्योपरि दयातः इतरवराहचरितं नादृतवान् । [८]आलेपादिना हि वराहस्य सुखं भवति, स यद्यालेपादिकं करोति तदा भ्वादेर्भंगो भवतीति संकोचितसुख इत्युक्तम्[८] ॥१॥

पातु त्रीणि जगन्ति सन्ततमकूपारात् समभ्युद्धरन्,
धात्रीं कोलकलेवरः स भगवान् यस्यैकदंष्ट्राङ्कुरे ।
कूर्मः कन्दति नालति द्विरसनः पत्रन्ति दिग्दन्तिनो,
मेरुः कोशति मेदिनी जलजति व्योमाऽपि[९] रोलम्बति ॥२॥

(कीका०)—पातु त्रीणिति । चत्वारि शार्दूलविक्रीडितानि । स कोलकलेवरः–वाराहमूर्त्तिः श्रीभगवान्–वासुदेवस्त्रीणि जगन्ति–त्रिभुवनं सन्ततं–निरन्तरं पातु–रक्षतु । किं कुर्वन् ? अकूपारात्–समुद्रात् धात्रीं–पृथ्वीं समभ्युद्धरन्–कल्पान्ततोयविलीनां जगतीं सम्यगिति स्फुटनं यथा न भवति तथा आभिमुख्येन उन्नयन् ऊर्ध्वं प्रापयन्नित्यर्थः । समुद्रोऽपि अकूपार उच्यते इति स्मर्यते । स कः ? यस्यैकदंष्ट्राङ्कुरे कूर्म्मः कन्दति कन्दाः–मूलं तद्वत् आचरति

---

१. हं० नास्ति पंक्तिरियम् । २–२. हं० पाठो नास्ति । ३. प्रा. नास्ति । ४–४. हं० नास्ति पाठः । ५–५. हं० नास्ति । ६–६. हं० ब्रह्माण्डस्य यत्स्फुटनं तत्र सघृणः । ७. हं० भावीति । ८–८. हं० पाठो नास्ति । ९. कीकाटीकायां–व्योमेऽपि ।

इति कन्दति 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वाचारः' इति क्विप्, तस्य लोपः, सुब्धातुत्वाल्लट्, लस्य तिप्। समुद्रादुन्नीयमाने पृथ्वीकटाहे तदन्तर्वत्तिपूर्ववर्णितकच्छपः कन्द इवाचचारेत्यर्थः। तथा द्विरसनः-द्विजिह्वः शेषो नालति*-कमलनाल इवाचरति। अत्रापि समष्टि व्यष्टिभेदादध्यात्मपक्षोऽपि श्लिष्ट उन्नेतव्यो हंसैः पयसः क्षीरमिवेत्यलम्। तथा दिग्दन्तिनः-दिग्गजाः पत्रन्ति-कमलगतपत्राणीवाचरन्ति। अध्यात्मपक्षे दशप्राणा दिग्गजाः। तथा च स्मर्यते—

प्राणोऽपानस्तथा व्यानः समानोदानकौ परौ।
नागः कूर्म्मः कृकरको देवदत्तधनञ्जयौ॥

इति। प्राणानां दिग्गजानां च बलोत्सिक्तत्वसाधर्म्यादैक्यप्रतिपत्तिः। अपरं मेरुः कोशति कमले किल कर्णिकाख्यो मध्यदेशः कोशोऽभिधीयते, स इह मेरुः स्वयं सुवर्णपर्वत एवेत्यर्थः। यत्र मेदिनी-पृथ्वी जलजति-कमलमिवाचरति। व्योमापि-गगनमपि रोलम्बति-भ्रमरायते, कमलोपरि किल भ्रमरा उपविशन्ति। नेह व्योमशब्दः शून्यस्वरूपभौतिकाकाशमात्रवचनः चैतन्यधर्मकमधुपेनोपमानात्, किन्तु व्योमवत् व्योमवत् व्योमवत् सर्वगतो नित्यः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्चेतयितोच्यते, सोऽन्तर्यामीवर्णितकमले रोलम्बवत् मधुलवानास्वादयन् वर्तते इति भावः॥२॥

(गुण०)—पात्विति। कोलकलेवरः-वराहावतारः स भगवान् त्रीणि जगन्ति-भूर्भुवःस्वर्लक्षणानि संततं-निरन्तरं पातु। किं कुर्वन्? धात्रीं-भुवं अकूपारात्-समुद्रात् समभ्युद्धरन्। स इति कः? यस्य-क्रोडस्य एकदंष्ट्रांकुरे एकः-अद्वितीयो यो दंष्ट्रांकुरः दंष्ट्रैव अकुरः द्रष्ट्रांकुरस्तस्मिन्, कूर्मः कन्दति-कन्द इवाचरति कन्दति। कूर्मस्य सकलभूभारोद्धरकत्वात् अधःस्थितया अकुरं प्रति कन्दकल्पना घटत इति। तथा यस्य दंष्ट्रांकुरे द्विरसनः द्वे रसने-जिह्वे यस्य स द्विरसनः, सामान्यतः सर्पवाच्यमप्यत्रार्थाच्छेषाहिर्ग्राह्यः। [1]स नालति[1]-नालमिवाचरति नालति। तथैव[2] यस्य दंष्ट्राङ्कुरे दिग्दन्तिनः-दिग्गजाः वामनादयः पत्रन्ति-पत्राणीवाचरन्ति पत्रन्ति। तथा तत्रैव मेरुः-कनकाचलः कोशति कोशः-कोरकः स इवाचरति कोशति, [3]स हि पीतो भवति मेरुरपि[3]। तथा तत्रैव मेदिनी जलजति जलज-कमलं तदिवाचरति जलजति। तथा यस्य दंष्ट्राङ्कुरे व्योम-आकाशमपि रोलम्बति रोलम्बः-भ्रमरः स इवाचरति रोलम्बति, [4]कमले हि भ्रमति भ्रमरकस्तत्स्थानीयत्वं चास्य[4]। अत्र कन्दतीत्यादिषु सर्वत्र 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वाचारः' इति। एके इति क्विप्। [5]क्विपः सर्वस्य लोपः[5]॥२॥

१-१. हं० नास्ति पाठः। २. हं० नास्ति। ३-३. हं० नास्ति। ४-४. हं० नास्ति पाठः। ५-५. हं० नास्ति पाठः।

पातु श्रीस्तनपत्रभङ्गिमकरीमुद्राङ्कितोरःस्थलो,
देवो वः स जगत्पतिर्मधुवधूवक्त्राब्जचन्द्रोदयः ।
क्रीडाक्रोडतनोर्नवेन्दुविशदे दंष्ट्रांकुरे यस्य भू-
र्भाति स्म प्रलयाब्धिपल्वलतलोत्खातैकमुस्ताकृतिः ॥३॥

(कोका०)—पातु श्रीस्तनपत्रेति । स जगत्पतिर्देवो युष्मान् पातु । किम्भूतो देवः ? श्रीस्तनपत्रभङ्गिमकरीमुद्राङ्कितोरस्थलः श्रीः—लक्ष्मीस्तस्या स्तनयोर्या पत्रावली तस्यां या च मकरीमुद्रा—नक्राकारविशेषस्तेनालिङ्गनवशात् अङ्कितं-चिह्नितं उरस्थल यस्य स तथा । अपरं किंलक्षणः ? मधुवधूवक्त्राब्जचन्द्रोदयः मधु:-दैत्यः तस्य वधूवक्त्राब्जानां—स्त्रीमुखकमलानां चन्द्रोदय इव संकोचहेतुरित्यर्थः । यथा चन्द्रोदये सूर्यवंश्यानि कमलानि संकुचितानि[१] तथा तासां मुखानि देवो निःश्रीकानि चकारेत्यर्थः । यद्वा, अब्जशब्दः सोमवंश्यवचन एव, तदा मधवः-यादवविशेषास्तद्वधूवक्त्राब्जानां चन्द्रोदयो विकाशयितेत्यर्थः । न कदाचिदनीदृशं[२] जगदिति न्यायात् भूतपूर्वावतारस्य भविष्यतो वा अष्टमावतारस्याभेदविवक्षया विशेषणमिदम् । स कः ? यस्य क्रीडाक्रोडतनोः—लीलाशूकररूपस्य दंष्ट्रांकुरे भूः—पृथ्वी प्रलयाब्धिपल्वलतलोत्खातैकमुस्ताकृतिर्भाति स्म रेजे, प्रलयकालीनोऽब्धिः प्रलयाब्धिः स एव पल्वलं—अल्पसरः तस्य तलात् उत्खाता एका—केवला या मुस्ता-स्तम्बमूलदण्डः तस्याकृतिरिव आकृतिर्यस्याः सा तथा । किम्भूते दंष्ट्रांकुरे नवेन्दुविशदे नवः—प्रातिपदो वक्रो य इन्दुः तद्वद्विशदे—निर्मले इत्यर्थः ॥३॥

(गुण०)—पात्विति । स देवो जगतां पतिर्जगत्पतिः[३]—विष्णुर्वः—युष्मान् पातु—रक्षतु । कीदृशः[४] ? श्रीस्तनपत्रभङ्गिमकरीमुद्राङ्कितोरःस्थलः श्रियाः—लक्ष्म्याः यौ स्तनौ—कुचौ तयोर्या पत्रभङ्गयः—पत्रलताः कस्तूरिकाविरचितास्तासु या मकर्यः[५] तासां मुद्रया—प्रतिबिम्बेनाङ्कितं—चिह्नितमुरःस्थल-हृदयस्थल यस्य स । को भावः ? यदा हरिणा श्रीः समालिङ्गिता तदा[६] तत्स्तनाश्लेषे तद्गतमृगमदपत्रलतामकर्यः कृष्णस्य[७] उरःस्थले प्रतिबिम्बिता इति । पुनः कीदृशः ? मधुवधूवक्त्राब्जचन्द्रोदयः, मधोः—मधुनाम्नोदैत्यस्य या वध्वः—ललनास्तासां यानि वक्त्राब्जानि—मुखकमलानि तत्र चन्द्रोदय इव—चन्द्रोद्गम इव यः स । यथा चन्द्रोदयेऽब्जानि सङ्कोचमाप्नुवन्ति तथा हरेरुदयात् तद्वधूवक्त्राम्भोरुहाणि निःश्रीकाण्यभूवन्निति भावः । स इति कः ? यस्य क्रीडाक्रोडतनोः क्रीडया—लीलया क्रोडाकारा तनुः—शरीरं यस्य स तस्य ।

१. ब० संकुचन्ति । २. ब० अनीदशं । ३. हं० नास्ति । ४. हं० कीदृशः सः । ५. हं० मकर्यः रचनाविशेषः । ६. हं० नास्ति । ७. हं० नास्ति ।

लीलया सूकररूपस्य दंष्ट्रांकुरे भूः—भूमिः प्रलयाब्धिपल्वलतलोत्खातैकमुस्ताकृतिः प्रलयाब्धिरेव पल्वलतलं—अल्पसरोऽधोभागस्तस्मादुत्खाता—उत्पाटिता एका[1]—अद्वितीया या मुस्ता तदाकृतिः तदाकारा भाति स्म—शुशुभे। [2]लट् स्म इति भूतेऽपि लट्। वराहाः खलु तडागतलस्थां मुस्तां अदन्ति सोऽपि वराहस्तस्य जलधिः पल्वलसमः भूश्च मुस्तां समेति दंष्ट्रायां स्थितिः, अत एवोक्ता कृष्णापेक्षया किं महदित्यभिप्रायः।[2] किंविशिष्टे दंष्ट्रांकुरे ? नवेन्दुविशदे नवेन्दुवत् बालचन्द्रवद् विशदे—निर्मले, अर्द्धचन्द्राकारत्वात् तद्दंष्ट्राया इति ॥३॥

निःकन्दामरविन्दिनीं स्थपुटितोद्देशाङ्कशेरुस्थलीं,
जम्बालाविलमम्बुकर्त्तुमितरा सूते वराही सुतान्।
दंष्ट्रायां प्रलयार्णवोर्मिसलिलैराप्लावितायामियं,
यस्या एव शिशोः स्थिता विपदि भूः सा पुत्रिणी पोत्रिणी ॥४॥

(कीका०)—निःकन्दामिति। इतरा वराही—प्रकृतवराहमातुरन्या सुतान्—पुत्रान् सूते—जनयति। किं कर्त्तुम् ? अरविन्दिनीं—कमलिनीं निष्कन्दां—निर्मूलां कर्त्तुं स हि तस्या जातेः स्वभावः। अपरं किं कर्त्तुम् ? कसेरुस्थलीं—मुस्तभूमिकां स्थपुटितोद्देशां कर्त्तुं विषमप्रदेशां सम्पादयितुमित्यर्थः। स्थपुटं नु नतोन्नतमित्यमरः। स्थपुटं सञ्जातं यस्मिन्देशे स स्थपुटितः—नतोन्नतः संजातः, उदधिको देशो यस्यां सा स्थपुटितोद्देशा तां, तदस्य सञ्जातं इतीतच्। कसेरुर्मुस्ता उच्यते, तस्याः स्थली अकृत्रिमभूमिस्ताम्। अपरं अम्बु—पानीयं जम्बालाविलं कर्त्तुं जम्बालः—कर्द्दमस्तेन आविलं कलुषं कर्त्तुं जातिस्वभावसुलभानि ईदृशान्येव कर्माणि कर्त्तुं वराहान्तरजन्म[3]। पुनरहमेवं मन्ये सैव पोत्रिणी—वराही पुत्रिणी सत्पुत्रप्रसूः प्रशस्तः पुत्रोऽस्त्यस्याः सा पुत्रिणी। पोत्रं नाम विशिष्टाकृतिर्वराहमुखदण्डः सोऽस्त्यस्याः सा पोत्रिणी। सा का ? यस्या एव शिशोः—पुत्रस्य दंष्ट्रायां विपदि—प्रलयकाले भूः—पृथ्वी स्थिताऽवस्थानं प्राप्ता। किंविशिष्टायां दंष्ट्रायाम् ? प्रलयार्णवोर्म्मिसलिलैराप्लावितायां प्रलयकालीनार्णवस्य ऊर्म्मयः—कल्लोला येषु तानि च तानि सलिलानि च तैः ॥४॥

(गुण०)—निःकन्देति। सा पोत्रिणी—वराही पुत्रिणी—पुत्रोऽस्या अस्तीति पुत्रिणी—पुत्रवती नान्येत्यर्थः[4]। पोत्रं—वराहमुखाग्रं तदस्यास्तीति पोत्री—वराहः, स्त्रीवत् पोत्रिणीति [5]तदस्यास्तीत्यर्थे तदस्यास्त्यस्मिन्निति इन्, ऋन्नेभ्य इति ङीप्[5]। अथ कथमियमेव पुत्रिणीत्याह—अस्याः[6] वराह्या एव शिशोः—बालकस्य आस्तां यूनस्तस्य यथोचितभारोद्वहनं

१. हं० या एका। २-२. हं० पाठो नास्ति। ३. ब. वराहान्तरं जन्म। ४. 'नान्य' नास्ति। ५-५. हं० नास्ति पाठः। ६. हं० यस्याः।

प्रत्युचितत्वादत उक्तं शिशोरिति, चित्रम् । दंष्ट्रायां विपदि–प्रलयकाले भूः–वसुमती अन्यथा प्रलयार्णवकल्लोलैर्भूः पातालमगमिष्यत् । यद्ययं स्वदंष्ट्रायां न अधास्यत्[1], अत एव येन महापदि भूर्धृता । किंविशिष्टायां दंष्ट्रायाम् ? प्रलयार्णवोर्मिसलिलैराप्लावितायां प्रलयार्णवस्य ये ऊर्मयः–कल्लोलास्तेषां यानि सलिलानि तैराप्लावितायां–प्रक्षालितायां[2] । अथान्यवराहीसुतानां असत्कृत्य समुद्भावनेन एतस्यैव विशेषं द्योतयन्नाह–इतरा–अन्या वराही सुतान् सूते–जनयति । किं कर्त्तुम् ? अरविन्दिनीं–अम्भोजिनीं निःकन्दां–समूलोन्मूलितकन्दां कर्त्तुम्, तथा कशेरुस्थलीं–कन्दविशेषावनीं स्थपुटितोद्देशां स्थपुटत्वं–विषमोन्नतत्वं विद्यते येषु ते स्थपुटिताः । अत्र भावप्रधानो निर्देशो "द्वयेकयोर्द्विवचनैकवचने" इतिवत् ज्ञेयः । ईदृग्विधा उद्देशा यस्याः सा तां, विषमोन्नतां भूमिं विधातुमित्यर्थः । तथा अम्बु–पानीयं जम्बालाविलं जम्बालेन–पङ्केन आविलं–कलुषं कर्त्तुम्, यतोऽन्वहं सरसि मज्जनमेव कुर्वते क्रोडा इति तेषां स्वभाव इति । [3]दंष्ट्रायां पुनरर्णवोर्मीति पाठान्तरं, तत्र पुनः शब्दो विशेषार्थः, शेषं तथैव[3] ।।४।।

दृप्यद्दैत्यनितम्बिनीजनमनस्सन्तोषसंकोचनः,
कुर्याद्विश्वमनीश्वरं[4] स भगवान् क्रोडावतारो हरिः ।
यद्दंष्ट्राङ्कुरकोटिकोटरकुटीकोणान्तरस्थेयसी,
पृथ्वी भात्यवदातकेतकदलालीनेव[5] भृङ्गाङ्गना ।।५।।

(कीका०)—दृप्यदिति । स भगवान् क्रोडावतारः–वराहरूपधारी हरिः विश्वं–जगदनश्वरं–अविनाशि कुर्यात्–करोतु । किम्भूतो हरिः ? दृप्यद्दैत्यकुटुम्बिनीजनमनःसन्तोषसंकोचनः दृप्यन्त्यो यौवनोद्धता या दैत्यकुटुम्बिन्यः–दैत्याङ्गनास्तासां जनस्य–समूहस्य यानि मनांसि तेषां यः सन्तोषः–हर्षस्तस्य संकोचनः–संकोचयिता, तासां भर्तृवधेन सुखसन्तोषापहर्तेत्यर्थः । स कः ? यद्दंष्ट्राङ्कुरकोटिकोटरकुटीकोणान्तरस्थेयसी पृथ्वी अवदातकेतकदले लीना–श्लिष्टा भृङ्गाङ्गनेव भाति स्म, यद्दंष्ट्राङ्कुरस्य [6]कोटिः अग्रभागः तस्याः[6] एकदेशः स एव कुटी–पर्णशाला तस्याष्कोणे अन्धकारावृतः कश्चिद्भागविशेषस्तस्यान्तरे–मध्ये स्थेयसी–अतिशयेन स्थिरा 'प्रियस्थिरा' इत्यादिना स्थिरस्य स्थादेशः । अवदातं परिपाकवशात् अतिधवलं च तत्केतकदलं च अवदातकेतकदलं तस्मिन् । दंष्ट्राङ्कुरस्य श्वेतत्वलम्बत्वकण्टकत्वादिसाधर्म्यात् केतकदलोपमानम्, पृथ्व्याः पुनरल्पत्वकृष्णत्वादिसाधर्म्यात् भ्रमर्याः इति ।।५।।

---

१. हं० अधात् । २. हं० प्रतौ—स्नातायां 'स्नानसवनमाप्लव' इति हैमः कोषः । ३-३. हं० नास्ति पाठः । ४. कीकामते तु–विश्वमनश्वरम् । ५. कीकामते तु–'अवदातकेतकदले । ६-६. अ. प्रतौ नास्ति ।

(गुण०)—दृप्यद्दैत्येति । स भगवान् क्रोडावतारो हरिर्विश्वं–जगत् अनीश्वरं न विद्यते ईश्वरः–स्वामी यस्येत्येतादृग्विधं कुर्यात्, सर्वेषामपि जगज्जन्तूनां स्वतःस्वामित्वं विधेयात्[१], न कस्यचित् कश्चिदनुचर इति भावः । अनश्वरं इति वा तत्पाठे तु अनश्वरं–अक्षयि विश्वं कुर्यादिति । [२]किंविशिष्टः ? दृप्यद्दैत्यनितम्बिनीजनमनस्संतोषसंकोचनः दृप्यन्–यौवनमदोत्कटो यो दैत्यनितम्बिनीजनः तस्य यो मनःसंतोषः–चित्ताह्लादस्तं [२]संकोचयतीति दृप्यद्दैत्यनितम्बिनीजनमनःसंतोषसंकोचनः[२] । स इति कः ? यद्दंष्ट्रांकुरकोटिकोटरकुटीकोणान्तरस्थेयसी यस्य क्रोडस्य यो दंष्ट्रांकुरस्तस्य या कोटिः–अग्रं सैव कोटरकुटी–निष्कुहभवनं तस्या यत्कोणान्तरं–गृहैकदेशान्तरालं तस्मिन् स्थेयसी–अतिशयेन स्थिरा स्थेयसी ईयसि "प्रियस्थिरः" इति स्थादेशः । [३]यस्य दंष्ट्रांकुराणां या कोटिः–अनेकता तस्याः कोटरं–एकदेशः तस्य कुटीः कोणं कश्चिद्भागविशेषस्तस्यान्तरे–मध्ये तिष्ठतीत्येवंशीलेति पूर्ववृत्तिव्याख्या[३] । पृथ्वी अवदातकेतकदलालीना अवदातं उज्ज्वलं यत्केतकदलं–केतकपत्रं तस्मिन्नालीना–श्रिता भृङ्गाङ्गना इव–भृङ्गीव भाति–शोभते[४] । तद्दंष्ट्रांकुरस्य श्वेतत्वात् केतकदलसदृशत्वं, तत्र स्थितायाः पृथ्व्या भृङ्गाङ्गनासमानत्वमिति भावः । [५]अत्र सगर्वदैत्यभार्याजनचित्तहर्षसंकोचकत्वेन भुवः संकोचनेऽप्यस्य शक्तिराविर्भाविता, अत एव भृंग्युपमानं भुव उक्तमिति[५] ।।५।।

[६]अथ वराहस्य वैभवं वर्णयति[६]—

लीने श्रोत्रैकदेशे नभसि नयनयोस्तेजसि क्वापि नष्टे,
श्वासग्रासोपभुक्ते मरुति जलनिधौ पादरन्ध्रार्धपीते ।
पोत्रप्रान्तैकरोमान्तरविवरगतां मार्गतः चक्रपाणेः,
क्रोडाकारस्य पृथ्वीमकलितविभवं वैभवं वः पुनातु ।।६।।

(कीका०)—लीन इति । स्रग्धरावृत्तम् । क्रोडाकारस्य–वराहाकृतेः शार्ङ्गपाणेः–श्रीवासुदेवस्य वैभवं–ऐश्वर्यं कृतं वपुष्कृतं च महत्त्वं वः–युष्मान् पुनातु–पवित्रीकरोतु । शार्ङ्गः–धनुर्विशेषः पाणौ यस्य स तथा । क्रोडः–शूकरस्तस्यैवाकारो यस्य स तथा । विविधं भवतीति विभुः सर्वगतो व्यापकस्तस्येदं वैभवम् । किम्भूतं वैभवम् ? अकलितविभवं ब्रह्मशंकरशक्रादिभिरप्यविज्ञातप्रभावम् । किं कुर्वतः शार्ङ्गपाणेः ? पृथ्वीं मार्गतः इतस्ततो दृष्टिनिक्षेपेण गवेषयतः–विलोकयत इत्यर्थः । किंविशिष्टां पृथ्वीम् ? पोत्रप्रान्तैकरोमान्तरविवरगतां पोत्रं–मुखं तस्य प्रान्ते एकरोम्णो यदन्तरविवरं–मध्यबिलं तद्गतां प्रतिष्ठां अविज्ञात-

---

१. हं० विदध्यात् । २–२. हं० नास्ति पाठः । ३–३. हं० नास्ति पाठः । ४. हं० शोभते, को भाव इत्यधिको पाठः । ५–५. हं० पाठो नास्ति । ६–६. हं० पाठो नास्ति ।

प्रायतया निलीय तादृक् महापरिमाणेऽपि स्वल्पयूकादिवदवस्थितामित्यर्थः । क्व सति ? नभसि–आकाशे श्रोत्रैकदेशे लीने सति भौतिके व्योम्नि यत्कर्ण-शष्कुल्येकदेशविषये क्वापि गुप्ते सतीत्यर्थः । एवं तेजसि सोमसूर्यादिरूपे नयनयोः–वराहनेत्रयोः क्वाप्येकदेशे नष्टे–नाशं गते सति । तथा मरुति–आव-हादिमहावायौ श्वासग्रासोपभुक्ते–वराहोच्छ्वासकवलीकृते सति । तथा जल-निधौ–समुद्रे पादरन्ध्रार्धपीते सति पादानां रन्ध्राणि पादरन्ध्राणि खुरान्तर्गता वटाः तेषामर्धखण्डः–एकदेशस्तेनैव पीते शोषिते इत्यर्थः । एवं पञ्चमहाभूतानां महावराहवपुषि[1] विलीनत्ववर्णनेन वपुषोऽतिमात्रत्वं व्यज्यत[2] इत्यर्थः ॥६॥

(गुण०)—लीन इति । क्रोडाकारस्य चक्रपाणेः–विष्णोरकलितविभवं–अनवगतसमृद्धि वैभवं–विभुत्वं वः–युष्मान् पुनातु–पवित्रयतु । तदेव भगवतो विभुत्वमभिव्यनक्ति । किं-विशिष्टस्य तस्य ? पोत्रप्रान्तैकरोमान्तरविवरगतां विष्णोः पोत्रप्रान्ते-वराहमुखाग्रे यदेकं रोमान्तरं–लोमान्तरालं तद्विवरगतां–तद्रन्ध्रप्राप्तां पृथ्वीं[3] मार्गतः–अवलोकयतः, मार्ग कि अन्वेषणे[4], क्व सति गवेषयतस्तामित्याह–नभसि–आकाशे श्रोत्रैकदेशे लीने–प्रविष्टे सति तथा तेजसि सूर्याचन्द्रमसोः, इति शेषः । नयनयोर्विषये क्वापि नष्टे सति, [5]लोचनान्तर्भूते-सतीत्यर्थः[5] । तथा मरुति–वायौ श्वासग्रासोपभुक्ते श्वासग्रासेन–श्वासग्रहणेन उपभुक्तः श्वास-ग्रासोपभुक्तस्तस्मिन् सति । तथा जलनिधौ–समुद्रे पादरन्ध्रार्धपीते पादरन्ध्रार्धेन–पाद-विवरार्धेन पीतः पादरन्ध्रार्धपीतः तस्मिन् सति । एवं पञ्चापि महाभूतानि वपुष्येव लीनानि एतावता देहस्यातिगुरुत्वं निवेदितम् ॥६॥

अष्टौ यस्य दिशो दलानि विपुलः कोशः सुवर्णाचलः,
कान्तं केसरजालमर्ककिरणा भृंगाः पयोदावली ।
नालं शेषमहोरगः प्रविततं वारांनिधेर्लीलया,
तद्वः पातु समुद्धरन् कुवलयं क्रोडाकृतिः केशवः ॥७॥

(कीका०)—अष्टौ यस्येति । शार्दूलविक्रीडितानि त्रीणि । क्रोडाकृतिः–वराहरूपधारी केशवः–श्रीकृष्णो वः–युष्मान् पातु–रक्षतु । किं कुर्वन् ? वारां-निधेः–समुद्रात् लीलया तत् नगनगराद्यास्पदत्वेन प्रसिद्धं कुवलयं कोः–पृथिव्याः वलयं–मण्डलं समुद्धरन्–सम्यगविनाशो यथा भवति तथा उन्नयन्नित्यर्थः । 'गोत्रा कुः पृथिवी पृथ्वी' इत्यमरः । इदानीं कुवलयस्य कमलस्य पृथ्वीवल-

---

१. ब. वराहवपुषि । २. प. त्यज्यत । ३. हं० नास्ति । ४. हं० अन्वेषणे धातुः । ५-५. नास्ति पाठः ।

यस्य च साम्यमाह—यस्येति, यस्य कुवलस्य अष्टौ दिशो दलानि–पत्राणि, कमलं किलाष्टदलं वर्ण्यते, सुवर्णाचलः–मेरुः यस्य विपुलः–विशालः कोशः–मध्यं कर्णिकेत्यर्थः, अर्ककिरणाः–सूर्यरश्मयः कान्तं–मनोहरपीतवर्णं केसरजालं–कुंकुमसमूहः, पयोदावली–मेघमाला, भृङ्गाः–भ्रमरस्थानीयाः कार्ष्ण्यसाम्यात्, शेषमहोरगः–शेषनागः प्रविततं–दीर्घं नालं–नालस्थानीयः। यथा कश्चित् क्रोडः वारांनिधेस्तडागादेः कुवलयं कमलं समुद्धरतीति शेषः[१] ॥७॥

(गुण०)—अष्टाविति। वारांनिधेः–समुद्रात् तत्कुवलयं–पृथ्वीमण्डलं, पक्षे नलिनं समुद्धरन् क्रोडाकृतिः केशवो वः–युष्मान् पातु। [२]एतेन वराहाः खलु सरसः कमलमुद्धरन्ति। अस्य भूवलयं तत्स्थानीयमेवाऽभूदित्यर्थः[२]। किंविशिष्टं कुवलयम्? प्रविततं–विस्तीर्णम्। अथ कुवलयस्य–भूमण्डलस्य नलिनतौल्यं समुद्भावयन्नाह—तदिति किम्? यस्य कुवलयस्य अष्टौ दिशो दलानि–पत्राणि वर्तन्ते, यतोऽन्यस्यापि कुवलयस्य दलानि भवन्त्येव[३] तथैतस्यापीति भावः[४]। तथा सुवर्णाचलः–मेरुर्यस्य कुवलयस्य विपुलः–विस्तीर्णः कोशः–कोरकः [५]सोऽपि पीतो भवति मेरुरपि तथा[५]। तथा यस्य कुवलयस्य अर्ककिरणाः–सौराः किरणाः[६] कान्तं–मनोज्ञं केसरजालं–परागवृन्दमभूत्। [७]नैषधकाव्यापेक्षया अभूवन्निति स्यात्, इदं स्थानाङ्गवृत्यनुवृत्या लिखितमस्त्यभूदिति[७]। तथा यस्य पयोदावली–मेघश्रेणिः भृङ्गाः अभूवन्। मेघानां कृष्णत्वाद्भृङ्गसाम्यमिति। तथा शेषमहोरगः–शेषनागो यस्य कुवलयस्य नालमभूत्, यतः कुवलये नालेन भाव्यं तथैतस्यापीति ॥७॥

बिभ्राणोऽभिनवेन्दुकोटिकुटिलं दंष्ट्रांकुरं लीलया,
क्रोडाकारधरो हरिः स भगवान् भूयाद्विभूतिप्रदः।
यस्योत्क्षिप्तवतः क्षमाकमलिनीमालम्बमानः क्षणं,
लोलद्बाणमृणालनालतुलनां भेजे भुजङ्गेश्वरः ॥८॥

(कीका०)—बिभ्राण इति। स क्रोडाकारधरो हरिर्भवतां विभूतिप्रदो भूयात्, विशिष्टा भूतिः विभूतिः, सम्पूर्णगजाश्वादिसम्पत् तां प्रकर्षेण ददातीति तथा। किं कुर्वाणः? लीलया अभिनवेन्दुकोटिकुटिलं दंष्ट्रांकुरं बिभ्राणः अभिनवः–प्रातिपदश्चासाविन्दुश्च तस्य कोटिः–अग्रभागः तद्वत् कुटिलं–वक्रमित्यर्थः। दंष्ट्राया अंकुरो दंष्ट्राङ्कुरस्तं बिभ्राणः–दधान इत्यर्थः। 'डुभृञ् धारणपोषणयोः' शानच्प्रत्ययः। स कः? यस्य हरेः क्षमाकमलिनीं–पृथ्वीलक्षणामर-

---

१. ब. श्लेषः। २–२. हं० नास्ति पाठः। ३. हं० 'एव' नास्ति। ४. हं० भावः नास्ति। ५–५हं० नास्ति पाठः। ६, हं० सौरो मरीचयः सूर्यभानवः। ७–७. हं० नास्ति पाठः।

विन्दिनीं उत्क्षिप्तवतः—उत्खातवतः सतो भुजङ्गेश्वरः—शेषनागो लोलद्बाल-मृणालनालकलनां भेजे, मृणालं—पद्मिनीकन्दतन्तुस्तस्य नालं—तदावरणं, बालं च तन्मृणालनालं च बालमृणालनालं, लोलति—चञ्चलमिवाचरतीति लोलत्, लोलच्च तत् बालमृणालं[1] च लोलद्बालमृणालनालं तस्य कलनां—साम्यं बभाजेत्यर्थः। कीदृशो भुजङ्गेश्वरः ? क्षणमालम्बमानः आ—समन्तालम्बते इत्यालम्बमानः, कमलिन्यां किलोत्खातायां तदीयमपि नालं क्षणं लम्बते ॥८॥

(गुण०)—बिभ्राणेति। स भगवान् क्रोडाकारधरो हरिर्विभूतिप्रदः—श्रीदायको भूयात्। किं कुर्वाणः[2] लीलया अभिनवेन्दुकोटिकुटिलं अभिनवो य इन्दुस्तस्यातीववक्रत्वात् तस्य या कोटिः—अग्रं तद्वत् कुटिलं दंष्ट्राङ्कुरे बिभ्राणः—दधत्। स इति कः ? यस्य क्रोडाकारस्य विष्णोः क्षमाकमलिनीं—पृथ्वीसरोजिनीं उत्क्षिप्तवतः—उत्पाटितवतः सतः क्षणं यावत् आलम्ब मानः आ-समन्तात् लम्बमानः उपनमन्[3] सन् भुजङ्गेश्वरः—शेषाहिः लोलद्बालमृणालनाल-तुलनां चलन्नवमृणालनालस्य तुलनां—साम्यं भेजे। अयमाशयः, यदा अकूपारात् भूरुद्धृता तदा शेषः तन्मूलमेवाभूदिति साम्यम् ॥८॥

मुक्तैर्यास्यति कुत्रचिद्वसुमती दंष्ट्रांकुरस्थेयसी,
कुक्षौ क्षोभमवाप्स्यति त्रिभुवनं रुद्धैरमीभिः क्रमात्।
इत्यस्वल्पविकल्पमीलितमतेः कण्ठे लुठन्तो मुहुः,
क्रोडाकारधरस्य कैटभजितः श्वासानिलाः पान्तु वः ॥९॥

(कीका०)—मुक्तैरिति। क्रोडाकारधरस्य—शूकराकृतेः कैटभजितः श्रीवासुदेवस्य श्वासानिलाः—निश्वासवायवो वः—युष्मान् पान्तु—रक्षन्तु। किम्भूताः श्वासानिलाः ? मुहुः—वारं वारं कण्ठे—गलदेशे लुठन्तः गतागतपराः। किम्भूतस्य कैटभजितः ? इत्यस्वल्पविकल्पमीलितमतेः इति वक्ष्यमाणा अस्वल्पाः—महान्तो विकल्पा ये विचारास्तैर्मीलिता संकुचिता मतिः—बुद्धिर्यस्य स तस्य तथा। इति किम् ? किं अमीभिः श्वासैः बहिर्मुक्तैः सद्भिर्दंष्ट्रांकुरस्थेयसी—दंष्ट्राग्रवर्तमाना वसुमती—पृथ्वी कुत्रचिद् यास्यति—श्वासवशात् क्वापि उड्डीय गमिष्यतीत्यर्थः। पुनर्मध्ये रुद्धैः सद्भिः कुक्षौ—उदरैकदेशे वर्तमानं त्रिभुवनं क्षोभं संचलनं अवाप्स्यति—प्राप्स्यति इति[4]। इति कारणादेव श्वासोच्छ्वासानां कण्ठावस्थानमनुमतवानित्यर्थः ॥९॥

---

१. ब. बालमृणालनालं। २. हं० कीदृशः। ३. हं० नास्ति। ४. ब. इति नास्ति।

(गुण०)—मुक्तै रिति। क्रोडाकारधरस्य कैटभजितः कैटभं-कैटभनामानं दैत्यं जयतीति कैटभजित् तस्य विष्णोः श्वासानिलाः–श्वासवायवः वः–युष्मान् पान्तु–रक्षन्तु। किम्भूताः श्वासानिलाः ? इत्यस्वल्पविकल्पमीलितमतेः इति–हेतोः अस्वल्पैः–बहुभिर्विकल्पैः–कल्पनाभिः कृत्वा मीलिता–संकोचमापादिता मतिर्येन स तस्य, कण्ठे–गलकुहरे मुहुः–वारं वारं लुठन्तः–अन्तर्घोलनामासादयन्तः। इतीति किम् ? अमीभिः–श्वासानिलैर्मुक्तैः–बहिर्मुक्तैः सद्भि-र्वसुमती–भूः कुत्रचिदुड्डीय यास्यति–अदृष्टा भविष्यतीत्यर्थः। किंविशिष्टा वसुमती[१] ? दंष्ट्रांकुरस्थेयसी दंष्ट्रांकुरे स्थेयसी–अतिशयेन स्थिरा। कोऽर्थः ? मया यदि श्वासवायवो मोक्ष्यन्ते तदेयं भूः परागवदुच्छलिता कुत्रचित् यास्यतीति न जानामि[२]। तथा क्रमात्[३] क्रमेण अमीभिः श्वासानिलैर्मध्ये रुद्धैः सद्भिः कुक्षौ वर्तमानं[४] त्रिभुवनं क्षोभं[५]अवाप्स्यति। [६]अयमाशयः, भूर्मुखाग्रे स्थिता त्रिभुवनं च कुक्षौ तत्र चेद्वायवो मुच्यन्ते तदा भूर्मुक्ता क्व यास्यतीति। अथ चेन्न मुच्यन्ते तदा त्रिभुवनव्यापाराभावः स्यादिति विकल्पमतेः[६] [७]कण्ठे लुठन्तः श्वासानिलाः स्थिता इति[७] ॥९॥

पातु वः कपटकोलकेशवो यस्य निःश्वसितमारुतोद्धता।
उच्छ्रितिप्रपतनैरचीक्लृपत् केलिकन्दुकतुलामिला मुहुः ॥१७॥

(कीका०)—पातु व इति। रथोद्धतावृत्ताम्। स कपटकोलकेशवः–माया-वराहरूपधारी विष्णुर्वः–युष्मान् पातु–रक्षतु। स कः ? यस्य देवस्य निःश्वसि-तमारुतोद्धता इला–पृथ्वी उच्छ्रितिप्रपतनैः कृत्वा, मुहुः–वारं वारं केलिकन्दुक-तुलां अचीक्लृपत्–कल्पितवती रचितवती। निःश्वासितान्येव मारुताः निःश्वा-सितमारुताः निःश्वासितमारुतैः उत्–अधिकं हता निःश्वसितमारुतोद्धता उच्छ्रयणं उच्छ्रितिः उच्छ्रितयश्च प्रपतनानि च उच्छ्रितिप्रपतनानि च तैः। अचीक्लृपदिति 'क्लृपू सामर्थ्ये' अस्मात् स्वार्थे णिजन्तात् उङि[८] चङि सत्त्वभावेत्वदीर्घः। अचीकरदिति पाठे कृञोऽपि स्वार्थे एव णिच्। तथा च धातुसूत्रं बहुलमेतन्नि-दर्शनमिति। एतदेव व्याचक्षाणः स्मरति –

'निवृत्तप्रेषणाद्धातोः प्राकृतेऽर्थे णिजिष्यते'

इति। उदाहरणं च 'रामो राज्यमकारयत्' इति। तस्मात् सर्वधातुभ्यः स्वार्थेऽपि णिज्विधिरविरुद्धः। केलिः–क्रीडा तदर्थं कन्दुकः केलिकन्दुकः तस्य तुला–साम्यं तां केलिकन्दुकतुलाम् ॥१०॥

---

१. हं० भूः। २. हं० जानीमः। ३. हं० नास्ति। ४. हं० नास्ति। ५. हं० क्षोभं आकुलत्वं। ६–६. हं० नास्ति पाठः। ७–७. अतः कण्ठे लुठन्तः श्वासानिलाः वः युष्मान् पान्त्विति। ८. ब. लुङि०।

(गुण०)—पात्विति । स कपटकोलकेशवः कपटेन कोलः—कोलाकृतिः कपटकोलः स चासौ केशवश्च कपटकोलकेशवः वः—युष्मान् पातु—रक्षतु । स इति कः ? यस्य निःश्वसितमारुतोद्धता निःश्वसितमारुतैः—निःश्वासवायुभिरुद्धता—उच्छलिता इला—भूमिर्मुहुः—वारं वारं केलिकन्दुकतुलां—केलेः—क्रीडायाः यः कन्दुकस्तस्यास्तुलां—साम्यमचीक्लृपत् अकरोत् । कैः कृत्वा ? उच्छ्रितिप्रपतनैः उच्छ्रितिः—उत्पतनं प्रपतनं—अधःपतनं तैः ऊर्ध्वयानाऽधोयानैः[1] कृत्वा । अन्योऽपि कन्दुकः क्रीडया शिशुभिरुत्क्षिप्यते अपक्षिप्यते च तथेयं भूरपि श्वासवायुप्रेरिता कन्दुकतुलां तुलयतीति भावः । रथोद्धता वृत्तम्[2] ॥१०॥

सिन्धुष्वंगावगाहः खुरविवरविशत्तुच्छतोयेषु नाप्तः,
प्राप्ताः पातालपङ्के न लुठितरुचयः[3] पोत्रमात्रोपयोगात् ।
दंष्ट्राविष्टेषु नाप्तः शिखरिषु च पुनः स्कन्धकण्डूविनोदो,
येनोद्धारे धरित्र्याः स जयति विभुताविघ्नितेच्छो वराहः ॥११॥

(कीका०)—सिन्धुष्विति । स्रग्धराद्वयम् । स वराहो जयति—सर्वोत्कर्षेण वर्तते । किम्भूतः ? विभुताविघ्नितेच्छः विभोर्भावः विभुता स्वशरीरमहत्त्वं तेन विघ्निता—खण्डिता इच्छा—स्वच्छन्दविहाराभिलाषो यस्य स तथा । स कः ? येन भगवता धरित्र्याः उद्धारे—उद्धरणसमये सिन्धुषु—समुद्रेषु अङ्गावगाहो नाप्तो जलक्रीडावगाहनं निर्भरं न प्राप्तमित्यर्थः । कुत इति ? सिन्धून् विशिनष्टि—खुरविवरविशत्तुच्छतोयेषु इति, खुराणां विवराणि खुरविवराणि तेषु विशत्—प्रवेशं कुर्वन्, अत एव तुच्छं—स्वल्पं तोयं येषु ते खुरविवरविशत्तुच्छतोयास्तेषु; अतो अङ्गक्षालने जलं न पर्याप्तमिति भावः । तथा पातालपङ्के लुठनरुचयो न प्राप्ताः पातालगतः पङ्कः पातालपंकस्तस्मिन् लुठनं—परिवर्त्तनं तस्य रुचयः—इच्छा लुठनरुचयः । कुत इति ? हेतुमाह—पोत्रमात्रोपयोगादिति 'पोत्रमित्युच्यते प्राज्ञैर्हलशूकरयोर्मुखम्' पोत्रमेव पोत्रमात्रं तत्र उपयोगः—व्ययस्तस्मात् पङ्कस्य मुखमात्रे एवोपयोगो जातः, सर्वोऽपि कर्द्दमः पोत्र एव परिसमाप्तो न त्वङ्गान्तरलेपाय परिशिष्ट इति भावः । तथा शिखरिषु—कुलाचलेषु पुनः स्कन्धकण्डूविनोदोऽपि येन नाप्तः, स्कन्धस्य कण्डूः स्कन्धकण्डूस्तस्याः विनोदोऽपनयनं स्कन्धकण्डूविनोदः । तत्र हेतुगर्भं विशिनष्ट—दंष्ट्रापिष्टेष्विति, दंष्ट्राभ्यां पिष्टाः—चूर्णिता दंष्ट्रापिष्टास्तेषु । अत एव वाराहीच्छा काऽपि न पर्याप्तेति भावः ॥११॥

१. हं० 'ऊर्ध्वयानाऽधोयानैः नास्ति' । २. हं० 'रथोद्धता वृत्तम्' नास्ति । ३. कीकामते तु—लुठनरुचयः ।

(गुण०)—सिन्धुष्वङ्गेति । स वराहः विभुताविघ्नितेच्छो जयति । विभुतया—व्यापकत्वेन विघ्निता—विघ्नं प्राप्ता इच्छा सिन्धुष्वङ्गावगाहादिरूपा यस्येति । यद्ययं वराहः स्ववपुर्विभुतामित्थं नाकरिष्यत्तदेमामिच्छां सिन्धुष्वङ्गावगाहादिरूपां सुखमपूरयिष्यत्, परं विभुतया विघ्नितेच्छः । स इति कः ? येन धरित्र्याः—भूमेः उद्धारे सिन्धुषु अङ्गावगाहः—समुद्रेषु शरीरेण जलक्रीडावगाहनं स नाप्तः—न लब्धः । किंविशिष्टेषु सिन्धुषु ? खुरविवरविशत्तुच्छतोयेषु खुरविवरेषु—शफरन्ध्रेषु विशत्—प्रविशत् अत एव तुच्छं—अल्पं तोयं—जलं येषु ते तेषु, अतो अङ्गक्षालनजलं न पर्याप्तमिति भावः । तथा च [1]पुनः पातालपङ्के[2] पोत्रमात्रोपयोगात् केवलं तन्मुखाग्रमात्रावलेपात् लुठितरुचयः इतस्ततः पृष्ठपरावर्तनेच्छाः न प्राप्ताः—न लब्धाः । यथा—'पोत्रमित्युच्यते प्राज्ञैर्हलशूकरयोर्मुखम्' पङ्कस्य मुखमात्रे एव उपयोगो जात इत्यर्थः । पुनः स्कन्धकण्डुविनोदैः स्कन्धयोः—अंशयोः या कण्डूः—खर्जूस्तस्या विनोदः—उपरामः [3]स्फेटनमिति यावत्, स[3] शिखरिषु—गिरिषु नाप्तः—न लेभे । किंविशिष्टेषु शिखरिषु ? दंष्ट्राविष्टेषु दंष्ट्रयोः[4] आविष्टाः—प्रविष्टाः दंष्ट्राविष्टास्तेषु यतः शिखरिणः सर्वेऽपि तद्दंष्ट्रयोरेवा[5]ऽविशन्नतः क्व स स्वस्कन्धखर्जूविनोदमासादयेदिति । [6]क्वचिद्दंष्ट्रापिष्टेष्विति पाठस्तत्र दंष्ट्रया पिष्टेषु—चूर्णितेषु ये दंष्ट्रयैव पिष्यन्ते तेषु खर्जूविनोदः कथं स्यादिति महत्त्ववर्णनम्[6] ॥११॥

[7]इति श्रीगुणविनयविरचितायां वराहावतार-
हरिवर्णनव्याख्या ।३।[7]

एकं पादं च पृष्ठेऽपरमुरगपतेर्मूर्ध्नि पोत्रं च धृत्वा,
वेशन्तोत्खातमुस्ताप्रतिनिधिधरणीं वक्त्रदंष्ट्रैकदेशे ।
विश्वे चैकार्णवे यस्त्रिभुवनहितकृत् देवदेवोऽपि दध्रे,
पायाद्वः कोलकायः स हि धरणिधरो लीलया लक्ष्यरूपः ॥१२॥

(कीका०)—एकं पादमिति । पदद्वयं जीर्णैरधृतं प्रायः प्रक्षिप्तमित्यवगम्यते प्राकरणिकत्वात् तु वयं व्याचक्ष्महे ।

स कोलकायः—वराहवपुर्देवदेवो वः—युष्मान् पायाद्—रक्षतु । देवानां—ब्रह्मादीनां देवो देवदेवः । कीदृशः ? लीलया धरणिधरः—क्रीडावशेन दंष्ट्राकलितवसुधः । अपरं कीदृशः ? लक्ष्यरूपः लक्षितुमर्हं लक्ष्यं—दर्शनीयं रूपं वपुर्यस्य स

१. हं० च पुनः नास्ति । २. हं० पङ्के नास्ति । ३–३. हं० नास्ति । ४. हं० दंष्ट्रासु । ५. हं० दंष्ट्रायामेव । ६–६. हं० नास्ति पाठः । ७–७. हं० इति श्रीवराहावतार-हरिवर्णनव्याख्या ।

लक्ष्यरूपः, अरूपोऽपि विश्वकृपया[1] प्रकटीकृतलीलाविग्रह इत्यर्थः। स कः? यो देवदेवः वक्त्रदंष्ट्राग्रदेशे वेशन्तोत्खातमुस्ताप्रतिनिधिधरणीं विदध्रे–विशेषेण दधार। वेशन्तः–तडागस्तस्माद् उत्खाता या मुस्ता तस्याः प्रतिनिधिः–प्रतिमाभूता चासौ धरणी च वेशंतोत्खातमुस्ताप्रतिनिधिधरणी तां। कीदृशः? यः विश्वस्मिन् जगति अर्णवे–समुद्रतया परिणते एकार्णवे जाते सति त्रिभुवनहितकृत् पृथिव्युद्धरणेन त्रैलोक्यस्य हितसम्पादक इत्यर्थः। हीति निपातः। पुराणप्रसिद्धचवद्योतकः कृत्वा धरणीं दध्रे इत्याह—उरगपतेः–शेषस्य पृष्ठे–वंशे एकं पादं धृत्वा अपरं द्वितीयं च पादं पोत्रं मुखं च मूर्ध्नि उरगपतेरेव फणामण्डले धृत्वा ॥१२॥

भ्रश्यत्कुम्भशिरोधरेषु ककुभां कुम्भिष्वसृग्वाहिनी,
प्रोज्झन्तीषु फणासु पन्नगपतेर्निर्यन्मणिश्रेणिषु।
निर्व्याजं निहितोत्तमाङ्गचरणे कूर्मेऽपि कुब्जीभव-
त्येकं कोलपति सलीलतुलितः क्षोणीतलः पातु वः ॥१३॥

(कीका०)—भ्रश्यदिति। शार्दूलविक्रीडितेन वराहावतारमुपसंहरन्नाह—

एकः केवलोऽसहाय एव कोलपतिः–वराहाग्रणीर्वः–युष्मान् पातु--रक्षतु। किम्भूतः? सलीलतुलितक्षोणीतलः सलीलं–सहेलं यथा भवति तथा तुलितं–कलितं क्षोणीतलं येन स तथा। केषु सत्सु? ककुभां कुम्भिषु–दिग्गजेषु भ्रश्यत् कुम्भशिरोधरेषु सत्सु, शिरो धरतीति शिरोधरा ग्रीवा कुम्भस्थलोपलक्षिता शिरोधरा कुम्भशिरोधरा भ्रश्यन्ती क्षोणीभारेणाधःपतन्ती कुम्भशिरोधरा येषां ते तथोक्तास्तेषु दिग्गजेषु भुवं धारयितुमशक्तेषु सत्सु इत्यर्थ.। अपरं कासु सतीषु? पन्नगपतेः–शेषस्य फणासु असृग्वाहिनीः–लोहितनदीः प्रोज्झन्तीषु–प्रकर्षेण त्यजन्तीषु सतीषु। किम्भूतासु फणासु? निर्यन्मणिश्रेणिषु सहस्रफणत्वात् बहुवचनं, नितरां एति भारभुग्ना सती उद्गच्छति इति निर्यन्ती–निस्सरन्ती मणीनां श्रेणिर्याभ्यः ताभ्यस्तथासु[2]। शेषोरगेपि भुवं धर्तुमक्षमे सतीत्यर्थः। पुनः क्व सति? कूर्मेपि कुब्जीभवति सति कुब्जः–वक्रः अकुब्जो कुब्जो भवतीति कुब्जीभवति कुब्जीभवतीति कुब्जीभवत् तस्मिन्। कीदृशे कूर्मे? निर्व्याजं–निर्व्यलीकं यथा स्यात्तथा, निहितोत्तमाङ्गचरणे उत्तमाङ्गं च चरणाश्च

---

१. ब. विश्वस्य कृपया। २. ब. ताभ्यस्तास्तथासु।

उत्तमाङ्गचरणं प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः । निहितं–सावधानतया स्थापितं उत्तमाङ्गचरणं येन स तस्मिन्, भूभारं वोढुं सादरेऽपि कच्छपे खर्वीभवति सतीत्यर्थः । पूर्ववदिहाध्यात्मं श्लिष्टोऽर्थ उन्नेतव्यः । तदा कोलपतिः शरीराधिष्ठाता राज्ञ इव मुख्याधिकारिस्थानीयो मुख्यप्राणो वराह उच्यते । उदकादिर्वेर[1] उत्कृष्ट आहारो यस्येति योगाश्रयणात् । तथा च स्मर्यते—'वराहारो वरमाहारमाहार्षीत्' इति च ब्राह्मणम् । इत्युपक्रम्यायमपीतरो वराह एतस्मादेव बृहति मूलानि वरं वरं मूलं बृहतीति वेति उक्तमन्यत् ।।१३।।

इति वराहावतारः ।

[द्वादशत्रयोदशपद्ययोर्नोपलभ्यते गुणविनयटीका]

पाताला [च्च] समुद्धृतो गतबलिर्मृत्युर्न नीतः क्षयम् ,
नो नीतं शशलाञ्छनस्य गलितं नोन्मीलिता व्याधयः ।
शेषस्यापि धरां विधृत्य न कृतो भारावतारः क्षणं ,
चेतः सत्पुरुषाभिमानदर्प्पं मिथ्यावहल्लज्जसे ।।१४।।[2]

---

१. ब. उदकादिर्वरं। २ श्लोकोऽयं ५६६८, क्रमाङ्कितहस्तलिखितपुस्तक एवास्ति ।

४. अथ नृसिंहावतारः

किं किं सिंहस्ततः किं नरसदृशवपुर्देव चित्रं गृहीतो,
नैतादृक् क्वापि जीवोऽद्भुतमुपनय मे देव संप्राप्त एष।
चापं चापं[1] न चापीत्यहह हह हह हा कर्कशत्वं नखाना-
मित्थं दैत्येन्द्रवक्षः खरनखरमुखैर्जघ्निवान् यः स वोऽव्यात् ॥१॥

(कीका०)—अथ क्रमप्राप्तं नृसिंहवर्णनमुपक्रमते—

किं किं सिंह इति । प्रक्षिप्तोऽपि प्रकरणार्थगौरवानुगामित्वात् व्याख्यायते । नृसिंहो वः—युष्मान् अव्यात्—रक्षतु । स कः ? यो नृसिंहः इत्थं वक्ष्यमाणप्रकारेण वितर्कितः सन्निति योग्याध्याहारः । खरनखरमुखैः-तीक्ष्णनखाग्रै-र्दैत्येन्द्रवक्षः—हिरण्यकशिपुहृदयस्थलं जघ्निवान्—पाटितवानित्यर्थः । नखैः पाटन-स्यैव सम्भवात् हन्तिना विदारणमिह लक्ष्यते धातूनामनेकार्थत्वात् । जघानेति जघ्निवान् हन्तेः क्वसुप्रत्ययः । खराश्च ते नखराश्च, खरनखरास्तेषां मुखानि तैः । 'पुनर्भवः कररुहो नखोऽस्त्री नखरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः ।

हिरण्यकशिपुतद्भृत्यवर्गयोरुक्तिप्रत्युक्तिभ्यां इत्थं कथं वितर्कित इति विशि-ष्टव्याकुलितं परिजनं प्रति प्रथमं हिरण्यकशिपूक्तिमवतारयन् विशदयति—

किं किमिति, किं शब्देनाविज्ञातविषयः प्रश्न उच्यते, सम्भ्रमो[2] वीप्सा ।

अथ भृत्यवर्गस्य प्रत्युत्तरं सिंह इति, हे राजन् ! सिंहो दृश्यत इति वाक्यार्थः ।

राजा सावज्ञमाह—ततः किमिति, सिंहदर्शनात् किं वः सम्भ्रमकारण-मिति वाक्यार्थः ।

संभ्रमाधायकं प्रत्युत्तरयन्ति—नरसदृशवपुर्देव चित्रमिति । हे देव ! राजन् ! सिंहोप्ययं नरसदृशवपुः—पुरुषाकृतिर्दृश्यते, तच्च चित्रं—आश्चर्यं नरसिंहैक्यस्याननु-भूतत्वादिति भावः ।

राजा पुनरपि सावज्ञमाह—गृहीत इति, गृहीतो निगृहीतो बद्धोऽयं न वा ? इति प्रश्नः ।

---

१. कीकामते तु–खङ्गं इति पाठः । २. ब. सम्भ्रमे ।

भृत्यास्तस्य बन्धनायोग्यतां निवेदयन्त आहुः—नैवेदृगिति, ईदृक्—एतादृश एतत्समानोऽन्यो जीवः क्वापि कुत्रापि नैव, अन्ययोगव्यवच्छेदक एवकारः, नाऽभूत् नास्ति न भविष्यतीति भावः।

इतः परं सम्भ्रान्तस्य राज्ञ एव वाक्यं द्रुतमिति, द्रुतं—शीघ्रं निपतन् सन्निधौ आगच्छन् पश्यतः—विलोकयतो मम उप समीपे प्रसभं हठेन[1] प्राप्त एव—आगत एव, दर्शनागमनयोः समकः, अतोऽहं चापं—धनुरस्य सन्निहितत्वेनाऽवसराभावात् खड्गं—असिं च नापं—न प्राप्तवानस्मि, मदीया शुद्धश्रद्धा मनस्येव लीनेति भावः। यद्वा, चापं चापमित्यपि सम्भ्रमे वीप्सा। त्वरया धनुरानयन्तु इत्यर्थः।

ततोऽपि सांनिध्यादाह—न खड्गमिति, संनिहिते शरप्रक्षेपाऽसम्भवात् खड्गमानयन्तु न चापम्। अस्मिन् पक्षे महस्तेजः अहेति विनिग्रहे न ग्राह्यस्य हिंसस्य महः क्रौर्यं बह्विति शेषः।

अहमिति पक्षे, स नृसिंहेन किञ्चित् सम्पृक्त आह—अहो इति, अहो—अत्याश्चर्ये, नखानां कर्कशत्वं—कठिनत्वं लोकोत्तारतीव्रतेति भावः ॥१॥

(गुण०)—अथ नृसिंहावतार-हरिवर्णनव्याख्या—

किं किमिति। इत्थं—अमुना प्रकारेण यो नृसिंहो दैत्येन्द्रवक्षः खरनखरमुखैः—कठोरनखाग्रैः जध्निवान्—जघान, स देवो वः—युष्मान् अव्यात्—रक्षतु। 'अव रक्षणे'। इत्थमिति कथं? यदा हरिः नृसिंहाकृत्या हिरण्यकशिपुं दैत्यं हन्तुमाजगाम तदा तत् स्ववैर्यागमनमाकलय्य हिरण्यकशिपुना प्रोक्तं—रे अनुचर! त्वं वद। किं किमिति वितर्के, सिंहो वर्तते? तेनोक्तं—न केवलं सिंहः। ततः किं नरसदृशवपुः—नृरूपो वर्तते? इत्युक्ते तेनोक्तम्—हे देव! न केवलं सिंहो न च केवलं मानवः, किन्तु चित्रं गृहीतः—आश्चर्यं प्राप्तः, यत् न एतादृक् ईदृशः क्वापि संसारे जीवो दृष्टः, अतोऽद्भुतमेतत्। इत्युक्ते तेनोक्तं—तर्हि मे—मम पार्श्वे उपनय—उपढौकय, इत्युक्ते प्रभुणा अनुचरः प्राह—हे देव! सम्प्राप्तः—समागतः स्वयमेव एष इत्युक्ते प्रभुणोक्तम्—चापं चापं समानीहेत्युक्ते[2] न च आपि—न च लेभे। इति स्वाम्यनुचराभ्यां प्रश्नोत्तराद्यभिलाषे विधीयमान एव, तत्क्षणात् नृसिंहाकृत्या समागत्य हरिणा तद्वक्षः खरनखराग्रैर्विदारितं। अत ईदृग् ध्वनिर्भुवि समुत्पेदे यत् अह ह ह ह ह हा!!! इति अद्भुते[3] खेदे नखानां कर्कशत्वं—काठिन्यं अवलोकयत[4] हरेरित्यध्याहारः कर्त्तव्यः[5]। केचित्त्वेवं व्याचक्षते—यदन्यदा हिरण्यकशिपुः स्वसभायां निविष्ट आस्ते तावता अकाण्ड[6] एव प्रचण्डो लोककोलाहलो जज्ञे। तदा स्वानुचरस्य पुरस्तेन राभस्यात् किं किमिदि

---

१. ब. हठेन। २. हं० समानीहीत्युक्ते। ३. हं० नास्ति। ४. अवलोकयतु। ५. हं० नास्ति। ६. हं० अखण्ड।

प्रश्नालापः कृतः। यथा च—हे अनुचर! साम्प्रतं किं वर्तते? किं वर्तते? इत्युक्ते स प्रोचिवान् यथा च—हे स्वामिन्! सिंहो वर्तते। चेदेवं ततः किं? ततः का भीः सिंहात्[१]? न हि वयं सिंहाद् बिभिम[२] इति तेनोक्ते स उवाच—नाऽयं केवलं सिंहः, किन्तु हे देव! चित्रं गृहीतः–विचित्ररूपप्राप्तो नरसदृशवपुर्देशतो[३] नराकृतिर्वर्तते। एतादृग् जीव–प्राणी न क्वापि मया ददृशे। एवं चेत् तर्हि द्रुतं–शीघ्रं मे–मम पुर उपनय–उपढौकय, इत्युक्ते सोऽवादीत्—हे स्वामिन्! किमुपनीयते, स्वयमेव एष सम्प्राप्तः। इत्युक्ते प्रभुः प्राह—चापं चापं–धनुर्धनुः देहीत्युक्ते सोऽवादीत्[४]—हे देव! नायं चापी–धनुष्मान्, सन्तः शूराः किल न्यायेनैव युयुत्सन्ते[५] अयं तु न चापी। यदा भवन्तश्चापं ग्रहीष्यन्ति तदा न्याययुद्धं न भविष्यतीति। एवं स्वाम्यनुचराभ्यामित्यादि पूर्ववदनुसर्त्तव्यमिति। [६]पूर्ववृत्तिकृता तु 'देव-चित्रं गृहीतो' देवस्य चित्रं–अनेकता देवाः खलु योगवशात् अनेकरूपा भवन्तीति व्याख्यातम्[६]।।१।।

चञ्चच्चण्डनखाग्रभेदविगलद्दैत्येन्द्रवक्षःक्षरद्-
रक्ताभ्यक्तसुपाटलोद्भटसटासम्भ्रान्तभीमानन.[७]।
तिर्यक्कण्ठकठोरघोषघटनासर्वाङ्गखर्वीभवद्-
दिङ्मातङ्गनिरीक्षितो विजयते वैकुण्ठकण्ठीरवः ॥२॥

(कीका०)—चञ्चदिति। शार्दूलविक्रीडितम्। वैकुण्ठकण्ठीरवो नृसिंह-रूपधारी श्रीपतिर्विजयते–सर्वोत्कर्षेण वर्तते। लक्ष्म्याः प्रियकाम्यया वैकुण्ठः कल्पिताख्यलोककल्पनात् वैकुण्ठ इत्युच्यते। तथा च स्मरन्ति—

वैकुण्ठो गीयते तेन रमायाः प्रियकाम्यया।
वैकुण्ठः कल्पितो येन लोको लोकनमस्कृतः ।।

इति, कण्ठी—गलतटी तस्यां रवः–शब्दो यस्य स कण्ठीरवः–सिंहः, स हि बलोत्सेकेन गले घोषायते, वैकुण्ठश्चासौ कण्ठीरवश्च वैकुण्ठकण्ठीरवः। वैकुण्ठपदेन च जयविजयाख्यद्वारपालयोः सनकादिशापेन लोकात् प्रच्युत्येह हिरण्यकशिपुः–हिरण्याख्यरूपेण सम्भूतयोरनुग्रहार्थं नृसिंहरूपेण स्वप्रादुर्भावः, इति पौराणी कथा सूच्यते। कीदृशः सः? चञ्चच्चण्डनखाग्रभेदविगलद्दैत्येन्द्र-वक्षःक्षरद्रक्ताभ्यक्तसुपाटलोद्धुतसटासम्भ्रान्तभीमाननः चञ्चन्तीति चञ्चन्तः–देदीप्यमानाश्चण्डाः–उग्रा ये नखास्तेषां अग्रैर्यो भेदः–विदारणं तेन विगलत्–पतिष्णुर्यद्दैत्येन्द्रवक्षः–हिरण्यकशिपुहृदयकमलं तस्मात् क्षरत्–प्रस्रवत् यद् रक्तं

१. हं० सिंहस्य। २. हं० बिभेमि। ३. हं० दर्शनतो। ४. हं० अवदत्। ५. हं० युयुत्स्यन्ते। ६-६. हं० नास्ति पाठः। ७. कीकाटीकायां—'०सुपाटलोद्धुतसटा०।

रुधिरं तेनाभ्यक्ता—सिक्ता, अत एव सुतरां पाटला—श्वेतरक्ता उद्धुता—आन्दोलिता या सटा—स्कन्धकेशावली तया सम्भ्रान्तं—सम्भ्रमास्पदीभूतं भीमं—भयङ्करं आननं—मुखं यस्य स तथा। 'श्वेतरक्तस्तु पाटलः' इत्यमरः। भीमो बिभ्यत्यस्मादिति स्मर्यते। अपरं किम्भूतः? तिर्यक्कण्ठकठोरघोषघटनासर्वाङ्गखर्वीभवद्दिग्मातङ्गनिरीक्षितः तिरोऽञ्चतीति तिर्यक् 'तिरश्चीनतिरसः तिर्यलोप इति तिर्यादेशः, स चासौ कण्ठश्च तस्य कठोरः—कठिनो यो घोषः—शब्दस्तस्य घटना—विचारेणाध्यवसायस्तेन सर्वाङ्गेषु हस्तकुम्भस्थलपादादिषु खर्वीभवन्तः—वामनीयमानाः[1] संकुचितसर्वाङ्गा ये दिङ्मातङ्गाः—ऐरावणादयो दिग्गजास्तैर्नितरामीक्षितो भीत्यतिशयवित्रस्तनयनं विलोकित इत्यर्थः ॥२॥

(गुण०)—चञ्चच्चण्डेति। स वैकुण्ठकण्ठीरवः[2] वैकुण्ठश्चासौ कण्ठीरवश्च वैकुण्ठकण्ठीरव—नृसिंहाकृतिर्विष्णुः विजयते। कीदृशो वैकुण्ठकण्ठीरवः? चञ्चच्चण्डनखाग्रभेदविगलद्दैत्येन्द्रवक्षःक्षरद्रक्ताभ्यक्तसुपाटलोद्भटसटासम्भ्रान्तभीमाननः चञ्चच्चण्डनखाग्रैः—देदीप्यमानरौद्रकरजकोटिभिः कृत्वा यो भेदः—विदारणं तेन विगलद् यद्दैत्येन्द्रवक्षः तस्मात् क्षरद् यद् रक्तं—रुधिरं तेन अभ्यक्ताः—सिक्ताः सुपाटलाः—सुष्ठु श्वेतलोहिता उद्भटा—उत्कटा या सटाः—[3]जटास्ताभिः सम्भ्रान्तं—सभयं भीमं आननं—मुखं यस्य सः। अभ्यक्त इति 'अञ्जू व्यक्तिगतिम्रक्षणेषु'। तत्र केवलस्य[4] म्रक्षणं—घृतादिसेकस्तस्मिन्नेव वृत्तिः। सोपसर्गस्य तु शेषयोरिति विवेक, यथा अनक्ति, व्यनक्ति, अभ्यनक्तीत्यादिवचनात्। अत्र केवलस्याभावात् सेकार्थस्तु न घटते, अतो विचार्यमस्तीति ज्ञेयम्। [5]महाकविप्रयोगत्वाद्वा अदुष्टत्वमिति[5]। पुनः किं विशिष्टः? तिर्यक्कण्ठकठोरघोषघटनासर्वाङ्गखर्वीभवद्दिङ्मातङ्गनिरीक्षितः तिर्यक्कण्ठेन कठोरा या घोषघटना—महाध्वनिविलासः सिंहनादाख्यस्तया सर्वाङ्गेण सर्वशरीरेण खर्वीभवन्तः—नीचैर्नमन्तो ये दिङ्मातङ्गास्तैर्निरीक्षित—अवलोकितः। [6]गजाः खलु सिंहात् बिभ्यति, अस्माच्च दिग्गजा अत एव भयादवलोकनम्[6] ॥२॥

[7]अथ नखानां महत्त्वं वर्णयति[7]—

वपुर्दलनसम्भ्रमात् स्वनखरन्ध्रनष्टे रिपौ,
क्व यात इति विस्मयात् प्रहितलोचनः सर्वतः।
वृथेति करताडनान्निपतितं पुरो दानवं,
निरीक्ष्य भुवि रेणुवज्जयति जातहासो हरिः ॥३॥

---

१. ब. वामनायमाना। २. हं० वैकुण्ठकण्ठीरवः—वैकुण्ठरूपकेशरी। ३. हं० सटाः जटाः नास्ति। ४. हं० केवल्य। ५–५. हं० नास्ति पाठः। ६–६. हं० नास्ति पाठः। ७--७. हं० नास्ति पाठः।

(कीका०)—वपुर्दलनसम्भ्रमादिति। पृथ्वीवृत्तम्। तथा च पिङ्गलः स्मरति—'पृथ्वी ज्सौ ज्सौ य्लौ ग्वसुनवकौ' इति। वृत्तरत्नाकरेऽपि—जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः' इति। हरिः—सिंहाकृतिः परमेश्वरो जयति—सर्वोत्कर्षेण वर्तते। किम्भूतः? वपुर्दलनसम्भ्रमात्—स्वशरीरपाटनभयावेशवशेन रिपौ—हिरण्यकशिपौ स्वनखरन्ध्रनष्टे—नृसिंहनखान्तरालविलीने सति, क्व यातः? कुत्र गतः? इति विस्मयात् आश्चर्यात् सर्वतः सर्वासु दिक्षु प्रहितलोचनो दिदृक्षया प्रेषितनयन इत्यर्थः। वपुषः—हिरण्यकशिपुशरीरस्य दलनं—चूर्णीकरणं तेन संभ्रमः—आकुलत्वं वैयग्र्यमिति यावत्, तस्मात् स्वशब्देन नृसिंह उच्यते, तस्य नखः—कररुहस्तस्य रन्ध्रं—छिद्रं तत्र नष्टः—निलीनः स्वनखरन्ध्रनष्टस्तस्मिन्। प्रहिते लोचने येन स प्रहितलोचनः। अपरं किम्भूतः? वृथा—व्यर्थः किं मे प्रादुर्भावः? इति विचारहेतोः करताडनात्—क्रोधावेशवशेन भुवि हस्ताऽऽस्फालनात् पुरः—अग्रे भुवि रेणुवत्—रजःकणवत् निःपतितं—निःसृत्य पतितं दानवं हिरण्यकशिपुं विलोक्य—दृष्ट्वा जातहासः—हर्षभरेण मुक्ताट्टहास इत्यर्थः ॥३॥

(गुण०)—वपुर्दलनेति। रिपोः—हिरण्यकशिपोः[1] वपुर्दलनसम्भ्रमात् वपुषो दलनं—विदारणं[2] तस्य संभ्रमः—भयं तस्मात् स्वनखरन्ध्रनष्टे सति सिंहनखच्छिद्रप्रविष्टे सति। क्व यातः इति?—क्व प्रदेशे गत इति? विस्मयात्—आश्चर्यात् सर्वतः—सर्वासु दिक्षु प्रहितलोचनः प्रहिते—प्रेषिते लोचने—नेत्रे येन सः। ततः सर्वत्राप्यनवलोकनात् वृथेति वृथा मुधा एव। मया एतावन्तमनेहसं प्रयासः कृत इति करताडनात्—उभाभ्यामपि पाणिभ्यां तालिकादानात् स्वनखरन्ध्रान्निपतितं पुरः—अग्रे निरीक्ष्य दानवं—हिरण्यकशिपुं रेणुवत् दृष्ट्वा जातहासः—समुत्पन्नहास्यः हरिर्जयति। [3]अयमाशयः—यदा नृसिंहः कराग्रैः तं हन्तुमुपचक्रमे तदा स भयात् करविवरे लीनः पश्चान्ममागमनं वृथेति नृसिंहेन कराणां परस्परं संघट्टनमकारि तदा स पतित इत्यतो जातहासः[3]। सर्वत इति '[4]सार्वविभक्तिकस्तस्' इत्येके इति तस्। पृथ्वी छन्दः[4] ॥३॥

दंष्ट्रासंकटवक्त्रकन्दरलसज्जिह्वस्य हव्याशन-
ज्वालाभासुरभूरिकेसरसटाभारस्य दैत्यद्रुहः।
व्यावल्गद्बलवद्धिरण्यकशिपुक्रोडस्थलास्फालन-
स्फारप्रस्फुटदस्थिपञ्जररवक्रूरा नखाः पान्तु वः ॥४॥

---

१. हं० रिपौ हिरण्यकशिपौ। २. हं० देहस्य विदारणं। ३. हं० नास्ति पाठः। ४–४. सर्वप्रातिपदिकात्तसिलिति केचित्।

(कीका०)—दंष्ट्रासंकटेत्यादि। शार्दूलविक्रीडितम्। दैत्यद्रुहः—हिरण्यकशिपुहन्तुः श्रीनृसिंहस्य नखाः—कररुहाः वः—युष्मान् पान्तु—रक्षन्तु। किम्भूतस्य? दंष्ट्रासंकटवक्त्रकन्दरललज्जिह्वस्य दंष्ट्राभिः--दन्तविशेषैः संकटं—संकीर्णं यत् वक्त्रकन्दरं—गुहाकारं मुखमध्यं तत्र ललन्ती—लोलायमाना जिह्वा यस्य स तस्य तथा। पुनः किम्भूतस्य? हव्याशनज्वालाभासुरभूरिकेसरसटाभारस्य हव्यमश्नातीति हव्याशनः—अग्निस्तस्य ज्वालावद् भासुरः—देदीप्यमानो भूरिः—महान् केसरसटाभारः—स्कन्धकेसरसमूहो[१] यस्य स तस्य तथा। कीदृशा नखाः? व्यावल्गद्बलवद्धिरण्यकशिपुक्रोडस्थलास्फालनस्फारप्रस्फुटदस्थिपञ्जररवक्रूराः व्यावलगत्—विशेषेण आ सर्वतो वल्गनं कुर्वन् बलवान्—सबलो यो हिरण्यकशिपुर्दैत्यः तस्य यत् क्रोडस्थलास्फालनं--वक्षसि संघट्टनबाहुल्यं तेन स्फारः--बहुलं प्रवृद्धो यः प्रस्फुटदस्थिपञ्जररवः प्रकर्षेण स्फुटन्ति—विदलायमानानि यानि दैत्यास्थीनि तेषां पञ्जरं—यन्त्रविशेषस्तस्य यो रवः—शब्दस्तेन क्रूराः-भीषणा इत्यर्थः ।।४।।

(गुण०)—दंष्ट्रेति। दैत्यद्रुहः दैत्याय—हिरण्यकशिपवे द्रुह्यतीति दैत्यध्रुट्[२] तस्य नृसिंहाकृतेर्भगवतो नखाः वः—युष्मान् पांतु—रक्षन्तु। किंविशिष्टस्य? दंष्ट्रासंकटवक्त्रकन्दरललज्जिह्वस्य दंष्ट्राभिः संकटः—संकीर्णो यो वक्त्रकन्दरः, अथवा दंष्ट्राभिः संकटो यस्मिन् ईदृग्विधो यो वक्त्रकन्दरः—मुखगह्वरं तस्मिन् ललन्ती—विलसन्ती जिह्वा यस्येति। 'लड् विलासे'[३]। पुनः किंविशिष्टस्य? हव्याशनज्वालाभासुरभूरिकेसरसटाभारस्य हव्याशनः—अग्निस्तस्य ज्वाला—अर्चिषस्ता इव भासुरा—देदीप्यमाना भूरयः—बह्वचो याः केसरसटाः—सिंहस्कन्ध[४]-स्फुरज्जटास्तासां भारः—समूहो यस्य स तस्य। किंविशिष्टाः नखाः? व्यावल्गद्बलवद्धिरण्यकशिपुक्रोडस्थलास्फालनस्फारप्रस्फुटदस्थिपञ्जररवक्रूराः, व्यावल्गन्—कूर्दन् बलवान् यो हिरण्यकशिपुः—दैत्यविशेषः तस्य यत्क्रोडस्थलं—उत्सङ्गस्थलं[५] तस्य नखैः कृत्वा स्फालनं—विदारणं तेन स्फारः—विस्तीर्णः प्रस्फुटन् यो अस्थिपञ्जरः—कङ्कालं तस्य यो रवः—शब्दस्तेन क्रूराः—उग्राः। [६]पूर्ववृत्तिकृता तु व्यावल्गात्—छिद्यमानं यद्धिरण्यकशिपोः क्रोडस्थलं—वक्षःस्थलं तत्र योऽऽस्फालनस्फारः—संघट्टनाबाहुल्यं तेन स्फुटवेधं भवद् यदस्थिपञ्जरं तस्य रवः—नादस्तेन तद् योगात् क्रूरा—बलवन्त इति व्याकृतम्[६] ।।४।।

---

१. ब. स्कन्धकेशसमूहो। २. हं० दैत्यद्रुट्। ३. हं० ललवाञ्छायां लट् विलासे
४. हं० सिंहशिर०। ५. हं० उत्संगप्रदेशः। ६–६. हं० नास्ति पाठः।

भूयःकण्ठावधूतिव्यतिकरतरलोत्तंसनक्षत्रमाला-
बालेन्दुक्षुद्रघण्टारणितदशदिशादन्तिचीत्कारकारी ।
अव्याद्वो दैत्यराजप्रथमयमपुरीयानघण्टानिनादो'
नादो दिग्भित्तिभेदप्रसरसरभसः कूटकण्ठीरवस्य ॥५॥

(कीका०)—भूयः कण्ठेत्यादि । स्रग्धराद्वयम् । तत्र प्रथमः प्रक्षिप्तः । कूटकण्ठीरवस्य—मायाविलासात् स्वीकृतसिंहरूपस्य नादो विश्वव्यामोह अधः स्मर्यते, च नृसिंहसटाभिर्नक्षत्रमण्डलाक्षेपः, नारसिंही नृसिंहस्य बिभ्रती सदृशं वपुः प्राप्ता, तत्र सटाक्षेपक्षिप्तनक्षत्र संहतिरिति । कोऽव्यक्तशब्दो वः--युष्मान् अव्याद्-रक्षतु । कीदृशो नादः ? भूयः कण्ठावधूतिव्यतिकरतरलोत्तंसनक्षत्रमाला-बालेन्दुक्षुद्रघण्टारणितदशदिशादन्तिचीत्कारकारी भूयसी--बहुलतरा या कण्ठावधूतिः--शिरस आन्दोलनं तस्य व्यतिकरात्--सम्पर्कात् तरलः--चञ्चलो य उत्तंसः--अवतंसः श्रीनृसिंहशिरःस्थः स्वाभाविको मुकुटस्तस्य सम्बन्धिन्यो या नक्षत्र-मालया बालेन्दुना च संघट्टनवशाद्दोलायमानाः क्षुद्रघण्टाः--कनकंकिकिण्यः तासां रणितैः--शब्दितैः कृत्वा दशदिशानां सम्बन्धिनो ये दन्तिनः तेषां चीत्कारं--भयावेशवशजन्यं शब्दविशेषं कारयितुं शीलं यस्य नादस्य स तथा । दिशा-शब्दष्टाबन्तोऽपि टापञ्चैव हलन्तानामिति स्मरणात् । यद्वा भूय इत्यादेरयमर्थः, भूयःकण्ठावधूतिव्यतिकरेण तरला उत्तंसा--उच्चतां गताश्च या नक्षत्रमाला-बालेन्दव एव क्षुद्रघण्टाः-किंकिण्यस्तासां रणितैः--शब्दितैः दशदिशादन्ति-चीत्कारकारीति समानम् । पुनः किम्भूतः ? दैत्यराजप्रथमयमपुरीयानढक्का-निनादः दैत्यानां राजा दैत्यराजः 'राजाहः सखिभ्यः' इति टच्, दैत्यराजस्य प्रथमं--अपूर्वं यत् यमपुरीयानं संयमिनीगमनं तत्र ढक्कानिनादः--यशःपटहघोषरूपः, 'स्याद्यशः पटहो ढक्का' इत्यमरः । पुनः कीदृशः ? दिग्भित्तिभेदप्रसरसरभसः दिशां भित्तयो दिगन्ताः तेषां भेदः पाटनं--प्रसरणं प्रसरः दिग्भित्तिभेदे प्रसरो दिग्भित्तिभेदप्रसरस्तत्र रभसेन--वेगेन सह वर्तमानः सरभसः, ब्रह्माण्डकटाहं निर्भिद्य बहिरपि प्रसरन्नित्यर्थः । तदपि स्मर्यते—'नारसिंही चचाराजौ नादापूर्ण-दिगम्बरे' ति ॥५॥

(गुण०)—भूयःकण्ठेति । कूटकण्ठीरवस्य कूटं—छद्म तेन कण्ठीरवः—सिंहः प्रकृत्या हरि-रेवाऽऽस्ते, छद्मना तु सिंहाकृतिस्तस्य नादः—क्ष्वेडा वः—युष्मान् भूयः अव्यात्—रक्षतु । किं-

१. कीकाटीकायां—०यमपुरीयानढक्कानिनादः ।

विशिष्टो नादः ? दिग्भित्तिभेदप्रसरसरभसः दिग्भित्तीनां यो भेदप्रसरः–भेदप्रवृत्तिस्तत्र-दिग्भित्तिभेदेन सरभसः–राभस्ययुक्तस्तत्रोत्सुक इति भावः। पुनः किंविशिष्टः ? कण्ठावधूति-व्यतिकरतरलोत्तंसनक्षत्रमालाबालेन्दुक्षुद्रघण्टारणितदशदिशादन्तिचीत्कारकारी, कण्ठा-वधूतिव्यतिकरे–गलकुहरांदोलनप्रस्तावे तरला–चपला उत्तंसा–उच्चैःस्थायिनी या नक्षत्र-माला–नक्षत्रश्रेणिस्तथा बालेन्दुः–नूतनचन्द्रस्तावेव क्षुद्रघण्टाः–लघुकिङ्किण्यस्तासां यद् रणितं–शब्दितं तेन दशसु–दशसंख्याकासु दिशासु–दिक्षु ये दिग्दन्तिनः–दिग्गजास्तेषां चीत्कारं कारयतीति कण्ठावधूतिव्यतिकरतरलोत्तंसनक्षत्रमालाबालेन्दुक्षुद्रघण्टारणितदशविशादन्ति-चीत्कारकारी। पुनः किंविशिष्टः ? दैत्यराजप्रथमयमपुरीयानघण्टानिनादः दैत्यराजस्य–हिरण्यकशिपोः प्रथमो यमपुरीं गच्छतो[1] यानघण्टानिनाद इव–[2]स्यन्दनघण्टाशब्द इव[2] यः सः दैत्यराजप्रथमयमपुरीयानघण्टानिनादः। [3]क्वचित् 'दैत्यराजप्रथमयमपुरीयानढक्का-निनादः' इति पाठस्तत्र दैत्यराजानां–हिरण्यकशिपुप्रभृतीनां प्रथमं यमपुरे यानं–गमनं तस्य ढक्काया निनादः–वादित्रस्वन इत्यर्थः[3] ॥५॥

अन्तःक्रोधोज्जिहानज्वलनभवशिखाकारजिह्वावलीढ-
प्रौढब्रह्माण्डभाण्डः पृथुभुवनगुहागर्भगम्भीरनादः।
दृप्यत्पारीन्द्रमूर्त्तिर्मुरजिदवतु वः सुप्रभामण्डलीभिः[4],
कुर्वन्निर्धूमधूमध्वजनिचितमिव व्योम रोमच्छटानाम् ॥६॥

(कीका०)—अन्तःक्रोधेत्यादि। दृप्यत्पारीन्द्रमूर्त्तिः–सदर्पसिंहतनुः मुर-जित्–श्रीवासुदेवो वः–युष्मान् अवतु–रक्षतु। शीघ्रगत्याऽभीष्टदेशगमनं पारयितुं शीलमस्यासौ पारी एणः, तस्य इन्द्रः पारीन्द्रः--सिंहस्तस्य मूर्त्तिः पारीन्द्रमूर्त्तिः। दृप्यतीति दृप्यन्ती दर्पोत्सिक्ता पारीन्द्रमूर्त्तिर्यस्य स तथा। मुरं दैत्यं जितवान् इति मुरजित्। किम्भूतः ? अन्तःक्रोधोज्जिहानज्वलनभवशिखाकारजिह्वा-वलीढप्रौढब्रह्माण्डभाण्डः अन्तः--मध्ये क्रोधेन–कोपेन उज्जिहानः–वर्द्धमानो यो ज्वलनः–अग्निस्तस्मादुद्भवः–उत्पत्तिर्यस्यां सा ज्वलनभवा, ज्वलनभवा चासौ शिखा--ज्वाला च ज्वलनभवशिखा तस्या आकार इवाकारो यस्याः सा ज्वलन-भवशिखाकारा सा चासौ जिह्वा च तया आलीढं–आस्वादितं प्रौढं–महत् ब्रह्माण्डलक्षणं भाण्डं–मृत्पात्रं येन स तथा। इयं च जातिस्वभावोक्तिः। यथा कश्चित् सिंहोऽनलशिखावत् ललायमानया जिह्वया भाण्डं लेढितं तद्वत् ब्रह्माण्ड-भाण्डास्वादोऽस्येत्यर्थः। अपरं किम्भूतः ? पृथुभुवनगुहागर्भगम्भीरनादः पृथ्वी–

---

१. हं० नास्ति। २–२. हं० नास्ति पाठः। ३–३. हं० नास्वि पाठः। ४. कीकामते तु—स्वप्रभामण्डलीभिः।

विशाला भुवनं—ब्रह्माण्डमेव या गुहा--दरी तस्याः गर्भे—मध्ये गम्भीरः—मन्द्रो घनगर्जितवद्भयानको नादः—ध्वनिर्यस्याऽसौ तथा । अन्योऽपि सिंहो गुहागर्भगम्भीरनादः स्यात् । किं कुर्वन् ? रोमच्छटानां स्वप्रभामण्डलीभिर्व्योम—आकाशं निर्धूमधूमध्वजनिचितमिव कुर्वन् । रोमशब्देनेह तनूरुहाः--स्कन्धकेशा उच्यन्ते । 'तनूरुहं रोमलोमे' त्यमरोक्तेः । रोम्णां छटा रोमच्छटास्तासां । यद्यपीह षष्ठ्या सम्बन्धस्य बोधितत्वात् स्वशब्दो नातिप्रयोजनस्तथापि अर्थान्तरवृत्त्या संगच्छते । स्वा—स्वकीया पारमेश्वरी सहस्रसूर्याधिकप्रकाशा अलौकिकी अनन्यगामिनी या प्रभा—कान्तिस्तस्याः मण्डल्यः—मण्डलाकृतिसमूहास्ताभिः करोतीति कुर्वन् निर्गतो धूमो यस्मात् स निर्धूमः जाज्वल्यमानः धूमो ध्वजः—केतुर्यस्य स धूमध्वजोऽग्निः, निर्धूमश्चासौ धूमध्वजश्च निर्धूमधूमध्वजः तेन नितरां चितं—व्याप्तं जाज्वल्यमानखदिरांगाराक्रान्तमिवेत्यर्थः । रोमच्छटासु रक्तिमसद्भावो दैत्यरक्ताभ्यक्तत्ववर्णत्वात्[1] संगच्छते ।।६।।

(गुण०)—अन्तःक्रोधाविति । दृप्यत्पारीन्द्रमूर्त्तिः-सदर्पनृसिंहाकृतिः मुरजिद्—विष्णुर्वः युष्मान् अवतु—रक्षतु । किंविशिष्टः ? अन्तःक्रोधोज्जिहानज्वलनभवशिखाकारजिह्वावलीढप्रौढब्रह्माण्डभाण्डः, अन्तः—चित्ते क्रोध एव उज्जिहानः—उत्पद्यमानो यो ज्वलनः अग्निस्तस्माद् भवा—उत्पन्ना शिखाकारा रक्तत्वसाधर्म्याद् या जिह्वा तया अवलीढं—ईषदास्वादितं प्रौढं—गरिष्ठं ब्रह्माण्डमेव भाण्डं येन सः । अत्रावोपसर्ग ईषदर्थे । तथा पुनः किंविशिष्टः ? पृथुभुवनगुहागर्भगम्भीरनादः पृथुः—विस्तीर्णा या भुवनगुहा—त्रिजगद्गह्वरं तस्य यो गर्भः—मध्यं तत्र गम्भीरो नादो यस्य सः ।[2]अनेन शरीरमहत्त्वं द्योतितम् । यस्य त्रिभुवनं गुहा एव पञ्चाननाः खलु गुहायां स्थिता नादं कुर्वन्ति[2] । पुनः किं कुर्वन्निव ? रोमच्छटानां स्कन्धस्फुरत्केशराणां सुप्रभामण्डलीभिः—शोभनकान्तिश्रेणीभिः व्योम-आकाशं निर्धूमधूमध्वजनिचितं--निर्धूमाऽग्निव्याप्तं कुर्वन्निव । यतस्तद्रोम्णां प्रभा रक्ता भवन्त्यतस्ताश्च आकाशं गच्छन्त्यो निर्धूमधूमध्वजभ्रान्तिं जनयन्तीति भावः ।।६।।

सोमार्द्धायितनिःपिधानदशनः सन्ध्यायितान्तर्मुखो,
बालार्कायितलोचनः सुरधनुर्लेखायितभ्रूलतः ।
अन्तर्नादनिरोधपीवरगलत्वक्कूपनिर्यत्तडि-
त्तारस्फारसटावरुद्धगगनः पायान्नृसिंहः स वः ।।७।।

(कीका०)—सोमार्द्धायितेति । शार्दूलविक्रीडितम् । स नृसिंहो वः—युष्मान् पायात्—रक्षतु । किम्भूतः ? सोमार्द्धायितनिःपिधानदशनः सोमार्द्धा-

१. ब. ०वर्णनात् । २–२. हं० नास्ति पाठः ।

यिताः—चन्द्रखण्डार्द्धमिवाचरिता निःपिधानाः—अनावृता दशनाः—दन्ता यस्य स तथा। सोमार्द्धशब्दात् 'कर्त्तुः क्यङ्' क्यङ्, 'अकृत्सार्वधातुकयोः' इति दीर्घः, धातुत्वं निष्ठा इट्, एवं स ध्यायितेत्यादौ उत्तरत्रापीयं दिक्। अपरं किम्भूतः ? सन्ध्यायितान्तर्मुखः सन्ध्या यथा रक्तभासुरकिरणोद्भेदभिन्ना भवन्ति तद्वदाचरितं अन्तर्मुखं वक्त्रबिलं यस्य स तथा। अपरं कीदृशः ? बालार्कायितलोचनः बालार्को यथा पीतरक्तस्तद्वदाचरिते लोचने यस्य स तथा। अपरं कीदृशः ? सुरधनुर्लेखायितभ्रूलतः इन्द्रचापमिवाचरिता भ्रूलता यस्य स तथा। अपरं कीदृशः ? अन्तर्नादनिरोधपीवरगलत्वक्कूटनिर्यत्तडित्तारस्फारसटावरुद्धगगनः नादस्य निरोधो नादनिरोधः अन्तः—मध्ये एव यो नादनिरोधस्तेन पीवरः—स्थूलो यो गलत्वक्कूटः कण्ठलक्षणः त्वगवबद्धो गर्त्तस्तस्मान्निर्यन्ती निर्गच्छन्ती तडिद्वत्—विद्युत्तुल्या तारा—उज्वला स्फारा—बहुला या सटा स्कन्धकेशावली तया अवरुद्धं—पिहितं गगनं—व्योम येन स तथा ॥७॥

(गुण०)—सोमार्द्धेति। स नृसिंहः—नृसिंहावतारो हरिर्वः—युष्मान् पायाद्—रक्षतु। 'पा रक्षणे'। किंविशिष्टः ? सोमार्द्धायितनिःपिधानदशनः सोमार्द्ध इवाचरिताः सोमार्द्धायिताः, सोमार्द्धायिता निःपिधाना—निरावरणा ओष्ठपुटानाच्छादितत्वेन दशनाः—दन्ता यस्येति दन्तानामर्धचन्द्राकृतित्वं स्पष्टमेवास्ति, [1]एतेन उज्ज्वला दन्ता दृश्यन्त इति सूचितम्[1]। तथा पुनः किंविशिष्टाः ? सन्ध्यायितान्तर्मुखः सन्ध्येव रक्तत्वसाधर्म्यात् आचरितं सन्ध्यायितं, सन्ध्यायितं अन्तर्मुखं यस्य सः। पुनः किंविशिष्टः ? बालार्कायितलोचनः बालार्क इव आचरिते बालार्कायिते, बालार्कायिते लोचने यस्य सः। [2]अनेन रविचन्द्रयोरन्तरे सन्ध्या भवति इहापि दन्तलोचनं चन्द्रसूर्याविवेति सत्यमासस्य सन्ध्यात्वम्[2]। पुनः किंविशिष्टः ? सुरधनुर्लेखायितभ्रूलतः सुरधनुर्लेखेव—इन्द्रचापलेखेवाचरिता सुरधनुर्लेखायिता, सुरधनुर्लेखायिता भ्रूलता यस्येति। अत्र क्तप्रत्यये 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्चेति' आचारार्थे क्यङ् स्यात्। 'अकृत्सार्वधातुक' इति दीर्घः। [3]तस्य सनाद्यन्ता इति धातुसंज्ञायां निष्ठायां 'आर्धधातुकस्य' इति इट्[3]। पुनः किंविशिष्टः ? अन्तर्नादनिरोधपीवरगलत्वक्कूपनिर्यत्तडित्तारस्फारसटावरुद्धगगनः अन्तः—मध्ये यो नादनिरोधः—शब्दावरोधनं तेन यः पीवरो गलस्तस्मिन् ये त्वक्कूपाः—रोमकूपास्तेभ्यो निर्यंती—निःसरन्ती तडिद्वत् तारा—उज्ज्वला स्फारा—विस्तीर्णा [4]इतस्ततः करणेन या[4] सटा—केसरच्छटा तया अवरुद्धं—व्याप्तं गगनं येन सः। [5]यद्वा, अन्तर्नादः—अन्तःशब्दस्तस्य निरोधः—निरोधनं तेन पीवरा—स्थूला या गलत्वक्—गलचर्म सैव कूपस्ततो निर्यंतीति पूर्ववत्। इति सटामहत्वं यच्चलनेन खमवरुद्धम्[5] ॥७॥

१–१. हं० पंक्तिरियं नास्ति। २–२. हं० पंक्तिरियं नास्ति। ३–३. हं० नास्ति पाठः। ४–४. हं० नास्ति। ५. हं० पंक्तिरियं नास्ति।

चटच्चटिति चर्म्मणि छ्रूमिति चोच्छलच्छोणिते,
धगद्धगिति मेदसि स्फुटरवोऽस्थिनि ष्ठागिति ।
पुनातु भवतो हरेरमरवैरिवीरोरसि,
क्वणत्करजपञ्जरक्रकचघर्षजन्मानलः ॥८॥

(कीका०)—चटच्चटितीति । पृथ्वीवृत्तम् । प्रक्षिप्तमेव । हरेः—नृसिंहस्य अमरवैरिवीरोरसि क्वणत्करजपञ्जरक्रकचघर्षजन्मा अनलः—अग्निर्भवतो वः—युष्मान् पुनातु—पवित्रीकरोतु । अमराणां वैरी चासौ वीरश्च तस्योरसि—हिरण्यकशिपुवक्षसि इत्यर्थः, क्वणन्तीति क्वणन्तः शब्दायमानाश्च ते करजाः—नखाश्च तेषां पञ्जरं—यन्त्रतयावस्थानं तदेव क्रकचः—करपत्रं शिल्पिनः काष्ठविदारणयन्त्रं तस्य घर्षात्—संघर्षणात् जन्मोत्पत्तिर्यस्य स तथा । क्व सति ? चर्मणि—हिरण्यकशिपुत्वग्रूपे चटच्चटति सति, उत्कर्त्तनसमये चटच्चटिति शब्दं कुर्वति सति, शब्दानुकृतिरियं, उत्तरत्रापीयं दिक् । पुनः क्व सति ? उच्छलच्छोणितच्छ्रूमिति शब्दानुकरणं कुर्वति सति, उच्छलतीति उच्छलत् तच्च तच्छोणितं—रुधिरं उच्छलच्छोणितं तस्मिन् । छमच्छमिति क्वचित् पाठः परं त्वसौ खपुष्पायते, वर्णवृद्धया छन्दोभङ्गात् । पुनः क्व सति ? मेदसि—धातुविशेषे धगद्धगिति शब्दानुकरणं कुर्वति सति । पुनः क्व सति ? अस्थिनि जात्यपेक्षमेकत्वं अस्थिसमूहेष्ठागिति स्फुटरवे—प्रकटशब्दानुकरणवति सति । चर्मशोणितमेदोऽस्थ्नां स्फुटनावसरोचितानि चत्वार्येतानि शब्दानुकरणानीति समस्तार्थः ॥८॥

(गुण०)—चटच्चटितीति । हरेः—विष्णोः अमरवैरिवीरोरसि अमरवैरी—दैत्यो हिरण्यकशिपुनामा स एव वीरः—सुभटस्तस्योरसि—हृदये, अथवाऽमरवैरिणः—दैत्यास्तेषु वीरः हिरण्यकशिपुनामा तस्योरसि क्वणत्करजपञ्जरक्रकचघर्षजन्मानलः क्वणन्—शब्दं कुर्वन् यः करजपञ्जरः—नखपञ्जरः[1] स एव क्रकचं—करपत्रकं तेन यो घर्षः तद् हृदयस्य घर्षणं—संघट्टनं[2] तस्माज्जन्म—उत्पत्तिर्यस्येति ईदृग्विधो यो अनलः—अग्निः स भवतः—युष्मान् पुनातु—पवित्रयतु । तथा चर्मणि—त्वचि चटच्चटिति स्फुटरवः—प्रकटशब्दः[3] वः पुनातु, [4]तथा उच्छलच्छोणिते—उच्छलद् रुधिरे च्छ्रूमिति छ्रं छ्रमिति स्फुटरवः वः पुनातु । तथा मेदसि—वपायां धगद्धगिति स्फुटरवः वः पुनातु । तथा अस्थिनि—हड्डे ष्ठागिति स्फुटरवः वः पुनातु[4] इति क्रियासंटङ्कः ।

१. हं० नास्ति ।   २. हं० नास्ति ।   ३. हं० नास्ति ।   ४–४. नास्ति पाठः ।

[1]पूर्ववृत्तिकृदेवं व्याख्याति—हरेः-सिंहस्य अनलः-वह्निः भवतः-युष्मान् पवित्रीकरोतु। अनलः कथं जातः इत्यत उक्तं। कीदृशः? अमरवैरीति स एवार्थः। कथं सति। चर्मणि-त्वचि चटच्चटिति-चटत् चटत् इति रवं कुर्वति, तथा उच्छलच्छोणिते-चलद्रुधिरे छ्ं छ्ं इति नादं कुर्वति, तथा मेदसि-मांसे धग् धग् इति कुर्वति। यत्र काष्ठच्छेदात् रवो जायते तत्रादावेवं भवति[1]। चटच्चटिति धग् धगीत्यत्र अव्यक्तानुकरणस्य 'अत इतौ' अव्यक्तानुकरणशब्दस्य 'अत इतौ' परे सह पररूपमेकादेशः। पटत् इति पटतीत्यादिवत् अव्यक्तशब्दतायां पररूपैकादेशे[2] तत्सिद्धिः। [3]हैमोऽपि कथं चटच्चटिति धगद्धगिति पटत्पटिति नात्र द्वित्वमपितु समुदायानुकरणमित्यादि। ननु चटच्चटितीत्यत्र नाम्रेडितस्यान्त्यस्य तु वा इत्यनेन सूत्रेण पररूपमेकाप्राप्तौ कथं सिद्धिः? तत्राह—नाऽयमाम्रेडितो अपि तु समुदायानुकरण मिति भवति[3] ॥८॥

शत्रोः प्राणानिलाः पञ्च वयं दश जयोऽत्र कः।
इति कोपादिवाताम्राः पान्तु वो नृहरेर्नखाः ॥९॥

(कीका०)—शत्रोरिति। अनुष्टुप्। नृहरेः-श्रीनृसिंहस्य नखा वः-युष्मान् पान्तु-रक्षन्तु। कीदृशाः? उत्प्रेक्षते—इति कोपात्-क्रोधादिव आताम्राः-आरक्ताः, अन्योपि क्रोधवशादारक्तो भवति। इति किम्? शत्रोः प्राणानिलाः-हिरण्यकशिपोः प्राणवायवः पञ्चैव, वयं तु दश, अत्र को जयः? बहुभिः स्तोका जीयन्त इत्यत्र किं चित्रमिति भावः ॥९॥

(गुण०)—शत्रोरिति। नृहरेः-नृसिंहाकृतेः विष्णोर्नखा वः-युष्मान् पान्तु[4]। किं विशिष्टाः नखाः? इति कोपादिवाताम्राः इति-हेतोः कोपादिव-क्रोधादिव आताम्राः आ-ईषत् ताम्राः-रक्ता आताम्रा, यद्यपि भाग्यवतां[5] स्वभावत एव नखा आलोहिता भवन्ति। परं कविभिरुत्प्रेक्ष्यते, किं कोपादारक्ता अमी नखा इति। इतीति किम्? शत्रोः-हिरण्यकशिपोः प्राणानिलाः-प्राणवायवः प्राणापानव्यानसमानोदानाख्याः[6] पंचैव वयं नखा दश, तस्मादत्र वैरिवीरविदारणे को जयः? यद्यल्पैर्बहवो जीयन्ते तदा जयः इति ध्वनिः परमोत्कर्षतया प्रतिभाति। परं बहुभिर्जेतृभिरल्पे जय्या जीयन्ते तदा को जयः? इति कोपोत्पत्तिकारणमिति ॥९॥

---

१. हं. नास्ति पाठः। २. हं. पररूपैकादेशेन सिद्धिः। हं ३-३ पाठो नास्ति।
४. हं० पान्तु-पवित्रयन्तु। ५. हं० नास्ति। ६. हं० नास्ति।

स सत्वरमितस्ततस्ततविहस्तहस्ताटवी-
निकृन्तसुरशत्रुहृत्क्षतजसिक्तवक्षःस्थलः ।
स्फुरद्वरगभस्तिभिः स्थगितसप्तसप्तिद्युतिः,
समस्तनिगमस्तुतो नृहरिरस्तु नः स्वस्तये ॥१०॥

(कीका०)—स सत्वरमिति । पृथ्वीवृत्तम् । स नृहरिः—श्रीनृसिंहो नः—अस्माकं स्वस्तये—अविनाशायाऽस्तु । स्वस्तीति अविनाशानामेति यास्कः । कीदृशः ? सत्वरं—औत्सुक्यतरलं यथा स्यात्तथा इतस्ततस्ततविहस्तहस्ताटवीनिकृन्तसुरशत्रुहृत्क्षतजसिक्तवक्षःस्थलः इतस्ततः सर्वतः ततौ—विस्तारितौ विहस्तौ व्याकुलौ यौ हस्तौ—नृसिंहाग्रपादौ गहनत्वात् तावेव अटवी—अरण्यानि तस्यां निकृन्तः—छिन्नो यः सुरशत्रुः—हिरण्यकशिपुस्तस्य हृत्क्षतजं—हृदयोत्थं रुधिरं तेन सिक्तं—अभ्यक्तं वक्षःस्थलं यस्य नृहरेः स तथा । अपरं किम्भूतः ? स्फुरद्वरगभस्तिभिः स्थगितसप्तसप्तिद्युतिः स्फुरद्भिः—देदीप्यमानैः वरैः—सर्वातिशायिभिः गभस्तिभिः—स्वरश्मिभिः कृत्वा स्थगिता—आच्छादिता सप्तसप्तेः—सप्ताश्वस्य सूर्यस्य द्युतिः—कान्तिर्येन स तथा । नृसिंहकान्तेर्विराट्रूपत्वेन सहस्रसूर्यसाम्यात् । तथा वैश्वरं स्मरणम्—

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः ॥

इति । अपरं किम्भूतः ? समस्तनिगमस्तुतः समस्ताश्च ते निगमाश्च समस्तनिगमाः—ऋग्वेदादीनि सर्वशास्त्राणि तैः स्तुतः तात्पर्यवृत्त्या प्रतिपादित इत्यर्थः । सर्वे हि वेदाः सगुणं ब्रह्मैव तात्पर्येण स्तुवन्ति । 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ती' ति श्रुतेः ।

ऋग्वेदादिशब्दराशेरेव शास्त्रत्वं शारीरिकमीमांसायां शास्त्रयोनित्वादिसूत्रेऽध्यवसितम् । शासनाच्छास्त्रं, शासनं च विधिनिषेधात्मना वेदेनैव क्रियते, सर्वधर्मवेदनहेतुत्वात् । वेदोऽयं ब्राह्मणा विदुर्वेदनेन यद्वेदितव्यमिति श्रुतेः । यदपि भाष्यतर्कादिषु लोकप्रसिद्धं शास्त्रत्वं तदपि वेदोपकरणत्वेनेत्यलम् ॥१०॥

(गुण०)—स सत्वरमिति । नृहरिः—नृसिंहाकृतिर्हरिः नः—अस्मभ्यं स्वस्तये—कल्याणायाऽस्तु । ननु स्वस्ति इत्यस्य अव्ययत्वात् कथं स्वस्तये ? इत्यत्र स्वाद्युत्पत्तिरुच्यते, तत्प्रभृति-

रूपकः शब्दोऽयमित्यत एतत्प्रयोगस्यादुष्टत्वं, भागवतेऽप्यस्य शब्दत्वेन भणनात्। 'त्वं पद्-रथानां किल यूथपाधिपो, घटस्वनोऽस्वस्तय आश्वनूहः, इति। किंविशिष्टो नृहरिः ? स-सत्वरं-सशीघ्रं यथा भवति तथा इतस्ततस्ततविहस्तहस्ताटवीनिकृन्तसुरशत्रुहृत्क्षतजसिक्त-वक्षःस्थलः इतस्ततः-सर्वत्र ततौ-विस्तीर्णौ विहस्तौ-वैरिहननं प्रति व्याकुलौ यौ हस्तौ तावेव अटवी-अरण्यं तस्यां निकृन्तं-छिन्नं यत् सुरशत्रोः-हिरण्यकशिपोः हृत्-हृदयं तस्माद् यत् क्षतजं-रुधिरं तेन सिक्तं-परिक्लिन्नं वक्षःस्थलं यस्य सः। पुनः किंविशिष्टः ? स्फुरद्वर-गभस्तिभिः स्फुरन्तः-देदीप्यमानाः वराः-प्रधाना ये गभस्तयः-किरणास्तैः स्थगिताः-आच्छादिताः सप्तसप्तेः-सूर्यस्य[1] द्युतिर्येन सः। पुनः किंविशिष्टः ? समस्तनिगमस्तुतः समस्तैः निगमैः-अधिष्ठानैः तात्स्थ्यात् तद्व्यपदेश इति वचनात्, तद्वासिभिः-जनैः स्तुतः समस्त-निगमस्तुतः। यद्वा, समस्तेषु निगमेषु-वेदेषु स्तुतः समस्तनिगमस्तुतः ॥१०॥

विद्युच्चक्रकरालकेसरसटाभारस्य दैत्यद्रुहः,
शोणन्नेत्रहुताशडम्बरभृतः सिंहाकृतेः शार्ङ्गिणः।
विस्फूर्जद्गलगर्जितर्जितककुब्मातङ्गदर्पोदयाः[2],
संरम्भाः सुखयन्तु वः खरनखक्षुण्णद्विषद्वक्षसः ॥११॥

(कीका०)—शार्दूलविक्रीडितम्। दैत्यद्रुहः-हिरण्यकशिपुहन्तुः सिंहाकृतेः शार्ङ्गिणः श्रीवासुदेवस्य संरम्भाः-क्रोधावेशाः वः-युष्मान् सुखयन्तु-सुखिनः कुर्वन्तु। सुखं विद्यते येषां ते सुखाः, 'अर्श आदित्वात्' अच्, सुखान् कुर्वन्तीति सुखयन्ति, सुब्धातुत्वाल्लडादयः, दैत्याय द्रुह्यति इति दैत्यध्रुट् तस्य 'क्रुध-द्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोप' इति चतुर्थ्या विग्रहः, सिंहस्येवाकृतिर्यस्य स तथा। शृंगस्य विकारः शार्ङ्गः तदस्यास्तीति शार्ङ्गी तस्य। किम्भूतस्य ? विद्युच्चक्र-करालकेसरसटाभारस्य केसराः-शिरोरुहाः सटाः-स्कन्धकेशाः केसराश्च सटाश्च केसरसटास्तासां भारः-समूहः केसरसटाभारः, विद्युतः चक्रं विद्युच्चक्रं-सौदा-मिनीवलयं तद्वत् करालः-भयानकः केसरसटाभारो यस्य स तस्य तथा। पुनः कीदृशस्य ? शोणन्नेत्रहुताशडम्बरभृतः शोणवदाचरतीति शोणति, 'सर्व-प्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वाचार' इति क्विप्, शोणत इति, शोणती-आरक्ते इत्यर्थः। शोणती च ते नेत्रे च शोणन्नेत्रे ताभ्यां कृत्वा हुताशडम्बरं-ज्वलिताग्न्याडम्बरं बिभर्तीति तथा। पुनः किम्भूतस्य ? खरनखक्षुण्णद्विषद्वक्षसः खरैः-कठोरैः नखैः क्षुण्णं-विदारितं द्विषतः-हिरण्यकशिपोर्वक्षः-हृदयं येन स तथा। किंविशिष्टाः

१. हं० श्रीसूर्यस्य। २. कीकामते तु—विस्फूर्जद्गलगर्जितैर्जित० इति पाठः।

संरम्भाः ? विस्फूर्जद्गलगर्जितैर्जितककुब्मातङ्गदर्पोदयाः गले गर्जितानि गलगर्जितानि घुंकारशब्दाः विस्फूर्जन्तीति विस्फूर्जन्ति प्रसारीणि तानि च तानि गलगर्जितानि च विस्फूर्जद्गलगर्जितानि तैः ककुभां मातङ्गाः ककुब्मातङ्गाः–दिग्गजास्तेषां दर्पोदयः–बलोत्सेकः जितः–निराकृतः ककुब्मातङ्गदर्पोदयो यैः संरम्भैस्ते तथा ।।११।।

(गुण०)—विद्युच्चक्रकरालेति । सिंहाकृतेः–भगवतः शार्ङ्गिणः–विष्णोः संरम्भाः–रिपुविनाशनव्यापाराः, [1]पूर्ववृत्तिकृता तु संरम्भाः–कोपाः इति व्याकृतं[1], वः–युष्मान् सुखयन्तु–सुखीकुर्वन्तु । सुखदुःखण् तत्क्रियायां सुखनं दुःखनं च तत्क्रियेति । किंविशिष्टस्य शार्ङ्गिणः ? विद्युच्चक्रकरालकेसरसटाभारस्य विद्युच्चक्रं–तडित्समूहस्तद्वत् करालाः–भयजनका याः केसरसटास्तासां भारः–समूहो यस्मिन् स तस्य । पुनः किंविशिष्टस्य ? दैत्यद्रुहः–दैत्याय द्रुह्यतीति दैत्यध्रुट्[2] तस्य । पुनः किंविशिष्टस्य ? शोणन्नेत्रहुताशडम्बरभृतः शोणन्–रक्तीभवन् यो नेत्रहुताशः–नयनाग्निस्तस्य यो डम्बरः–आडम्बरस्तं बिभर्तीति यः सः तस्य । अत्र डम्बरशब्दो आडम्बरार्थो, यदन्यत्रापि वृत्तादौ तथा श्रवणात् । यदुक्तं सूक्तावल्याम्—

गौरवाय गुणा एते न तु ज्ञातेयडम्बरः ।
वानेयं गृह्यते पुष्पमङ्गजस्त्यज्यते भलः ।।

[3]पुनः डम्बरशब्दो आडम्बरार्थो रत्नावतारिकायामप्युक्तो, यथा—

यदि वपुः परिमाणपवित्रितं, वदसि जैनमतानुगपूरुषम् ।
वद तदा कथमस्य विखण्डने, भवति तस्य न खण्डनडम्बरः ।।

इति[3] । शोणन्नित्यत्र 'शोणृ गतौ' । किंविशिष्टाः संरम्भाः ? विस्फूर्जद्गलगर्जितर्जितककुब्मातङ्गदर्पोदयाः विस्फूर्जन्–देदीप्यमानो यो गलः–कण्ठस्तेन यो गर्जिः–सिंहनादरूपः शब्दस्तेन तर्जितः ककुब्मातङ्गानां–दिग्गजानां पुष्पदन्तादीनां[4] दर्पोदयः–गर्वाविर्भावो[5] यैस्ते । 'गर्जक्[6] शब्दे' । यदि[7] पठीति इप्रत्यये गर्जिः पुंल्लिङ्गः । यद्यपि गर्जिशब्दो मेघध्वनिवाचकोऽस्ति । यत उक्तं हैमकोषे—'जलदस्य तु स्तनितं गर्जितं गर्जिः' इति वचनात् । परमत्र गम्भीरत्वाक्षोभ्यत्वादिधर्मसाधर्म्यात् तच्छब्दकल्पनेति । कीदृशस्य शार्ङ्गिणः ? खरनखक्षुण्णद्विषद्वक्षसः खरनखैः कृत्वा क्षुण्णानि–विदारितानि द्विषतां–वैरिणां वक्षांसि येन स तस्य इति ।।११।।

क्रोधस्फीतस्फुलिङ्गस्फुटविकटमुखोद्भूतबूत्कारदृष्टिः,
क्लिष्टस्पष्टाट्टहासैः शकटकटकरत्रुटयदद्रीन्द्रशृङ्गः ।
[देघ त्वां] भूरिबभ्रुः भुवनभटभटः जृम्भगम्भीरजृम्भा-
रम्भः जम्भारिशम्भुप्रभृतिकृतनतिः पातु देवो नृसिंहः ।।१२।।

१–१. हं० नास्ति पाठः । २. हं० दैत्यद्रुट् । ३. हं० प्रतौ तु पूर्वं रत्नकरावतारिकाया उद्धरणं पश्चात्तु सूक्तावल्याया उद्धरणमुपलभ्यते । ४. हं० 'पुष्पदन्तादीनां' नास्ति । ५. हं० 'गर्वाविर्भावो' नास्ति । ६. हं० गर्जिक् । ७. हं० पद ।०

(कीका०)—क्रोधस्फीतेत्यादि। स्रग्धरावृत्तद्वयम्। प्रक्षिप्तमपि व्याख्यायते—

नृसिंहो देवः पातु—रक्षतु विश्वमिति शेषः। कीदृशः ? क्रोधस्फीतस्फुलिङ्गस्फुटविकटमुखोद्भूतवूत्कारदृष्टिः क्रोधेन—रोषेण स्फीताः—प्रवृद्धाः स्फुलिङ्गा ये अग्निकणाः तैः स्फुटं—प्रकटं यथा भवति तथा विकटं—भयानकं यन्मुखं तस्माद् उद्भूता—उत्पन्ना वूत्कारा—भयङ्करा दृष्टिर्यस्य स तथा। पुनः कीदृशः ? क्लिष्टस्पष्टाट्टहासैः शकटकटकरत्रुटचदद्रीन्द्रशृङ्गः क्लिष्टाः—सम्मीलिता अपि स्पष्टाः—प्रकटा ये अट्टहासाः—महाहास्यानि तैः कृत्वा शकटवत्-बृहदनोवत् कटेति शब्दानुकृतिः कटं कुर्वन्तीति कटकराणि भाराक्रान्तमहाशकटवत् कटकटेति शब्दायमानानि त्रुटचन्ति अद्रीन्द्राणां—गिरिश्रेष्ठानां शृङ्गाणि—शिखराणि यस्मात् स तथा। पुनः कीदृशः ? भूरिबभ्रुः—अत्यन्तपिङ्गलः। पुनः कीदृशः ? भुवनभटभटः भुवने—त्रैलोक्ये ये भटाः—वीरा हिरण्यकशिप्वादयस्तेषां अपि भटो नियन्ता अतिसुभग[1] इत्यर्थः। पुनः कीदृशः ? जृम्भगम्भीरजृम्भारम्भः जृम्भा—मुखप्रसारिका तस्या आरम्भो जृम्भारम्भः, जृम्भते इति जृम्भः—प्रवृद्धोऽत एव गम्भीरो जृम्भारम्भो यस्य स तथा। हे देव ! त्वां नमाम इत्यर्द्धोक्त्या जम्भारिशम्भुप्रभृतिकृतनतिः जम्भो नामासुरः तस्यारिः—शत्रुरिन्द्रः शं—सुखं भक्तानां भावयति—सम्पादयतीति, शम्भुः—रुद्रः, जम्भारिश्च शम्भुश्च जम्भारिशम्भू अल्पाच्धरत्वेन[2] प्रधानत्वेन च शम्भोः पूर्वनिपाते प्राप्ते जम्भारिशब्दस्य पूर्वनिपातः समासविधेः प्रायिकत्वाश्रयणात्, तौ जम्भारिशम्भू प्रभृती आदी येषां ब्रह्मादीनां तैः कृता नतिः—नमस्कृतिर्यस्मै स तथा, देवस्त्वां नमाम इत्यर्द्धोक्तिर्भयानकनृसिंहरूपदर्शनेन शक्रादीनां वैचित्यज्ञापिकेत्यलम्॥१२॥

यं दृष्ट्वा नारसिंहं विकृतनखमुखं रौद्रदंष्ट्राकरालं,
पिंगाक्षं स्तब्धकर्णं बहुलशिखिशिखाकुञ्चिताग्राग्रकेशम्।
भीतास्ते दानवेन्द्रा असुरवरभटाः शस्त्रमुद्गीर्णवन्तो,
हा हा किं किं किमेतत् क्षुभितजनपदः पातु वश्चक्रपाणिः॥१३॥

(कीका०)–यं दृष्ट्वेति। स चक्रपाणिर्वः—युष्मान् पातु—रक्षतु। कीदृशः ? हा हा इति कष्टे, किं किं किमेतदिति क्षुभितजनपदः किम् शब्दत्रयं सम्भ्रमवशाद् विस्मृतसर्वविचारतां सूचयति। क्षुभिताः—सञ्चलिता जनपदाः—सर्वे देशा

---

१. ब. अतिसुभट। २. ब. अल्पावतरत्वेन।

यस्मात् स तथा । स कः ? यं नृसिंहं दृष्ट्वा ते शक्रादिजयेन प्रसिद्धा असुरवरभटा दानवेन्द्रा हन्त आ इति पदच्छेदपक्षे, हन्तेति खेदे, आ इति कोपे, शस्त्रं खड्गादि, उद्गूर्य–(? उद्गीर्णवन्तः)उय्यम्य भीताः–त्रस्ताः सन्तः पलायितेत्यर्थः। नरश्चासौ सिंहश्च नरसिंहः, नरसिंह एव नारसिंहः, स्वार्थे तद्धितो राक्षसवायसादिवत् । 'आस्तु स्यात् कोपपीडयोः' इत्यमरः । यद्वा, हन्ता–घातुकोयमिति, भीता दानवेन्द्राः शस्त्रं धनुराद्युद्गूर्य--अवगणय्य पलायिता इति शेषः । किम्भूतं नारसिंहम् ? विकृतनखमुखं नखाश्च मुखं च नखमुखं विकृतं--भयंकरं नखमुखं यस्य स तम् । पुनः कीदृशं ? रौद्रदंष्ट्राकरालं रौद्राः--भयावहाश्च ता दंष्ट्राश्च रौद्रदंष्ट्राः ताभिः करालः--दुराकलनीयस्तम्,तथा पिङ्गाक्षं पिंगे--पिङ्गले अक्षिणी यस्य स पिङ्गाक्षः, बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गादिति समासान्तः षच् । पुनः कीदृशं ? स्तब्धकर्णं वीररसावेशेन स्तब्धौ--उच्चतां गतौ कर्णौ--श्रोत्रे यस्य स तम् । पुनः कीदृशम् ? चटुलशिखिशिखाकुञ्चिताग्राग्रकेशं शिखाः–ज्वालाः सन्ति यस्य स शिखी–वह्निस्तस्य शिखा शिखिशिखाः बहुलाश्चञ्चलाश्च ताः शिखिशिखाश्च चटुलशिखिशिखाः केशानां अग्राणि अग्रकेशाः कुञ्चितानि सम्मीलितानि अग्राणि येषां ते कुञ्चिताग्राः चटुलशिखिशिखावत् कुञ्चिताग्रा अग्रकेशा यस्य स तम् ॥१३॥

[द्वादशत्रयोदशपद्ययोर्नोपलभ्यते गुणविनयटीका]

यत्राखण्डलदन्तिदन्तमुसलान्याखण्डितान्याहवे,
धारा यत्र पिनाकपाणिपरशोराकुण्ठिता वक्षसि ।
तन्मे तावदुरो नृसिंहकरजैर्व्यादीर्यते साम्प्रतं,
दैवे[2] दुर्जनतां गते तृणमपि प्रायेण वज्रायते ॥१४॥

(कीका०)–यत्राखण्डलेत्यादि । शार्दूलविक्रीडितेन नृसिंहवर्णनमुपसंहरन्नाह–

येन नृसिंहेन वक्षसि विदार्यमाणे सति हिरण्यकशिपुरेवमुक्तवान् स नृसिंहः पात्विति सम्बन्धविधायकसकलवाक्याध्याहारः । किमुक्तवान्? तदाह–यत्रेति, यस्मिन् ममोरसि आखण्डलदन्तिदन्तमुशलानि आहवे–संग्रामे आखण्डितानि–कुण्ठीभूतानि आखण्डलस्य इन्द्रस्य यो दन्ती–ऐरावणस्तस्य चत्वारो दन्ता एव मुशलाकारत्वात् मुशलानि आखण्डलदन्तिदन्तमुशलानि ।

१. ब. लस्य तिवादयः । २. कीकामते तु–देवे ।

अपरं यत्र वक्षसि पिनाकपाणिपरशोरपि धारा आकुण्ठिता—कुण्ठीभूता 'पिनाको जगवं धनुः' इत्यमरः। स पिनाकः पाणौ यस्यासौ पिनाकपाणिः शम्भुस्तस्य परशुः-कुठारः पिनाकपाणिपरशुस्तस्य तावत्। अधुना तु मे—मम तत्प्रसिद्धमहिमकमुरः—वक्षःस्थलं नृसिंहकरजैः नखमात्रैरेव साम्प्रतं लाघवेनैव व्यादीर्यते—विशेषेण आ सर्वतः पाट्यते, अत एवमध्यवस्यामः देवे—विधौ दुर्जनतां गते—प्रतिकूलतामापन्ने सति प्रायेण बाहुल्येन तृणमपि वज्रायते वज्रः—कुलिशः स इव आचरतीव वज्रायते, कर्त्तुः क्यङ्, अकृत्सार्वेति दीर्घः, धातुत्वाल्लट् लस्य तिबादयः ॥१४॥

इति नृसिंहावतारः।

(गुण०)—यत्राखण्डलेति। नृसिंहेन विदार्यमाणे वक्षसि स हिरण्यकशिपुरित्थं ऊचिवान्। किं तदित्याह—तावत् आदौ तन्मे—मम हिरण्यकशिपौ उरः—हृदयं सत्वरं—शीघ्रं नृसिंहकरजैः-नृसिंहनखैः[1] व्यादीर्यते। तदिति किम्? यत्र उरसि तथाविधकाठिन्ययुक्ते आखण्डलदन्तिदन्तमुसलानि आखण्डलस्य—इन्द्रस्य यो दन्ती—ऐरावणस्तस्य ये दन्तास्त एव[2] मुसलानि[3] आहवे—परस्परं ऐरावणहिरण्यकशिपुदैत्ययोर्युद्धे जायमाने आखण्डितानि आ—समन्तात् खण्डितानि आखण्डितानि—भग्नानीत्यर्थः, [4]एवंविधं कठोरमित्यर्थः[4]। तथा यत्र वक्षसि—उरसि पिनाकपाणेः—ईश्वरस्य परशोः—कुठारस्य धारा—मुखं[5] आकुण्ठिता—आकुण्ठतां प्राप्ता, [6]अस्यास्तैक्ष्ण्यं गतमित्याशयः[6]। तदुरः साम्प्रतं[7] नखैर्व्यादीर्यते, तद्युक्तं। यतो दैवविधौ[8] दुर्जनतां गते—प्रातिकूल्यं प्राप्ते सति प्रायेण स्वभावतस्तृणमपि वज्रायते वज्रमिवाचरति वज्रायते। 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' उपमानात् कर्त्तुः सुप्, आचारार्थे क्यङ् स्यात् सान्ते सलोपश्च, अकृत्सार्वधातुकः इति दीर्घः। यतः—

किन्हेवि जले किन्हो वि कालिउं, फणमणीहिं उवइट्ठो।
देहुप्पन्ना वि विसं वयंति देवे पराहुत्ते।

[9]कालिदासेनाप्युक्तम्—

विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया[9] ॥१४॥

[10]इति श्रीगुणविनयविरचितायां खण्डप्रशस्तिवृत्तौ
नृसिंहावतारहरिवर्णनव्याख्या समाप्ता।[10]

। ४ ।

---

१. हं० नृसिंहनखरैः। २. हं० 'ये दन्तास्त एव' नास्ति। ३. हं० दन्तमुसलानि। ४. हं० 'एवंविधं कठोरमित्यर्थः' नास्ति। ५. हं० 'मुखं' नास्ति। ६--६. हं० नास्ति पाठः। ७ हं० साम्प्रतं इदानीं। ८. हं० दैवे भाग्ये। ९. हं० प्रतौ नास्ति पाठः। १०-१०. हं० इति श्रीनृसिंहावतारश्रीहरिवर्णनव्याख्या।

५. अथ वामनावतारः

किं छत्रं किन्नु रत्नं तिलकमुत तथा कुण्डलं कौस्तुभो वा,
चक्रं वा वारिजं वेत्यमरयुवतिभिर्यद्बलिद्वेषिदेहे ।
ऊर्ध्वं मौलौ ललाटे श्रवसि हृदि करे नाभिदेशे च दृष्टं,
पायात्तद्वोऽर्कबिम्बं स च दनुजरिपुर्वर्द्धमानः क्रमेण ॥१॥

(कीका०)—अथ क्रमप्राप्तं वामनावतारवर्णनमुपक्रमते स्रग्धरावृत्तेन—

किं छत्रमिति । तत्प्रसिद्धं अर्कबिम्बं–सूर्यमण्डलं स प्रसिद्धो दनुजरिपुश्च–दानवारिर्वामनमूर्त्तिः श्रीनारायणोऽपि क्रमेण वर्द्धमानो वृद्धिं गच्छन् सन् वः–युष्मान् पायात्–रक्षतु । तत्किम् ? यदर्कबिम्बं अमरयुवतिभिः–देवाङ्गनाभिर्बलिद्वेषिदेहे वर्द्धमानवामनशरीरे एवंविधं दृष्टं, वक्ष्यमाणप्रकारेण वितर्कितमित्यर्थः । तमेव वितर्कं दर्शयति—किं छत्रमित्यादिना । श्रीवामनस्य त्रिविक्रमरूपमाश्रित्य वर्द्धमानस्य सतो [1]यदर्कबिम्बमूर्ध्वमागतं–शिरसि उपरि स्थितं तदैवं विमृष्टं देवस्य शिरसीदं किं छत्रं–आतपत्रम् ? यदा मौलौ–मुकुटे स्थितस्तदा किमेतद् रत्नं नु चूडामणिरयमिति वितर्कितम् । यदा ललाटे स्थितं तदा किं तिलकमिदमिति व्यतर्कि । यदा श्रवसि–कर्णे स्थितं तदा लसद्–देदीप्यमानं किं कुण्डलमिदमिति मीमांसितम् । यदा हृदि समागतं तदा किमयं कौस्तुभो मणिर्भासतीति चिन्तितम् । यदा पुनः करे स्थितं तदा किमिदं चक्रमित्यतर्कि । यदा पुनर्नाभिदेशे विशिष्टवृद्धिवशादायातं तदा किमिदं वारिजं–पद्ममिति पर्यालोचितम् । एवं क्रमेण मुग्धसिद्धाङ्गनाभिरनेकधाभावैर्विकल्प्य पर्यालोचितम् । तद्वः पायादिति सम्बन्धः ॥१॥

(गुण०)—अथ श्रीवामनावतारहरिवर्णनव्याख्या प्रस्तूयते—

किं छत्रमिति । स दनुजरिपुः–विष्णुस्तत् अर्कबिम्बं च वः पायात् । किम्भूतो दनुजरिपुः ? क्रमेण वर्द्धमानः–वृद्धिं प्राप्नुवन्, यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धात् । स इति कः ? यस्य श्रीविष्णोः बलिद्वेषिदेहे बलिः–बलिनाम्नो दैत्यस्य द्वेषी बलिद्वेषी वामनाकृत्या यो देहस्तस्मिन् । तदिति किम् ? यत् अर्कबिम्बं–सूर्यमण्डलं अमरयुवतिभिः-अप्सरोभिः इति अमुना वक्ष्यमाणप्रकारेण दृष्टम् । इतीति किम् ? यत् एतद् देहे ऊर्ध्वं–उपरिभागे[2] अर्कबिम्बं

---

१. ब. यदार्कबिम्बं । २. हं० 'उपरिभागे' नास्ति ।

तत् किमिति वितर्के, तादृक् वर्तुलत्वभास्वरत्वादिगुणसाम्यात् छत्रं वर्तते ? तथा पुनस्तच्छरीरे ततोऽपि वृद्धिं प्राप्ते सति, तत् अर्कबिम्बं मौलौ–मुकुटे, किन्तु इति विकल्पे रत्नं–चूडामणिर्वर्तते ? तथा पुनरपि तच्छरीरे वृद्धिं प्राप्ते सति तदर्कबिम्बं ललाटे–अलिके किं तिलकं वर्तते ? उत इति वृद्धिं अथवाऽर्थः । तथा ततोऽपि तच्छरीरे वृद्धिं आसादिते सति तदर्कबिम्बं श्रवसि–कर्णे किं कुण्डलं वर्तते ? यद्यपि ते[१] श्रवसी द्वे वर्तते परमत्र तदेकस्यैवोक्तिः, सा तदेकाऽर्कबिम्बापेक्षयेति ज्ञेयम् । तथा तथैव देहे वृद्धिं प्राप्ते सति तदर्कबिम्बं वा–अथवा हृदि–हृदये किं कौस्तुभो मणिर्वर्तते ? हरेर्हृदयेकौस्तुभमणेः सद्भावात् । तथा ततोऽपि तद्देहे समुच्छ्रयं प्राप्ते सति करे–हस्ते किं तदर्कबिम्बं चक्रं वर्तते ? तथा ततोऽपि देहे वृद्धिं प्राप्ते सति तदर्कबिम्बं नाभिदेशे किं वारिजं–कमलमस्ति ? यतो हरेर्नाभौ वारिजं–वारिजोद्भवालयोऽस्त्येवेति[२], अतस्तत्परिकल्पनेति । अत्रेयं कथासूची इतिहासे श्रूयते[३]—

[४]बलिना सकलभूस्वामिना इन्द्रादयोऽपि पराभूताः, धर्मतत्परश्चाभूद् बलिस्तेन यदा स्वर्गादि प्राप्तुं अश्वमेधादिकं कर्म प्रारेभे, तदा परमेश्वरेण कर्मभङ्गार्थिना वामनं रूपं कृत्वा समाजग्मे[४] । तदा तेनाऽपि बलिना समायातं ब्राह्मणं[५] भिक्षार्थिनमवगम्य प्रोचे—रे वराक ! मां याचस्व यदीप्सितम्, इत्युक्ते हरिणा स्वचरणत्रयावस्थितिहेतोः स बलिः भुवं अयाचीति । 'ययाचे वसुधां बलिं' इति प्रक्रियाकौमुदीवचनात् । ततस्तेनाप्युक्तं—दत्ता, इत्युक्ते हरिर्वामनाकृतिरपि क्रमेण प्रवर्द्धमानदेहो [६]बभूव । तदानीमियं कल्पना ताभिः–सुरवनिताभिरकारि[६] किं छत्रमित्यादि । यतः—

जणणी सा सुपसत्था जीए उयरम्मि धरिय बलिराओ ।
तेलुक्कधुराधरणो देहि त्ति भणाविओ किण्हे ।।४१।।

अथ शरीरं वर्णयति—

खर्वग्रन्थिविमुक्तसन्धिविलसद्वक्षःस्फुरद्कौस्तुभं,
निर्यन्नाभिसरोजकुड्मलपुटीगम्भीरसामध्वनिः ।
पात्रावाप्तिसमुत्सुकेन बलिना सानन्दमालोकितं,
पायाद्वः क्रमवर्द्धमानमहिमाऽऽश्चर्यं मुरारेर्वपुः ।।२।।

---

१. हं० 'ते' नास्ति । २. नास्ति । ३. हं० 'इतिहासे श्रूयते' नास्ति । ४-.४. हं० प्रतौ अस्य स्थाने —यदा हरिर्वामनाकृतिं कृत्वा बटुरूपो बलिदैत्यं हन्तुमाजगाम । ५. हं० 'ब्राह्मणं' नास्ति । ७. हं. अभूत्तदानीं सुरवनिताभिरियं कल्पनाऽकारि ।

(कीका०)—खर्वग्रन्थीति । शार्दूलविक्रीडितम् । मुरारेः—श्रीकृष्णस्य वपुर्वः युष्मान् पायाद्—रक्षतु । किम्भूतं वपुः ? क्रमवर्द्धमानमहिमाश्चर्यं महतो भावः महिमा अपूर्वचमत्काराधायकं वस्तु आश्चर्यमित्युच्यते, महिमा च आश्चर्यं च महिमाश्चर्ये क्रमेण वर्द्धमाने महिमाश्चर्ये यस्य तत्तथा । ब्रह्माण्डात्मकमाहात्म्याधारत्वं परमेश्वरस्य छान्दोग्ये श्रूयते—तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः' इति । तावान् ब्रह्माण्डरूपः इति श्रुत्यर्थः । सर्वाश्चर्याधारत्वं च पञ्चमवेदे हरिवंशे धन्योपाख्याने स्मर्यते—

आश्चर्यः खलु देवानामेकस्त्वं पुरुषोत्तम !
धन्यश्चासि महाबाहो लोके नान्योस्ति कश्चन ।।

इत्यादिना । पुनः किंविशिष्टं वपुः ? खर्वग्रन्थिविमुक्तसन्धि वपुषो वामनत्वात् खर्वाः—ह्रस्वा ये ग्रन्थयः जान्वादीन्युचास्थीनि तैर्विमुक्ता वृद्धिसमयेत्युक्ताः सन्धयः दशोत्तरद्विशतीसंख्याकानि सन्धानानि यस्मिन्वपुषि तत्खर्वग्रन्थिविमुक्तसन्धि वामनं वपुर्वर्द्धमानं सत् स्वल्पग्रन्थिसन्धिभ्यो विमुक्तमिव हि महत्त्वं धत्ते । शरीरसन्धीनामियं संख्या चायुर्वेदे स्मर्यते—'द्वे दशोत्तरसन्धिशते' इति । अपरं कीदृक् वपुः ? विलसद्वक्षःस्फुरत्कौस्तुभं विलसद्—विशालतामापद्यमानं यद्वक्षः—त्रिविक्रमहृदयं तत्र स्फुरन्—देदीप्यमानः कौस्तुभमणिर्यस्मिन् तत्तथा । अपरं किम्भूतम् ? निर्यन्नाभिसरोजकुड्मलपुटीगम्भीरसामध्वनिः नाभेः सरोजकुड्मलं—कमलकोशः स एव पुटी, साम्नां ध्वनिः सामध्वनिः गम्भीरश्चासौ सामध्वनिः गम्भीरसामध्वनिः निरेतीति निर्यन् निःसरन् नाभिसरोजकुड्मलपुट्याः गम्भीरसामध्वनिर्यस्मिन् तत्तथा । विष्णोर्नाभिकमले ब्रह्मणोऽवस्थानात् तद्गीतसामध्वनिसद्भावः प्रसिद्धः । यद्वा, परा पश्यंती मध्यमा वैखरीति चतुर्धा क्रमेणोत्पद्यमाना वाणी मूलाधारान्नाभिकमलात् परारूपेण सूक्ष्मतयाऽभिव्यज्यमानापि विष्णोरचिन्त्यशक्तित्वात् गम्भीरसामध्वनिरूपेण विपरिणमत इत्यलम् । अपरं कीदृशं वपुः ? पात्रावाप्तिसमुत्सुकेन-सदतिथिप्राप्तावुत्कण्ठितेन बलिना सानन्दं—सहर्षं यथा भवति तथा आलोकितं—अत्यादरेण दृष्टमित्यर्थः ।।२।।

(गुण०)—खर्वेति । मुरारेः—विष्णोर्वपुः वः—युष्मान् पायाद्—रक्षतु । किंविशिष्टं वपुः? क्रमवर्द्धमानमहिमाश्चर्यं क्रमेण वर्द्धमानो यो महिमा—महत्वं तेन आश्चर्यं यस्मिन् तत् । 'वामन एवं कथं अवर्द्धत ? इत्यत आह' । पुन. किंविशिष्टम् ? खर्वग्रन्थिविमुक्तसन्धिः खर्वग्रन्थीनां विमुक्ताः सन्धयो येन तत् । *पूर्ववृत्तिकृदेवं व्याचष्टे—खर्वः—तीक्ष्णो यो ग्रन्थिः—

१--१. हं० नास्ति । *-*. हं० नास्ति पाठः ।

कायग्रन्थिस्ततो विमुक्ताः सन्धयो यस्येति तदा वर्द्धनवशाद् विमुक्तसन्धीत्यनुशयः* । पुनः किं विशिष्टम् ? विलसद्वक्षःस्फुरत्कौस्तुभं विलसद्–देदीप्यमानं यद्वक्षः–हृदयं तस्मिन् स्फुरत् कौस्तुभं यस्मिन् तत् । पुनः किंविशिष्टम्[1] ? निर्यन्नाभिसरोजकुड्मलपुटीगम्भीर-सामध्वनिः निर्यन्–निःसरन् नाभिसरोजकुड्मलपुटचा–नाभिकमलकुड्मलपुटात् गम्भीरः सामध्वनिः–ब्रह्मणः सामवेदध्वनिर्यस्मिन् तत् । [2]ब्रह्मा खलु सर्वदा तन्नाभ्यब्जे स्थितः सामानि गायति तत्पूर्वं वामनावतारवशात् तिरस्कृतं, पश्चाद् यदा महच्छरीरी अभूत् तदा तदाविर्भावः ।[2] पुनः किंविशिष्टम् ? पात्रावाप्तिसमुत्सुकेन पात्रस्य–कपटद्विजाकारस्य हरेर्या अवाप्ति-[3]स्तस्यां समुत्सुकेन बलिना । यतः पात्रं दातृभिर्बहुभिः पुण्यैरवाप्यते । [4]अहो ममैवाद्य भाग्यं यत्कृष्णरूपं पात्रं याचनायायातं[4] अतः सानन्दं–साह्लादं यथा स्यात्तथा आलोकितं–दृष्टम् ॥२॥

ब्रह्माण्डच्छत्रदण्डः शतधृतिभवनाम्भोरुहो नालदण्ड,
क्षोणीनौकूपदण्डः क्षरदमरसरित्पट्टिकाकेतुदण्डः ।
ज्योतिश्चक्राक्षदण्डस्त्रिभुवनविजयस्तम्भदण्डोऽङ्घ्रिदण्डः,
श्रेयस्त्रैविक्रमस्ते वितरतु विबुधद्वेषिणां कालदण्डः ॥३॥

(कीका०)—ब्रह्माण्डेति । स्रग्धरा । त्रैविक्रमोऽङ्घ्रिदण्डस्ते–तव श्रेयः–कल्याणं वितरतु–ददातु । त्रयो विक्रमाश्चरणन्यासा यस्य स त्रिविक्रमः तस्यायं त्रैविक्रमः । तथा च मन्त्रवर्णाः—'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्' इति । अंह्रिर्दण्ड इव दीर्घत्वादिति अंह्रिदण्डः । कीदृशो अंह्रिदण्डः ? ब्रह्माण्डच्छत्रदण्डः ब्रह्माण्डशब्देनेहोपरितनकपालमुच्यते, तदेव छत्रं–आतपत्रं तस्य दण्डः उद्यत-संलग्नत्वात् दण्डाकारतां दधान इत्यर्थः । छत्रान्तरे च दण्डेन भाव्यं । अपरं शत-धृतिभवनाम्भोरुहोनालदण्डः देवादिस्तम्बपर्यन्तेषु व्यूहेषु सूत्रात्मना प्रविश्य हिरण्य-गर्भेण धारणात् । शतमसंख्या धृतिर्यस्यासौ शतधृतिः–ब्रह्मा 'एष लोकेश्वर एष लोकपाल स सेतुर्विधरण' इति श्रुतेः । शतधृतेर्भवनं–गृहं शतधृतिभवनं, अम्भसि रुहतीति अम्भोरुट्–कमलं, योगरूढयोरुभयोरप्याश्रयणात् । शतधृतिभवनमेव अम्भोरुट् शतधृतिभवनाम्भोरुट् तस्य नाल एव दण्डो नालदण्डः, कमलान्तरे नालदण्डसंगतिवद् ब्रह्मभवनसंगतोऽयमित्यर्थः । अपरं कीदृशः ? क्षोणीनौकूप-दण्डः क्षोणी–पृथ्वी सैव नौः–तरीः तस्याः कूपदण्डः–गुणवृक्षकाकार इत्यर्थः । 'तरीनौः संगिनी बेडा कूपको गुणवृक्षकः' इत्यमरः । स हि नाविकप्रसिद्धो

१. हृं० किं लक्षणम् । २–२. हृं० नास्ति पाठः । ३. हृं० अवाप्तिः–प्राप्तिः । ४–४. हृं० नास्ति पाठः ।

दण्डः। अपरं कीदृशः ? क्षरदमरसरित्पट्टिकाकेतुदण्डः क्षरन्ती–चरणान्निस्सरन्ती या अमरसरित्–गङ्गा सैव पट्टिकाकारः केतुः–ध्वजविशेषः तस्य दण्ड इव दण्डः, तथा ज्योतिश्चक्राक्षदण्डः ज्योतिष्चक्रं–नक्षत्रमण्डलं तदन्तरा प्रविष्टत्वात् तस्याक्षदण्डः–धुरीतुल्य इत्यर्थः। अपरं कीदृशः ? त्रिभुवनविजयस्तम्भदण्डः बलेः[1] सकाशात् या त्रैलोक्यविजितिस्तस्यां जयस्तम्भसमानः। तथा विबुधद्वेषिणां कालदण्डः विबुधान्–देवान् द्वेष्टुं शीलमेषां ते विबुधद्वेषिणस्तेषां कालदण्डः–मृत्युदण्ड इत्यर्थः ।।३।।

(गुण०)—ब्रह्माण्डच्छत्रेति। त्रैविक्रमः त्रयो विशिष्टाः क्रमाः–सृष्टिस्थितिप्रलयलक्षणाः शक्तयोऽस्य त्रिषु लोकेषु विक्रमः पादन्यासो वाऽस्येति त्रिविक्रमः, त्रिविक्रमस्यायं त्रैविक्रमः, यतो बलिसंहारे हरिस्त्रिविक्रमो बभूवेति सभ्याः। स त्रैविक्रमः अंह्रिदण्डः–चरण[1]-स्ते–तुभ्यं श्रेयः–कल्याणं वितरतु–ददातु। कीदृशोंऽह्रिदण्डः ? ब्रह्माण्डच्छत्रदण्डः ब्रह्माण्डमेव छत्रं ब्रह्माण्डछत्रं तस्य दण्ड इव यः स, तद्धारकत्वात्। [2]छत्रं यथा दण्डेन तिष्ठति तथा ब्रह्माण्डमनेन[2]। पुनः किंविशिष्टः ? शतधृतिभवनाम्भोरुहः शतधृतेः–ब्रह्मणो यत् भवनाम्भोरुट्–निवासपद्मं तस्य ब्रह्मनिवासपद्मस्य नालदण्ड इव नालदण्डः। [3]यद्वा, शतधृतेः–विधेर्यत् भवनमुत्पत्तिस्थानं अम्भोरुट्–कमलं तस्य नालदण्डः[3]। पुनः किंविशिष्टः ? क्षोणीनौकूपदण्डः' क्षोणी–भूः सैव नौः–बेडा तस्यां कूपदण्ड इव–गुणवृक्ष इव यः सः क्षोणीनौकूपदण्डः। पुनः किंविशिष्टः ? क्षरदमरसरित्पट्टिकाकेतुदण्डः क्षरन्ती–पानीयं वहन्ती या अमरसरित्–गङ्गा सैव पट्टिका तस्याः केतुदण्ड इव–ध्वजादण्ड इव यः सः क्षरदमरसरित्पट्टिकाकेतुदण्डः। पुनः किंविशिष्टः ? ज्योतिश्चक्राक्षदण्डः ज्योतिश्चक्रस्य–तेजोरथाङ्गस्य[4] अक्षदण्ड इव–नाभिक्षेप्यदारुदण्ड इव यः सः ज्योतिश्चक्राक्षदण्डः, [5]यथा अक्षदण्डेन चक्रं तिष्ठति तथा ज्योतिरनेन। पुनः किंविशिष्टः ? त्रिभुवनविजयस्तम्भदण्डः त्रिभुवनस्य विजयं स्तम्भदण्ड इव–त्रिजगत्कीर्त्तिस्तम्भदण्ड इव यः सः त्रिभुवनविजयस्तम्भदण्डः, त्रिभुवनमप्यनेन विजयी भवति[5]। पुनः किंविशिष्टः ? विबुधद्वेषिणां कालदण्डः विबुधद्वेषिणां–अमरद्वेषिणां[6] दैत्यानां कालदण्ड इव–मृत्युदण्ड इव यः सः कालदण्डः ।।३।।

हस्ते शस्त्रकिणाङ्कितोऽरुणविभाकिर्मीरितोरःस्थलो,
नाभिप्रेङ्खदलिर्विलोचनयुगप्रोद्भूतशीतातपः।
बाहूर्मिश्रितवह्निरेष[7] तदिति व्याक्षिप्य वाक्यं कवे-
स्तारैरध्ययनैर्हरन् बलिमनः पायाज्जगद्वामनः ।।४।।

---

१. हं० चरणयुगं। २–२. हं० नास्ति। ३–३. हं० नास्ति पाठः। ४. हं० 'तेजोरथाङ्गस्य' नास्ति। ५-५ हं० नास्ति पाठः। ६. हं. 'अमरद्वेषिणां' नास्ति। ७. कीकामते तु—वाग्भिर्भिश्रितवह्निरेष इति पाठः।

(कौका०)—हस्ते इति। शार्दूलविक्रीडितद्वयम्। तत्र प्रथमः प्रक्षिप्तः। वामनः—ह्रस्वमूर्त्तिर्नारायणो जगद्—विश्वं पायात्—रक्षतु। किं कुर्वन्? कवेः—दैत्यगुरोः शुक्राचार्यस्य इति वक्ष्यमाणं वाक्यं व्याक्षिप्य—अनादृत्य स्थितो यो बलिस्तस्य मनः—चित्तं तारैः—उच्चस्वरैर्वेदाध्ययनैर्हरन्—वशीकुर्वन्। इति किम्? हे बले! नैष ब्राह्मणः किन्तु छद्मवामनो हस्ते शस्त्रकिणाङ्कितत्वात् क्षत्रियोऽनुमीयते, शस्त्रकिणं—ज्याघातचिह्नं तेनाङ्कितः—चिह्नितः। अथास्योत्तरोत्तरं पारमेश्वरीं विभूतिं सूचयन् विशिनष्टि—अरुणविभाकिर्मीरितोरःस्थल इति, सूर्यनेत्रत्वात् अरुणस्य सारथेः या विभा—कान्तिस्तया किर्मीरितं—मिश्रितं उरः—स्थलं—वक्षो यस्य स तथा। यद्वा, अरुणः—आरक्तः स्वाभाविकः पारमेश्वरोऽङ्गरागः शिष्टमविशिष्टं। अपरं किम्भूतः? नाभिप्रेङ्खद्दलिः नाभौ कमलसद्भावात् प्रेंखन्—दोलायमानः अलिः—भ्रमरः अलिवन् मधुरं शब्दायमानो ब्रह्मा वा यस्मिन् स तथा। अपरं किम्भूतः? विलोचनयुगप्रोद्भूतशीतातपः शीतं च आतपश्च शीतातपौ, विलोचनयुगात् चन्द्रसूर्यरूपात् क्रमेण प्रोद्भूतौ—उत्पन्नौ शीतातपौ यस्य स तथा। अपरं किम्भूतः? वाग्भिर्मिश्रितवह्निः वाणीभिर्मिश्रितो वह्निर्यस्य स तथा। मिश्रितशब्देनाऽऽपातमधुरत्वं परिणामेऽग्नित्वं च वाचा सूच्यते। वह्निपदेन परमेश्वरत्वं च अस्याग्निजिह्वत्वात्॥४॥

(गुण०)—हस्ते शस्त्रेति। वामनः—वामनावतारो हरिर्जगत् पायात्। किंविशिष्टः? हस्ते—पाणौ शस्त्रकिणाङ्कितः शस्त्रकिणैः—शस्त्रव्रणै रंकितः—चिह्नितः। पुनः किंविशिष्टः? अरुणविभाकिर्मीरितोरःस्थलः अरुणविभाभिः—लोहितकान्तिभिः किर्मीरितं—कर्बुरितं उरःस्थलं यस्य सः। यतो हरेः[१]—भगवतो हृदये कौस्तुभमणिः—लोहितच्छविरस्ति, अतस्तत् प्रभाभिः किर्मीरितत्वं वक्षःस्थलस्य। पुनः किंविशिष्टः? नाभिप्रेङ्खदलिः नाभौ प्रेङ्खन् देदीप्यमानो अलिः—भ्रमरो यस्य सः। यतो हरेर्नाभौ कमलं वर्ततेऽतस्तत्र तत्सुरभिगन्धलोलुपतया भ्रमरागमनं घटत एवेति। पुनः किंविशिष्टः? विलोचनयुगप्रोद्भूतशीतातपः विलोचनयुगाद्—विशिष्टनेत्रद्वन्द्वात् प्रोद्भूतौ शीतातपौ यस्य सः। [२]पूर्ववृत्तिव्याख्या त्वेवम्—नयनयुगे प्रोद्भूतः शीतातपो यत्र इत्यनेन नयनयुगं चन्द्रसूर्यतेजोप्युल्लंघ्य उपरिगतमित्याशयः।[२] वामनः[३] किं कुर्वन्? कवेः—शुक्रस्य असुरगुरोरिति तद्[४] वाक्यं व्याक्षिप्य—तिरस्कृत्य तारैः—उच्चस्वरैरध्ययनैर्वेदपाठैः बलिमनः—बलिदैत्यचित्तं हरन्—स्ववशं नयन्[५]। तदिति किम्? रे मूढमते! न जानास्येनं वामनावतारं—हरिम्? यतस्त्वं चर्मचक्षुरतो नाऽवगच्छसि, अहं तु दिव्यचक्षुषा वेद्मि, यत् एषः वामनः बाहूर्मिश्रितवह्निः समागतोऽस्तीति। बाहूर्मौ[६] बाहूरक्षके श्रितः—अवस्थितो वह्निर्यस्य सः।

---

१. हं० 'हरेः' नास्ति। २–२. हं० नास्ति पाठः। ३. हं० पुनः। ४. हं० 'तत्' नास्ति। ५. हं० 'स्ववशं नयन्' नास्ति। ६. हं० 'बाहूर्मौ' नास्ति।

अत्रेयं कथासूचा—अन्यदा बलिदैत्यसभायां शुक्रः[1] समाययौ। तत्र चान्योन्यं बलि-शुक्रयोः स्वस्वास्थ्यवार्तां प्रवर्तयतोः सतोरकाण्ड एव हरिर्वामनरूपेण समाययौ। तत्र च बलिहितैषिणा दैत्यगुरुणा ज्ञानेन समागतं हरिमवबुध्य तं बलिं हरिस्वरूपमवबोधयितुं अभाणि—रे बले! एष बाहुरक्षकाश्रिताऽग्निर्हरिर्वर्तते, इति प्रवदतः शुक्रस्य वाक्यं निराकृत्य यदा सामध्वनयो हरिणा समुद्गीर्णास्तदा तत्कथाव्याक्षेपोप्यभवदिति भावः ।।४।।

स्फूर्जद्व्योममधुव्रतीपरिवृढव्यालीढपादाम्बुजः,
क्रीडाक्रान्तनिरस्तसप्तपवनस्कन्धप्रबन्धो हरिः।
देवः पातु जगत्स वामनतनुर्येनेन्द्रविद्रावणो,
नीतः सोऽपि रसातलोदरकुटीकोणाधिवासं बलिः ।।५।।

(कीका०)—स्फूर्ज्जदिति। स वामनतनुर्देवो हरिर्जगद्—विश्वं पातु। किम्भूतः? स्फूर्जद्व्योममधुव्रतीपरिवृढव्यालीढपादाम्बुजः मधुः—मकरन्दं व्रतयति—भक्षयति इति मधुव्रती। अथ व्रतं व्रतयतीत्यादौ व्रतयतेर्भक्षार्थताप्रतीतेः। मधुव्रत्याः परिवृढः—प्रभुर्भ्रमरः 'प्रभौ परिवृढ' इति पाणिनिस्मरणात्। स्फूर्जन्तः—लोलतया भ्राजमाना व्योम्नि—वियति ये मधुव्रतीपरिवृढास्तैर्व्यालीढं—विशेषेणाऽऽस्वादितं[2] पादाम्बुजं यस्य स तथा। व्योमभ्रमराः सुरसिद्धमुनयोऽपि वक्तुं शक्यन्ते व्योमभ्रमणसाधर्म्यात् तैर्व्यालीढं—ध्यानेन हृद्यास्वादितं चरणकमलं यस्येति वा। अपरं क्रीडाक्रान्तनिरस्तसप्तपवनस्कन्धप्रबन्धः क्रीडया—लीलया आक्रान्ता अपरं निरस्ताः—दूरमधो निर्युक्ताः[3] सप्तापि पवनानां आवहविवहादिनामकानामेकोनपञ्चाशद्वायुभेदानां स्कन्धप्रबन्धाः—उत्तरोत्तरनिवासस्थानानि येन स तथा। स कः? येन भगवता इन्द्रविद्रावणः—शक्रपदापहर्ता स धार्मिकत्वेनाप्रसिद्धो[4] बलिरपि रसातलोदरकुटीकोणाधिवासं नीतः,रसातलस्य—पातालस्य उदरं—मध्यं तदेव कुटी—पर्णशाला तस्याः कोणः—एकदेशस्तत्राधिकृत्य वसनं—अवस्थानं अधिवासस्तं प्रापित इतीत्यर्थः[5] ।।५।।

स्वस्तीत्यादिना पद्यत्रयं[6] मूले अदृश्यमानमपि टीकाकारेण तं धृतमिति श्लोकप्रदर्शनपूर्वकं व्याख्यायते—

---

१. हं० शुक्राचार्यः। २. ब. आस्वादितं। ३. ब. निर्मुक्ताः। ४. ब. सधार्मिकत्वेन प्रसिद्धो। ५. ब. इत्यर्थः। ६. ब. स्वस्तीत्यादिपद्यत्रयं।

स्वस्तिः स्वागतमर्थ्यहं वद विभो ! किं दीयतां मेदिनी,
का मात्रा मम विक्रमत्रयपदं दत्तं गृहीतं मया।
मा देहीत्युशनाऽब्रवीदरिरयं पात्रं किमस्मात्परं,
यस्त्वेवं बलिनार्चितो मखमुखे पायात् स वो वामनः ॥६॥

(कीका०)—शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्। स वामनः—त्रिविक्रमावतारो भगवान् वः—युष्मान् पायात्—रक्षतु। स कः? यो वामनो मखमुखे—यज्ञप्रारम्भे एवममुना वक्ष्यमाणोक्तिप्रत्युक्तिरूपेण प्रकारेण बलिनाऽर्चितः—पूजितस्तमेव प्रकारं दर्शयति— स्वस्तीति, पूर्वं तत्रागतेन देवेन क्रियमाणं वेदाध्ययनं श्रुत्वा हृता[1]-हृतचित्ततया समागतस्य बलेः स्वस्तिः—अविनाशस्तेऽस्त्विति याचकोचितमाशीर्दानं कृतमिति भावः। ततो बलिराह—स्वागतमिति, सौष्ठवेन सुखेनागतं कुशलं वा, तवाऽविघ्निततपस्त्वलक्षणं। कश्च त्वं? इत्युक्ते भगवान् प्रत्याह— अर्थ्यहमिति, याचितुमागतोस्मीत्यर्थः। पुनर्बलिराह—वद, विभो! किं दीयतामिति। विभुता च अस्याऽतिथित्वेनामधुपर्कादियुजामनुलक्ष्य[2] प्राप्तवरदानपर्यन्तं राज्यादिस्वाम्यस्मरणात्, हे विभो! अभ्यागतत्वेन सप्ताङ्गराज्यस्वामिन्! वद—ब्रूहि किं मया दीयतामिति। तदनु लब्धावसरो भगवानाह—मेदिनीति, भूमिर्दीयतामित्यर्थः। ततो बलिना हर्षात् पृष्टम्—का मात्रेति, कियत्प्रमाणा सा भूमिरित्यर्थः। देवेनोक्तम्—मम विक्रमत्रयपदं विशिष्टा क्रमा विक्रमाः—पादप्रक्षेपास्तेषां त्रयं विक्रमत्रयं, विक्रमत्रयमेव पदं—स्थानं विक्रमत्रयपदं मदीयप्रमाणेन पादाक्रान्तित्रितयस्थलो ममाऽऽवासस्थानोचितमठादिनिर्माणार्थं दीयतामिति भावः। इह वाक्ये ममेति पदेन विशेषार्थवचनेनोपसर्गेण च बलिस्वाम्यं यावत् ततोप्यधिकप्रार्थना सूच्यते 'न हि देवा अनृतं वदन्ती'ति। तथा च श्रूयते—

'तद्देवा अप्येतर्हि नातिक्रामन्ति के हि स्युर्यदतिक्रामेयुरनृतम् हि वदेयुरेकं ह वै देवा व्रतं चरन्ति सत्यमेवेति।'

ततो बलिनोक्तं—दत्तमिति। एतावति दाने को वा विचार इति भावः। ततो[3] देवेनोक्तं—गृहीतं मयेति, त्वया चेद् दत्तं मयापि प्रतिगृहीतमित्यर्थः। अस्मिन्समये हरिरयं सर्वस्वापहर्ता सदा सर्वदेवहितैकप्रवणो दैत्यकुलोच्छेदकः श्रीविष्णुरियं छलयितुमागतस्ततो मा देहि मा प्रयच्छेति नीतिं श्रित उशना

---

१. ब. हृता नास्ति। २. ब. अतिथित्वेन मधुपर्कादि०। ३. ब. तदनु।

अब्रवीत्, शुक्रो निवारयामासेत्यर्थः । ततो बलिराह—पात्रं किमस्मात्परमिति, अस्माद्धरेः परमन्यत्पात्रं अतिथिरूपं किं—कीदृशम् ? यदुक्तम्—

न विद्यया केवलया तपसा वापि पात्रता ।
यत्र वृत्तमिमे चोभे तद्धि पात्रं प्रकीर्त्तितम् ॥

विद्यातपोवृतानां सम्पूर्णानां हरेरन्यत्रासद्भाव इत्यर्थः । ननु मास्तु सद्भावः का नो हानिरिति चेत् ? मैवं, मम धर्मवेतृत्वात् । तथा **याज्ञवल्क्यः** स्मरति—

देशे काल उपायेन द्रव्यं श्रद्धासमन्वितम् ।
पात्रे प्रदीयते यत्तत् सकलं धर्मलक्षणम् ॥

इति । यदैवं स्वागतभूमिदानाभ्यां बलिना परितोषितः, तदोत्तरकथानुसन्धानपरं अभियुक्तप्रणीतं श्लोकद्वयमुदाहरामः—

किं क्रमिष्यति किलैष वामनो, यावदित्थमहसन्न दानवाः ।
तावदस्य न ममौ नभस्तलो[1] लङ्घितार्कशशिमण्डलः क्रमः ॥१॥
अर्थिभूयमनुभूय वामनस्त्वं कृपालु कृतवान्न वामनः ।
त्वद् दृगन्तमपि येन याचतां वीयुरायुरयुतानि तानि नः ॥२॥

इति ॥६॥

अथोक्तिप्रत्युक्तिरूपेणैव पृथ्वीवृत्तेन हरेराशयं वर्णयन्नाह—

कुतस्त्वमणुकः स्वतः स्वमिह भो ! न किं याच्यते,
किमिच्छसि पदत्रयं तव भुवा किमित्यल्पया ।
द्विजस्य शमिनो मम त्रिभुवनं तदित्याशयो,
हरेर्जयति निह्नुतः प्रकटितश्च वक्रोक्तिभिः ॥७॥

(कीका०)—हरेः—श्रीवामनस्य इत्याशयः—ईदृशश्चित्ताभिप्रायो जयति—उत्कर्षेण वर्तते । कीदृशः ? बलिना इत्युक्ते सति वक्रोक्तिभिः—कुटिलवाग्विभवैः निह्नुतः—गोपितः प्रकटितः—आविष्कृतश्च । इति किम् ? हे ब्राह्मण ! त्वं कुतोऽणुकः—कस्मात्कारणात् ह्रस्वकायः ? 'अल्पे ह्रस्वः' इति कन् प्रत्ययः । अथ प्रत्याह—स्वतः इति, स्वयमेव स्वभावादेव ममाणुत्वं । तथा च श्रुतिः—

'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।

---

१. ब. नभस्तले ।

इति । स्मृतिरपि—

'कश्चित्स्वदेहे हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम् ।

इति । इदमपि प्रमाणं घटाकाशमठाकाशवत् उपाध्याश्रयात् काल्पनिकमेव, वस्तुतस्तु अतिमात्रस्य व्योमवत् सर्वगतस्य सर्वपरिमाणसंयोगाभावात्, 'अणोरणीयान् महतो महीयान् अस्थूलमनणु[1] तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके अणीयान्व्रीहेर्वा श्यामाकाद्वा दिवो ज्यायान् ज्यायानाकाशाद्' इत्यादिविरुद्धसमवायब्रुवश्रुतिभ्यश्च । पुनर्बलिराह—स्वमिहेति, स्वं–धनमुच्यते, निःस्व अन्तस्व इत्यादिप्रयोगात् । 'स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्' इति पाणिनिस्मरणाच्च । भो इति सम्बोधने, हे भगवन् ! इह मयि विषये स्वं–धनं बहुलसुवर्णादिद्रव्यं किं न याच्यते–कस्मान्न प्रार्थ्यते त्वयेति शेषः । पदत्रयं–विक्रमत्रितयमात्रं त्वं किमिच्छसि ? तव चाल्पया भुवा किम् ? इत्युक्ते पुनर्वामन आह—मम शमिनः—शान्तस्य द्विजस्य तत्पदत्रयं त्रिभुवनं त्रैलोक्यस्थाने पुनर्मनस्ययमाशयः, अनेन पदत्रयेण त्रिभुवनं गृहीतं, नातः परं किञ्चित्तवास्तीति वक्रोक्तिः ॥७॥

[पञ्चम-षष्ठ-सप्तमपद्यानां नोपलभ्यते गुणविनयटीका]

अथ चरणभक्ति उत्तमसाधनं सूचयन् तृतीयेन स्रग्धरावृत्तेन पूर्ववद्वामनावतारमुपसंहरन्नाह—

यस्मादाक्रामतो द्यां गरुडमणिशिलाकेतुदण्डायमाना-
दाद्योतन्ती[2] बभासे सुरसरिदमला वैजयन्तीव कान्ता ।
भूमिष्ठो यस्तथान्यो भुवनगृहमहास्तम्भशोभां दधानः,
पातामेतौ पयोजोदरललिततलौ पङ्कजाक्षस्य पादौ ॥८॥

(कीका०)—एतौ वृद्धिविख्यातौ पङ्कजाक्षस्य–कमलनयनस्य श्रीत्रिविक्रममूर्त्तेः पादौ–चरणौ पातां–रक्षतां युष्मानिति शेषः । एतौ कौ ? यस्मादेकस्माच्चरणात् द्यां–स्वर्गमाक्रामतः 'सतः क्रमः परस्मैपदेषु' इति दीर्घः, सुरसरित्–मन्दाकिनी आश्च्योतन्ती–सर्वतः क्षरन्ती सती कान्ता–मनोहरा अमला वैजयन्तीव–श्वेतपताकेव आबभासे–शुशुभे । कीदृशात् चरणात् ? गरुडमणिशिलाकेतुदण्डायमानात् इन्द्रनीलशिलाया यो ध्वजदण्डस्तद्वदाचरत इत्यर्थः, [3]कृत्वदीर्घत्वरोचिष्मत्वादिसाधर्म्यात् । तथा तेन प्रकारेण यो भूमिष्ठोऽपरश्चरणः स भुवनगृहमहास्तम्भशोभां दधानो वर्तते इति शेषः । भूमौ तिष्ठतीति

१. ब. अस्थूलमनुणु । २. कीकामते तु—०दाश्च्योतन्ती । ३. ब. कृष्णत्व० ।

भूमिष्ठः 'अम्बाम्बगो भूमि' इत्यादिना षत्वं, भुवनमेव गृहं भुवनगृहं तस्य महास्तम्भो धारणायोच्छ्रितो मध्यस्तम्भ इत्यर्थः । तस्य शोभा साम्यं धत्ते इति दधानः, दधातेः शानच् । कीदृशौ चरणौ ? पयोजोदरललिततलौ पयसो जातं पयोजं–कमलं तस्योदरं–गर्भस्तद्वल्ललिते–सुकुमारे तले ययोस्तौ तथा ।।८।।

इति वामनावतारः ।

(गुण०)—यस्मादाक्रामेति । पङ्कजाक्षस्य पङ्कजवत् अक्षिणी–नेत्रे यस्य स पङ्कजाक्षस्तस्य कमलनयनश्रीत्रिविक्रममूर्त्तेः पादौ–चरणौ वः–युष्मान् पातां–रक्षताम् । तत्र तयोर्मध्ये यस्मात्–एकस्माच्चरणात् द्यां–व्योम आक्रामतः सतः सुरसरित्–गङ्गा आद्योतन्ती–निर्गच्छन्ती वैजयन्तीव–पताकेव आबभासे–समन्तात् शुशुभे । अत्र 'द्युति द्योतने' इत्यस्य धातोरात्मनेपदित्वेन आद्योतमाना इत्येवं स्यात् परं 'अनित्यमात्मनेपदम्' इति वाक्यप्रामाण्यात् परस्मैपदं, ततः शतृप्रत्यये रूपं सिद्धयेत्, अर्थान्तरकरणाद्वा धात्वन्तरमित्युक्तेः समाधिर्ज्ञेय इति । किंविशिष्टाद् यस्मात् ? गरुडमणिशिलाकेतुदण्डायमानात् गरुडमणिशिलायाः–इन्द्रनीलमणिशिलायाः केतुदण्ड इव–ध्वजदण्ड इव आत्मानं आचरन् यः सः गरुडमणिशिलाकेतुदण्डायमानस्तस्मात् । किंविशिष्टा सुरसरित् ? कान्ता–मनोज्ञा तथा तयोर्मध्ये अन्यः–द्वितीयो यो भूमिष्ठश्चरणः स भुवनगृहमहास्तम्भ शोभां दधानो वर्तते भुवनं–जगत् तदेव गृहं तस्य धारणे महास्तम्भशोभां बिभ्रत्–अस्ति । किम्भूतौ पादौ ? पयोजोदरललिततलौ पयोजस्य–कमलस्य यदुदरं–गर्भस्तद्वल्ललिते–सुकुमारे तले–अधोभागौ ययोस्तौ । अत्र भूमिष्ठ इति 'अम्बांबगोभूमिसव्यापद्वित्रिकुशेकुशंक्वंगुमञ्जिपुञ्जिपरमेबर्हिदिव्यतिभ्यः स्थः एभ्यः परस्य स्थः, सस्य षः स्यादिति, [1]भूमिः परस्य स्थः सस्य षो जातः[1] ।।८।।

[2]इति श्रीगुणविनयविरचितायां खण्डप्रशस्तिवृत्तौ
वामनावतारहरिवर्णनव्याख्या समाप्ता[2] ।

। ५ ।

१–१. हं० पाठो नास्ति । २–२. हं० इति श्रीवामनवर्णनव्याख्या ।

६. अथ परशुरामावतारः

लीलोन्मूलितमौलिमस्तचरणं मूर्द्धस्वपि क्ष्माभृता-
मास्कन्दादपबाहुशाखमभितः कृत्वा सहस्रार्जुनम् ।
यश्चक्रे भुवने तमेव विजयस्तम्भं कुठारायुधो,
धत्तां वः शिवमाहवैकरसिको रामः स राजान्तकः ॥१॥

(कीका०)—अथ क्रमप्राप्तं परशुरामवर्णनमुपक्रमते—तत्रेदं शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् केचित् पठन्ति परं तु प्रक्षिप्तम् । तथाहि—

स रामो वः—युष्माकं शिवं—कल्याणं धत्तां—धारयतु पोषयतु । च दाशरथित्वव्यावृत्त्यर्थं विशिनष्टि—कुठारायुध इति । अपरं कीदृशः ? आहवैकरसिकः आहवे—संग्रामे एव एकः—मुख्यो रसोऽस्यास्तीति आहवैकरसिकः, मत्वर्थे ठन् प्रत्ययः 'अतः इनि ठनौ' इति स्मरणात् । दैत्यैकसूदनत्वव्यावृत्त्यर्थं पुनर्विशिनष्टि—राजान्तक इति, एकविंशतिकृत्वोदृप्तक्षत्रियान्तकर इति । स कः ? यो रामः सहस्रार्जुनं—हैहयं क्ष्माभृतां—पर्वतानां मूर्धसु—शिखरेषु आस्कन्दात्—आन्दोलनात् अभितः—सर्वतः अपबाहुशाखं कृत्वा तमेवार्जुनं भुवने—त्रैलोक्ये विजयस्तम्भं चक्रे—कृतवान् । विजयसूचकः स्तम्भो विजयस्तम्भः तं, अपगताः बाहव एव सहस्रसंख्यत्वात् शाखा यस्मात् स तं, [1]प्रलम्बबहुलत्वादिसाधर्म्यात् हस्तानां शाखात्वं । स्तम्भसाम्याय पुनर्विशिनष्टि—लीलोन्मूलितमौलिमिति, लीलयैव—क्रीडयैव उन्मूलितः—सकन्धरमुत्पाटितो मौलिः—मूर्द्धा यस्यार्जुनस्य स तम् । अपरं कीदृशम् ? अस्तचरणम्, अस्तौ—शरीराद् दूरे क्षिप्तौ चरणौ यस्य स तम् । पितृहरणमर्जुनं कबन्धाकारं कृत्वा जयस्तम्भरूपेण यः स्थापितवान् स शिवं धत्तामिति सम्बन्धः ॥१॥

[पद्यस्यास्य नोपलभ्यते गुणविनयटीका]

गोत्राचारविचारपारगतया वृद्धाभिरादिष्टया,
मात्रा वस्तुषु तेषु तेषु पुरतः प्रस्तारितेषु क्रमात् ।
अन्नप्राशनवासरे सरभसं वक्षोभरोत्सर्पिणा,
येनात्तं धनुरीक्षिताश्च सपदि क्षत्रावतंसा दिशः ॥२॥

---

१. ब. प्रलम्बत्व० ।

(कीका०)—गोत्राचारेत्यादीनि चत्वारि शार्दूलविक्रीडितानि। यत्तदो- र्नित्यसम्बन्धात् तच्छब्दान्वितवाक्यमिहाध्याहर्त्तव्यम्। स जामदग्न्यो वः— युष्मान् पायादिति। येन रामेणान्नप्राशनवासरे—षष्ठे मासेऽन्नप्राशनमित्याद्युक्ते काले मात्रा—रेणुकया तेषु तेषु सर्वेषु वस्तुषु सर्वान् रसान् सर्वमन्नमेकत उद्धृत्या- थैनं प्राशयेदिति **पारस्करगृह्यस्मरणात्**, क्रमात् प्रस्तारितेषु स्थापितेषु सत्सु सर- भसं—सवेगं यथा स्यात्तथा वक्षोभरोत्सर्पिणा—हृदयगबलोत्सेकोत्प्लविना सता सर्वरसपरित्यागेन अग्रतो गत्वा धनुः—चापमात्तं—आग्रहेण गृहीतम्। यथा[1] सपदि तत्कालमेव क्षत्रावतंसाः—क्षत्रियाभरणाः दृप्तराजपूर्णा दिशश्चेक्षिताः—अवलो- किताः संहर्तुमिति शेषः। वक्षोभरेण उत्सर्पितुं—उत्प्लुत्य गन्तुं शीलमस्यासौ तथा। किम्भूतया मात्रा ? गोत्राचारविचारपारगतया गोत्रस्य—कुलस्य आ चारः—शिष्ट- स्वीकृताचरणं तस्य विचारः—विवेकज्ञानं तस्य पारः—समापनं तद्गतया— प्राप्तया परम्परागतचरित्रचतुरयेत्यर्थः। पुनः किम्भूतया ? वृद्धाभिरादिष्टया— श्वश्रूप्रभृतिभिर्जरतस्त्रीभिः शिक्षितया च यत्स्मृतं तत्रैव ग्रामवचनं च कुर्युरिति। ग्रामशब्दो वृद्धस्त्रीसमूहवचनः, ता हि पूर्वैरनुष्ठितामाचारं स्मरन्तीति भावः ॥२॥

(गुण०)—अथ श्रीपरशुरामावतारहरिवर्णनव्याख्या क्रियते[2]—

गोत्राचारेति। येन—परशुरामेण अन्नप्राशनवासरे—अन्नग्रहणप्रथमदिने मात्रा—रेणुकया वृद्धाभिः—श्वश्रूप्रभृतिभिरादिष्टया, यथा च हे रेणुके ! सर्वाण्यपि क्रीडनकानि त्वं एतत्पुरः संरचय, किमवलोक्यायं हस्तमादातुं व्यापारयिष्यतीत्येवं वृद्धाभिः स्त्रीभिरुक्तया मात्रा तेषु तेषु अद्भुतेषु[3] वस्तुषु पुरतः[4] क्रमेण प्रस्तारितेषु—विस्तारितेषु सत्सु[5] सरभसं— सवेगं धनुरात्तं गृहीतं। [6]प्रथमं द्विजयोग्यानि, ततो क्षत्रिययोग्यानि, ततो वैश्ययोग्या- नीत्येवं क्रमः[6]। न त्वन्यद् वस्तु जगृहे। किंविशिष्टया मात्रा ? गोत्राचारविचारपारगतया गोत्रस्य—अन्वयस्य ये आचारविचारास्तत्तत् स्वक्रियाकलापविमर्शनानि तेषां पारगतया—परां कोटिं प्राप्तया। [7]अयमाशयः, जन्मतः षष्ठे मासि द्विजानामेतत्कर्मयजनन्यासे सर्वाणि वस्तूनि बालस्याग्रे मुच्यन्ते इति गोत्राचारः, तदा स वक्षसा गत्वा यत् गृह्णात्यवश्यं तत्कर्मकारी भवतीति।[7] किंविशिष्टेन येन ? वक्षोभरोत्सर्पिणा वक्षोभरेण—हृदयेन[8] उत्सर्पति—गच्छती[9]- त्येवंशीलो वक्षोभरोत्सर्पी तेन वक्षोभरोत्सर्पिणा, वक्षोभरेण गत्वा नीतमित्यर्थः[10]। च—पुनः सपदि—शीघ्रं क्षत्रावतंसाः दिशो निरीक्षिताः—अवलोकिताः, क्षत्राणि—क्षत्रियराजास्त एव अवतंसः—शेखरो यासु ताः। यतस्तेन सर्वत्रापि क्षत्रिया एवावलोकितास्ततस्तानवलोक्य रुषा तान् हन्तुं धनुरेवाऽऽत्तं इति भावः ॥२॥

---

१. ब. तथा। २. हं० पंक्तिरियं नास्ति। ३. हं० अद्भुतेषु कन्दुकादिषु। ४. हं० 'पुरतः' नास्ति। ५. हं० 'सत्सु' नास्ति। ६-६. हं० पंक्तिरियं नास्ति। ७-७. हं० पाठो नास्ति। ८. हं० 'हृदयेन' नास्ति। ९. हं० 'गच्छति' नास्ति। १०-१०. हं० वक्षोभरेण गत्वा नीतमित्यर्थः' नास्ति

देवे दिग्विजयोद्यते धृतधनुःप्रत्यर्थिसीमन्तिनी-
वैधव्यव्रतदायिनि प्रतिदिशं क्रुद्धे परिभ्राम्यति ।
आस्तामन्यनितम्बिनीरतिरपि प्रायो न पौष्पं करे,
भर्त्तुर्द्धर्तुमदान्मदान्धमधुपीनीलीनिचोलं धनुः ॥३॥

(कीका०)—देवे इति । दिग्विजयोद्यते क्रुद्धे देवे—परशुरामे प्रतिदिशं सर्वतः परिभ्राम्यति सति अन्यनितम्बिनी—क्षत्रियान्तरभार्या तावदास्तां-दूरे तिष्ठतु । प्रायो बाहुल्येन रतिः—कामभार्यापि भर्तुः—कामस्य करे पौष्पं—कुसुममयं धनुर्धर्तुं[1]—धारयितुं न अदात्—धानुष्कवधशंकया न दत्तवती । भयानकरसशृङ्गाररसयोः[2] सहजविरोधात्, तस्मिन्समये कस्यचित्कामलीलापि स्वैरं नाऽभूदिति भावः । कीदृशं पौष्पं धनुः ? मदान्धमधुपीनीलीनिचोलं मदान्धाः—मदोन्मत्ताः या मधुप्यः—भ्रमर्य्यस्ता एव नीलीनिचोलं—श्याममाच्छादनं यस्मिन् तत्तथा, अन्यदपि धनुः श्यामचर्मादिभस्त्राच्छादितं भवति । कीदृशे देवे ? धृतधनुःप्रत्यर्थिसीमन्तिनीवैधव्यव्रतदायिनी धृतानि धनूंषि यैः ते धृतधनुषः प्रतिकूलं योद्धुमर्थयन्ते इति प्रत्यर्थिनः—प्रतिसुभटाः, धनुषश्च ते प्रत्यर्थिनश्च धृतधनुःप्रत्यर्थिनः, सीमन्तः आसामस्तीति सीमन्तिन्यः, धृतधनुःप्रत्यर्थिनां सीमन्तिन्यो धृतधनुःप्रत्यर्थिसीमन्तिन्यः, विगतः-मृतो धवः-पतिर्यासां ता विधवास्तासां भावो वैधव्यं, वैधव्ये विहितं व्रतं वैधव्यव्रतं त्रिषवणब्रह्मचर्यादि धृतधनुःप्रत्यर्थिसीमन्तिनीनां वैधव्यव्रतं दातुं शीलमस्यासौ तथा तस्मिन् ॥३॥

(गुण०)—अथ धनुरादानकार्यं दर्शयति[3]—
देवे दिग्विजयोद्यतेति । देवे—रामे दिग्विजयोद्यते—दिग्विजयाय सज्जीभूते प्रतिदिशं क्रुद्धे—ईर्ष्यालौ परिभ्राम्यति इतस्ततः पर्यटनं कुर्वति सति अन्यनितम्बिनी—अन्येषां वैरिणां नितम्बिनी आस्तां—दूरे तिष्ठतु । या रतिरपि त्रासाद्—भयात् पौष्पं पुष्पाणामिदं पौष्पं पुष्पविरचितं—[4]पुष्पविकारमित्यर्थः, धनुः—कार्मुकं भर्त्तुः—कामस्य धर्त्तुं नाऽदात्—न ददौ । कथं तया इति तर्कितं चेन्मम भर्ता—कामो धनुर्ग्रहीष्यति तदाऽयं राम एनं मद्भर्त्तारं कामं धनुर्द्धरत्वाद् हनिष्यतीति तद्भयात् स्वभर्त्तुः [5]धनुर्नाऽग्राहयत् । किंविशिष्टे रामे ? धृतधनुःप्रत्यर्थिसीमन्तिनीवैधव्यव्रतदायिनि धृतं धनुः—चापो यैस्तै धृतधनुषो ये प्रत्यर्थिनः तेषां या सीमन्तिन्यस्तासां वैधव्यव्रतं—विधवान्वव्रतं[6] शिरोमुण्डनादि[7] ददातीति धृतधनुःप्रत्यर्थि-

---

१. ब. भर्तु । २. ब. भयानकश्रृङ्गाररसयोः । ३. हं० पंक्तिरियं नास्ति । ४. 'पुष्पविकारं' नास्ति । ५. हं० 'धनुः' नास्ति । ६. हं० विधवायाः व्रतं । ७ हं० 'शिरोमुण्डनादि' नास्ति ।

सीमन्तिनीवैधव्यव्रतदायी तस्मिन् । यतो धृतचापास्तद्भर्त्तारः सर्वेऽपि रामेण हता अतस्ता वैधव्यभाजो[१] जाता इति भावः । किंविशिष्टं धनुः ? मदान्धमधुपीनीलीनिचोलं मदान्धा या मधुप्यस्ता एव नीलीनिचोलः—नील्या रक्तो[२] निचोलः नीलीनिचोलः, नीलप्रच्छदपट इत्यर्थः,[३] स विद्यते यस्मिन् तत् । [४]कुसुमे भवन्त्येव भ्रमर्य इति ता एव नीलीनिचोल इति[४] । वैधव्यव्रतदायिनीति 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' नन्द्यादेर्ल्युर्ग्रहादेर्णिनिः 'पचादेरच्' स्यात् इति ग्रहादेर्णिनिरत्र स्यात् ॥३॥

किं दोर्भ्यां किमु कार्मुकोपनिषदा भर्गप्रसादेन किं,
किं वेदाधिगमेन भास्वति भृगोर्वंशे च किं जन्मना ।
किं वाऽनेन ममाद्भुतेन तपसा पीडां कृतान्तोऽपि चेद्-
विप्राणां कुरुते किमप्यनुशयो रामस्य पुष्णातु वः ॥४॥

(कीका०)—किं दोर्भ्यामिति । रामस्य—जामदग्नस्य इति वक्ष्यमाणोऽनुशयः-अन्तस्तापो वः—युष्मान् पुष्णातु—पुत्रपशुधनादिसर्वसमृद्धया पुष्टान् करोतु । इति किम् ? चेत् यदि कृतान्तः—यमोऽपि विप्राणां पीडां कुरुते तर्हि मम दोर्भ्यां किम्—बाहुबलेन किं साध्यम् ? तथा कार्मुकोपनिषदा—धनुर्वेदाभ्यासेनापि किं प्रयोजनम् ? अपरं भर्गप्रसादेन किं—रुद्रानुग्रहेणापि किं साधितम् ? तथा वेदाधिगमेन—चतुर्दशविद्याध्यनेन किं निष्पन्नम् ? तथा नु इति वितर्के, भास्वति—सर्वोज्ज्वले भृगोर्मुनेर्वंशे—कुले जन्मनाऽपि किं सिद्धम् ? अपरं दानेन जात्यपेक्षयैकवचनं, भूम्यादिमहादानैरपि किं फलम् ? तथा अद्भुतेन—अभूतपूर्वेण मम तपसा शोषणादिनाऽपि[५] किं साध्यते ? विप्रवंशोद्भवे मयि विद्यमाने विप्राणामेव कृतान्तकृता मरणादिपीडास्ति, सा च मया नापहृता, तावता पूर्वोक्तैर्मम दोर्बलादिभिः किं फलितमित्यन्तर्मनस्तापवान् जामदग्न्यो वः पुष्णात्विति सम्बन्धः ॥४॥

(गुण०)—किं दोर्भ्यामिति । रामस्य किमपि अनिर्वाच्यः अनुशयः—पश्चात्तापो वः—युष्मान् पुष्णातु—पुष्टिं विधत्ताम् । अथ तदेव पश्चात्तापकारणमाविर्भावयन्नाह—चेत्—यदि मयि विद्यमानेऽपीति योज्यं, कृतान्तोऽपि विप्राणां पीडां—व्यथां कुरुते तदा दोर्भ्यां—बाहुभ्यां किम्—न किञ्चिदित्यर्थः, तत्पीडाया अनिवर्त्तितत्वात् । तथा कार्मुकोपनिषदा—धनुर्वेदविद्याज्ञानरहस्येन किमु ? तथा भर्गप्रसादेन—ईश्वरप्रसत्त्या किम् ? यतो महतामनुग्रहस्तदा सफलः स्यात् यद्युपकारः कस्यचित् कर्त्तुं शक्येत । परं मया तत्पीडाऽपि न निवारिता अतः शम्भु-

---

१. ब. शरीरशोषणादिना । १. हं० वैधव्यव्रतभाजो । २. हं० 'रक्तो' नास्ति । ३. हं. 'नीलप्रच्छदपट इत्यर्थः' नास्ति । ४-४. हं. पंक्तिरियं नास्ति । ५. ब. शोषणादिनापि ।

प्रसादेन किम्? तथा वेदाधिगमेन–चतुर्णामपि वेदानां ज्ञानेन किम्? तथा भास्वति–भास्वरे भृगोर्वंशे च पुनः जन्मना किम्? तथा वा–अथवा अनेन ममाद्भुतेन आश्चर्यकारिणा तपसा चन्द्रायणादिना किम्? यतस्तपसा असाध्यमपि साध्यते, परं यदि तत्कृत्यं नासाधि मया तदा अनेन तपसा किमिति ॥४॥

नाशिष्यः किमभूद् भवः किमभवन्नापुत्रिणी रेणुका,
नाभूद् विश्वमकार्मुकं किमिति वः प्रीणातु रामत्रपा।
विप्राणां प्रतिमन्दिरं मणिगणोन्मिश्राणि दण्डाहते,
नाब्धीनां स मया यमोऽपि महिषेणाम्भांसि नोद्वाहितः ॥५॥

(कीका०)—नाशिष्य इति। इति वक्ष्यमाणा रामत्रपा–जामदग्न्यलज्जा वः–युष्माकं शं–सुखं पुष्णातु–वर्द्धयतु। इति किम्? भवः–महेश्वरः अशिष्यः किं नाऽभूत्? मादृशशिष्याय सदसद्भावात् वरं तस्य शिष्यरहितत्वमिति भावः। तथा रेणुका–मे माता अपुत्रिणी किं नाऽभवत्? मादृशपुत्राय[1] सदसद्भावात् वरं तस्या अपुत्रत्वमित्यर्थः। रेणुकापदेन क्षत्रियमातामहप्रकृतितात्मनः सूच्यते। प्रायेण पुरुषाः पार्थक्यं यान्ति। मातामही तनुमिति तत्सादृश्यस्मरणात्। अथ च विश्वं जगत् अकार्मुकं किं नाऽभूत्? मदीयचापसद्भावापेक्षया वरं विश्वस्याऽकार्मुकत्वमपीति भावः। कथमिदं सम्भाव्यत इत्याकांक्षायां लज्जायाः कारणमाह—विप्राणां प्रतिमन्दिरं–गृहे गृहे मया सोऽल्पकदिगीशतया प्रसिद्धो यमोऽपि दण्डाहतेन महिषेण अब्धीनां–समुद्राणां मणिगणोन्मिश्राणि सामुद्रिकमुक्ताफलादिसर्वरत्नसहितानि अम्भांसि नोद्वाहितः। महिषेण हि जलमानाय्यते, तर्हि यमस्य महिषदण्डादिजलानयनसामग्रीसद्भावे सत्यपि तदकारयता मया शिवशिष्यता क्षत्रमातात्मतया स्वयं धानुष्कतया च प्रथितेन किं कृतमिति त्रपासद्भावः ॥५॥

(गुण०)—नाशिष्यः किमिति। इति–एवंरूपा रामत्रपा–परशुरामलज्जा वः–युष्मान् प्रीणातु। 'प्रीञ् कान्तौ तुष्टौ च[2]'। इतीति किम्? भवः–ईश्वरः अशिष्यः–शिष्यविरहितः किं नाऽभूत् यस्य शिष्यत्वेपि परकृत्यकरणाऽसमर्थोऽहं जातः, स चेदशिष्योऽभविष्यत्तदा चारु जातं अभविष्यत्[3] यतो 'वरं न शिष्यो न कुशिष्यशिष्यः' इति चाणक्यवचनात्। [4]अयं भावः, मया यथैव अखिलाभूर्दत्ता द्विजेभ्यः एवं यमोऽपि चेदेवं न कार्यते तदा शिवान्तेवासित्वेन किम्[4]? तथा रेणुका–माता[5] अपुत्रिणी–पुत्ररहिता किं नाऽभूत्। अथ प्राक् सा गर्भ एव किं मामधत्त, चेद् धृतस्तदा किं न गर्भस्रावणेनैव गलितः, यतस्तस्यां समुत्पन्नोप्यहं न काञ्चित्

---

१. ब. मादृशे पुत्राय। २. हं० प्रीञ् कान्तौ। ३. हं० अभिविवक्ष्यात्। ४–४. हं० नास्ति पाठः। ५. हं० 'माता' नास्ति।

परोपकृतिमकार्षमिति । तदा विश्वं अकार्मुकं–धनुर्विरहितं किं नाऽभूत्, चेद् विश्वे कार्मुकं नाऽभविष्यत्तदाऽहं धनुः कथं अधास्यं तथा त्वेतत्कथं सम्भाव्यते । अथ लज्जायाः कारणमाह— मया विप्राणां प्रतिमन्दिरं–प्रतिगृहं अब्धीनां चतुर्णामपि समुद्राणामम्भांसि मणिगणोन्मिश्राणि मणिगणैरुन्मिश्राणि संसृष्टानि[1]–व्याप्तानि दण्डाहृतेन महिषेण कृत्वा यमोऽपि नोद्वाहितः[2], इति रामत्रपा वः प्रीणातु इति भावः ।।५।।

कुलाचला यस्य महीं द्विजेभ्यः,
प्रयच्छतः सीमदृषत्वमापुः ।
बभूवुरुत्सर्गजलं समुद्राः,
स रैणुकेयः श्रियमातनोतु ।।६।।

(कीका०)—कुलाचला इति । उपेन्द्रवज्रावृत्तम् । स रेणुकापुत्रो रामो वः–युष्माकं श्रियं–लक्ष्मीमातनोतु–विस्तारयतु । रेणुकाया अपत्यं रैणुकेयः, स्त्रीभ्यो ढक् तस्य एयादेशः । स कः ? यस्य रामस्य द्विजेभ्यो महीं–पृथ्वीं प्रयच्छतः–ददतः सतः कुलाचलाः–सर्वे मुख्यपर्वताः सीमदृषत्वं आपुः–आघाट-पाषाणत्वं प्राप्तवन्तः । अपरं सप्तापि समुद्राश्च उत्सर्गजलं–त्यागोदकं बभूवुः दानं किल जलपूर्वं दीयते ।।६।।

(गुण०)—कुलाचलेति । स रैणुकेयः–रेणुकाया अपत्यं रैणुकेयः 'स्त्रीभ्यो ढक्'[3] श्रियमातनोतु । स इति कः ? यस्य–रामस्य द्विजेभ्यो महीं प्रयच्छतः–ददतः कुलाचलाः-कुलगिरयः

'महेन्द्रो मलयः सह्य ऋक्षवान् विन्ध्यपर्वतः ।
निषधः पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः ।'

इत्येवं रूपाः[4] सीमदृषत्त्वं सीम्नः–मर्यादाया दृषत् सीमदृषत् तद्भावः सीमदृषत्त्वं–मर्यादापाषाणत्वं[5] आपुः–प्राप्ताः । यतोऽनेन यदा ब्राह्मणेभ्यो भूर्दत्ता तदा तेषां स्वस्वभूमिसीमार्थं कुलाचला एव[6] आसन्, तथा समुद्रा उत्सर्गजलं[7] बभूवुः । यदा याचकेभ्यो दानं दीयते तदा दानात् प्राक् दातृभिरुत्सर्गजलं दीयते अतस्तेन एतावद्दानं दत्तं तेन समुद्रा उत्सर्गजलतयाऽभूवन्निति भावः ।।६।।

---

१. हं० 'संसृष्टानि' नास्ति । २. हं० उद्वारहितः । ३. हं० 'स्त्रीभ्यो ढक्' नास्ति । ४. हं० 'इत्येवंरूपाः' नास्ति । ५. हं० 'मर्यादापाषाणत्वं' नास्ति । ६. हं० 'एव' नास्ति । ७. हं० उन्मार्गजलं ।

पायाद्वो जमदग्निवंशतिलको वीरव्रतालङ्कृतो,

रामो नाम मुनीश्वरो नृपवधे[1] भास्वत्कुठारायुधः।

येनाऽशेषहताहिताङ्गरुधिरैः सन्तर्पिताः पूर्वजाः,

भक्त्या चाश्वमखे समुद्रवसना भूर्हन्तकारीकृता ॥७॥

(कीका०)—पायाद्व इति। शार्दूलविक्रीडितेन पूर्ववत् परशुरामावतारं उपसंहरन्नाह—

स रामो नाम मुनीश्वरो वः—युष्मान् पायात्—रक्षतु। किम्भूतः ? जमदग्निवंशतिलकः, तिलक इव तिलकः जमदग्नेर्मुनिविशेषस्य यो वंशः—कुलं तत्रालङ्कारभूत इत्यर्थः। अपरं किम्भूतः ? वीरव्रतालङ्कृतः वीरव्रतं—क्षात्रधर्मस्तेनालंकृतः—विभूषितः। अपरं कीदृशः ? नृपमहोभास्वतत्कुठारायुधः नृपाणां—क्षत्रियाणां महांसि—प्रतापाः तत्र भास्वान्—देदीप्यमानः कुठारः—परशुरायुधं यस्य स तथा। यथा[2] नृपमहः—क्षत्रतेजोऽग्निः तत्र भास्वान्—सूर्यरूपः कुठारः—आयुधं यस्येति तथा उभयथापि क्षत्रियशामक इत्यर्थः। स कः ? येन भगवता अशेषहताहिताङ्गरुधिरैः कृत्वा पूर्वजाः—पितृपितामहोदयो भक्त्या—भजनेन हेतुना सन्तर्पिताः—कृतनिवापाः सम्पादिताः। न हिता अहिताः, हताश्च ते अहिताश्च हताहिताः, अशेषाः—सर्वे च ते हताहिताश्च अशेषहताहिताः तेषामङ्गरुधिराणि—शिरःपादादिरक्तानि तैः, परशुरामो हि पितृहणः सर्वक्षत्रिया[न् हत्वा तद्रुधिरैः पञ्चरामह्रदाख्यान् तीर्थविशेषान् कृत्वा पितृभक्तिप्रवणः सन् तेषु निवापाञ्जलीन् पितृभ्यो दत्तवानिति पौराणिकी कथाऽत्रानुसन्धेया][3] च अपरं येन रामेण अश्वमखे—हयसाधनके यज्ञे अश्वमेधे इत्यर्थः, समुद्रवसना—समुद्रावधिर्भूः—पृथ्वी हन्तकारीकृता हन्तकरणं हन्तकारः मनुष्यदाने वषट्कारप्रतिरूपकः 'हन्तकारं मनुष्या' इति श्रुतेः। अहन्तकारो हन्तकारः कृतेति हन्तकारीकृता। यथा प्रत्यहं महायज्ञशेषे स्वल्पबलिदानादि हन्तेति त्यज्यते तद्वत् लाघवेन सकला भूमिर्दत्तेति भावः ॥७॥

इति परशुरामावतारः।

---

१. कीकामते तु—नृपमहो०। २. ब. यद्वा। ३. [ ] चिन्हान्तर्गतपाठो अ. प्रतौ नोपलभ्यते।

(गुण०)—पायाद्वेति । नामेति कोमलामन्त्रणे, रामो मुनीश्वरः [1]मुनीनां ध्यानिनां स्वामी–सर्वाधिक इत्यर्थः, वः–युष्मान् पायात्–रक्षतु । किंविशिष्टः ? जमदग्निवंशतिलकः–जमदग्निवंशे तिलकमिव यः सः जमदग्निवंशतिलकः, [2]यथा विशेषकेण सर्वो भाति तथाऽयं वंशोऽनेनेति[2] । पुनः किम्भूतः ? वीरव्रतालंकृतः वीरव्रतेन–क्षत्रियधर्मेण अलंकृतः–विभूषितो यः सः वीरव्रतालङ्कृतः । पुनः किंविशिष्टः ? नृपवधे–क्षत्रियराजविनाशे भास्वत्कुठारायुधः भास्वत्–देदीप्यमानं कुठारायुधं–पर्शुरूपं शस्त्रं यस्य सः । तथा येन भगवता अशेषहताहिताङ्गरुधिरैः अशेषाः–समस्ताः हताः–मारिता ये अहिताः–शत्रवस्तेषां यान्यङ्गरुधिराणि तैः कृत्वा पूर्वजाः–पूर्ववंशीयाः सन्तर्पिताः–प्रीणिताः । इत्यनेन अस्य रणे शूरत्वमाविःकृतम् । अथ स्वधर्मपालनपुरस्सरं दानशौण्डीरत्वं अस्य प्रकटयन्नाह—येन रामेण भक्त्या अश्वमखे अश्वमेधयागे–समुद्रवसना समुद्रा एव वसनं–वस्त्रं–यस्याः सा समुद्रवसना भूः–पृथ्वी हन्तकारीकृता–ब्राह्मणेभ्यो देयतया विहितेत्यर्थः । [3]अयमाशयः, पुरा सहस्रार्जुनेन जमदग्नेर्धेनुबलात् हृता तदा जमदग्निर्मारितो रामेण ततः प्रतिज्ञातं यद्यनेन मत्पिता मारितस्तर्हि एतदीयैः रुधिरैरहं जनकस्य तृप्तिमुत्पादयिष्यामीति । ततो निखिलक्ष्मापालान् हत्वा पूर्वजास्तर्पिताः, तथा जिता भूर्द्विजेभ्यो दत्तेति । येनेदृशं पैतृकं वैरं निरूढं ततोऽन्यः कस्तिलक इति । 'ग्रासप्रमाणं भिक्षा स्यादग्रं ग्रासश्चतुष्टयम् । अग्रं चतुर्गुणं प्राहुर्हन्तकारं द्विजोत्तमाः ।' इति लिङ्गानुशासनवृत्तौ । 'षोडशग्रासा हन्तकारः' इति मार्कण्डेयपुराणे[3] ।।७।।

[4]इति श्रीगुणविनयविरचितायां खण्डप्रशस्तिवृत्तौ
परशुरामावतारहरिवर्णनव्याख्या[4] ।

। ६ ।

द्वारे कल्पतरून् गृहेषु सुरभीश्चिन्तामणीनङ्गणे,
पीयूषं सरसीषु वक्त्रकमले विद्याश्चतस्रो दिशः ।
इत्थं कर्त्तुमयं तपस्यति भृगोर्वंशावतंसो मुनिः,
पायाद्वोऽखिलराजकक्षयकरो भूदेवभूषामणिः ।।८।।[5]

इति श्रीपरशुरामावतारः ।

१–१. हं० मुनीनां ध्यानिनां स्वामी सर्वाधिक इत्यर्थः' पाठस्य स्थाने तापसव्रतधारित्वात् इति पाठः । २–२. हं० नास्ति पाठः । ३-३. हं० नास्ति पाठः । ४-४. हं० इति श्रीपरशुरामावतारहरिवर्णनव्याख्या । ५, श्लोकोऽयं ५९९८ क्रमाङ्कितहस्तलिखितपुस्तक एवास्ति ।

७. अथ रामावतारः

कल्याणानां निधानं कलिमलमथनं पावनं पावनानां,
पाथेयं यन्मुमुक्षोः सपदि परपदप्राप्तये प्रस्थितस्य[1]।
विश्रामस्थानमेकं कविवरवचसां जीवनं सज्जनानां,
बीजं धर्मद्रुमस्य प्रभवतु भवतां भूतये रामनाम ॥१॥

(कीका०)—अथ क्रमप्राप्तं दाशरथिरामवर्णनं सविस्तरमुपक्रमते, ग्रन्थकर्तुर्हनुमतः श्रीरामभक्तत्वेन तत्रैवाऽऽदरभरात्।

ननु 'एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' इति तर्कानुगृहीतस्मृतेः पूर्णानन्दे कृष्णे भगवति भजनपरिहारेण तादृशविवेकिनो हनुमतः कथं सर्वात्मना रामभजनमिति चेत्? सत्यम् शृणु, परतत्त्वविवेकप्रक्रियां परमेश्वरो निराकारः साकारश्चेति द्वैविध्यमुपक्रमेऽपि वयमवादिष्म 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' इति विभागश्रुतेः, विकारावर्त्ति च तथा हि स्थितिमाहेति न्यायाच्च, न्यायसूत्रस्यायमर्थः। विकारावर्त्यपि च नित्यमुक्तं परमेश्वरं रूपं केवलं विकारमात्रगोचरं सवितृमण्डलाद्यधिष्ठानं तथा ह्यस्य 'द्विरूपांस्थिमाहाम्नायस्तावानस्य महिमा, ततो ज्यायांश्च पूरुषः पादोऽस्य सर्वाभूतानी' त्यादिः। 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्। नेमा विद्युतो भान्तिकुतोयमग्निरि'ति च।' स्मृतिश्च—'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः' इति। तत्रास्पृष्टमायेऽनवच्छिन्नचैतन्ये निराकारे सर्ववादिनामविसंवादः, यस्तु सत्वावच्छिन्नः साकारः स चतुर्धा, रजस्तमोभ्यां युक्ते सत्त्वे वैराजः पुरुषः आदिनारायणाभिधः 'पुरुषो ह नारायणोऽकामयते' त्यादौ पुरुषनारायणयोरनर्थान्तरताप्रतीतेः। रजसा ब्रह्मा, तमसा रुद्रः, शुद्धे सत्त्वे विष्णुरेव, स च उपास्यतमः श्रेयांसि। तत्र खलु सत्वतनोर्नृणां स्युरिति स्मरणात्। अगोचरस्य गोचरत्वे हेतुः, प्रकृतिगुणः सत्वं, गोचरस्य बहुरूपत्वे रजः, बहुरूपस्य तिरोहितत्वे तमः, तथा परस्परमुदासीनत्वे सत्वं, उपकारित्वे रजः, अपकारित्वे तमः, गोचरत्वादीनि सृष्टिस्थितिसंहाराः उदासीनत्वादीनि च, तेषु ब्रह्मविष्णुरुद्रा निमित्तं पुरुष उपादानं, गोचरत्वे तु चैतन्यं।

---

१. कीकामते तु–प्रोच्चमानम्।

एवं पञ्चभेदाः। तत्राऽऽकाशवत्सर्वगतस्य परमेश्वरस्य विभागासम्भवाद् वस्तुनोंऽशकलात्वादि न संगच्छते, गुणाश्रयं हि तदिति। तस्मात् कृष्णावतार उपकारित्वापकारित्वयोः पाण्डवादिषु जरासंधादिषु च बाहुल्येनाविष्करणात् अनेककार्यप्रधानत्वेन सर्वयादवकुलोपसंहारादौ उदासीनत्वेन गुणत्रयाविष्कृतेः, पुरुषरूपतया स्वयं भगवान् इत्युच्यते, तेन भवतु तस्य सर्वोपास्यत्वं, 'अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः। तीव्रेण भक्तियागेन यजेत पुरुषं परम्।' इति स्मरणात् परं पुरुषं नारायणमित्यर्थः। उपास्यतमत्वं तु शुद्धसत्वे एव स्थापितं, तच्च—'एककार्यप्रधानत्वात् श्रीमद्दाशरथौ किल। उदासीनत्वतोऽन्यत्र शुद्धसत्वात्मके स्थितम्।' अन्यत्र मातृपितृराज्यादौ इहैतद्विचारप्रयोजनं तु मुमुक्षोः केवलसत्वाश्रयरामभजनं पुरुषार्थचतुष्टयकामस्य तु त्रिगुणत्वाच्छ्रीमत्कृष्णभजनमिति। भजनफलत्वेन या मुक्तिरुच्यते साऽपि क्रममुक्तिरेव न तु सद्योमुक्तिः। तथा च **शारीरिकमीमांसायां** मीमांसितम्—'न च तन्निर्विकाररूपमितरालम्बनाः प्राप्नुवन्तीति शक्यं वक्तुमतत्क्रतुत्वात्तेषां, अतश्च द्विरूपे परमेश्वरे निर्गुणं रूपमनवाप्य सगुण एवावतिष्ठन्ते। एवं सगुणेऽपि निरवग्रहं जगदैश्वर्यमनवाप्य सावग्रहे एव च तिष्ठन्त इति द्रष्टव्यम्। ततो नियम्यनियामकसद्भावादेव सर्वात्मत्वं, सर्वशक्तिमत्वं, फलदातृत्वं चात्मनोऽनुसन्धायते, नैव भगवता स्मर्यते—

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय! त्यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥

अहं च[1] सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥

इति। एतदपि व्यावहारिकं भेदमाश्रित्य विचारितं, परमार्थतस्तु—

सृष्टिस्थित्यन्तकरणात् ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम्।
स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः॥

तस्मान्न विज्ञानमृतेऽस्ति किञ्चित् क्वचित् कदाचित् द्विजवस्तुजातम्।
ज्ञानं विशुद्धं विमलं विशोक-मशेषशोकादिनिरस्तसंगम्॥
एकं सदेकः परमः परेशः, स वासुदेवो न यतोऽन्यदस्ति।

यदा समस्तदेहेषु पुमानेको व्यवस्थितः।
तदा हि को भगवान्कोऽहमित्येतद् विफलं वचः॥

---

१. ब. हि।

सितनीलादिभेदेन यथैकं दृश्यते नभः ।
भ्रान्तदृष्टिभिरात्मापि तथैकः सन्पृथक् पृथक् ॥

एकं समस्तं यदिहास्ति किञ्चिन्न तत्परो नास्ति परं ततोन्यत् ।
सोऽहं स च त्व स च सर्वमेतदात्मस्वरूपं त्यज भेदमोहम् ॥

इतोरितस्तेन स राजवर्यस्तत्याज भेदं परमार्थदृष्टिः ।
सकलमिदमहं च वासुदेवः, परमपुमान्परमेश्वरः स एकः ।

इति मतिरमला भवत्यनन्ते, हृदयगते व्रज तान् विहाय दूरान् ।

यथा हि वसुधा सर्वं सत्यमेतद् दिवौकसः ।
अहं भवो भवन्तश्च सर्वं नारायणात्मकम् ॥

विभूतयस्तु यास्तस्य तासामेव परस्परम् ।
आधिक्यन्यूनताबाध्यबाधकत्वेन वर्तते ॥

भवानहं च विश्वात्मन्नेकमेव हि कारणम् ।
जगतोऽस्य जगत्यर्थे भेदेनावां व्यवस्थितौ ॥

त्वया यदभयं दत्तं तद्दत्तमखिलं मया ।
मत्तो विभिन्नमात्मानं द्रष्टुं नार्हसि शङ्कर ॥

सोऽहं स त्वं जगच्चेदं स देवासुरमानुषम् ।
अविद्यमोहितात्मानः पुरुषाभिन्नदर्शिनः ॥

इति विष्णुपुराणे ।

विष्णोरन्यं तु पश्यन्ति ये मां ब्रह्माणमेव च ।
कुतर्कमतयो मूढाः पच्यन्ते नरकेष्वधः ॥
ये च मूढा दुरात्मानो भिन्नं पश्यन्ति मां हरेः ।
ब्रह्माणं च तथा तेषां ब्रह्महत्यासमं त्वघम् ॥

इति भविष्यत्पुराणे महेश्वरवचनम् ।

अतएव गीतासु स्वयं भगवानपि चतुर्विधभक्तेष्वैकात्म्यदर्शिनं ज्ञानिनं भक्तं स्तौति ।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ! ।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ! ॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थ-महं च स मम प्रियः ॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥

इति । अथ प्रकृतं ब्रूमः ।

कल्याणानामिति । स्रग्धरावृत्तेन स्वरूपाज्ञानात् रामनाममाहात्म्यमेवाह—

नाम्नोऽस्ति यावती शक्तिः पापनिर्दहने हरेः ।
तावत्कर्तुं न शक्नोति पातकं पातकी जनः ॥

अपि च—

अवशेनाऽपि यन्नाम्नि कीर्तिते सर्वपातकैः ।
पुमान् विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्मृगैरिव ॥

इति स्मृतेः । रामनाम भवतां भूतये प्रभवतु–विभूतिसम्पत्त्यै समर्थमस्तु । कीदृशं रामनाम ? कल्याणानां–सर्वश्रेयसां निधानं–स्थानम् । अपरं कलिमलमथनं कलिकृतं मलं–हृदयमालिन्यं मथ्नाति–नाशयतीति तथा ।

रामेति वर्णद्वयमादरेण सदा स्मरन्मुक्तिमुपैति जन्तुः ।
कलौ युगे कल्मषमानुषाणामन्यत्र धर्मे खलु नाधिकारः ॥

इति स्मरणात् । अपरं कीदृशम् ! पावनानां–पावित्र्यहेतुभूतानां गङ्गादितीर्थानां नारदशुकसनकादीनां च पावनं–पवित्रीकरणं । रामनामपवित्रितास्ते हि स्नानस्पर्शनदर्शनादिना जगत्पावयन्ति, तथा मुमुक्षोः–मोक्षमिच्छतः पाथेयं–पथ्यदनं शम्बलमित्यर्थः । 'पथ्यतिथि' इत्यादिना ढञ्, ढस्य एयादेशः । गृहीतेन हि रामनाम्ना सुखं मोक्षः प्राप्यत इति भावः । अपरं यन्नाम प्रोच्यमानं–आवर्त्यमानं सत्परपदप्राप्तये–मोक्षाय भवति । पद्यते ज्ञायते आत्मत्वेन विद्यमानमेव यत्तत्पदं स्वरूपं तदेतत्पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्मे' ति श्रुतेः । 'ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्तन्ते[1] भूयः' इति स्मृतेश्च । आवृत्तिर्हि सत्त्वशुद्धये पूर्वैरङ्गीकृता सूत्रितं च व्यासवर्यैः—'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' इति । एतेन प्रस्थितस्येति पाठोऽप्यपास्तः । कीदृशं रामनाम ? कविवरवचसां एकं विश्रामस्थानं कविषु वराः कविवराः–वाल्मिक्यादयः तेषां वचांसि–रामायणादिवाक्यानि तेषां एकं–मुख्यं विश्रामस्थानभूमिः[2] । कवयो हि रामचरित्रे कीर्तयितुमारब्धे तत्रैव तिष्ठन्तीति भावः । यदुक्तम्—

---

१. ब. निवर्तन्ति । २. ब. विश्रामस्थानं-अवस्थानभूमिः ।

'न हि क्षुण्णं पूर्वैरिति जहति रामस्य चरितं,
गुणैरेतावद्भिर्जगति पुनरन्यो जयति कः ।'

इति । अपरं कीदृशम् ? सज्जनानां जीवनं शान्तिचित्ततया ये सज्जनाः—साधवो जडभरतादयस्तेषां जीवनं—प्राणप्रियं, अत एव भरतमधिकृत्य स्मर्यते—

'नान्यज्जगाद मैत्रेय किञ्चित्स्वप्नान्तरेष्वपि ।

इति । तथा धर्मद्रुमस्य बीजं यदा रामनाम गृहीतं तदा धर्म्मवृक्षो रोपित इत्यर्थः ॥१॥

(गुण०)—अथ श्रीरामस्तुतिव्याख्या विधीयते—

कल्याणानामिति । रामनाम भवतां भूतये—लक्ष्म्यै प्रभवतु—समर्थीभवतु । किंविशिष्टं रामनाम ? कल्याणानां निधानं—शुभानां निधिः । किंविशिष्टम् ? कलिमलमथनं कलेः—कलियुगस्य मलं—पापं मथ्नातीति यत्तत्तथा । पुनः किम्भूतम् ? पावनानां—पवित्राणां मध्ये पावनं—पवित्रं, [1]यद्वा पावनानां—गङ्गादीनामपि पावनं—पवित्रीकरणं ।[1] पुनर्यन्नाम मुमुक्षोः—मोक्तुमिच्छोः मुनेः पाथेयं—शम्बलं । किंविशिष्टस्य मुमुक्षोः ? सपदि—शीघ्रं परपदप्राप्तये—मोक्षप्राप्त्यै प्रस्थितस्य—प्रवृत्तस्य । पुनः किम्भूतं रामनाम ? कविवरवचसां एकं—अद्वितीयं विश्रामस्थानं, यतः सकलकवीनां गिरो रामनामस्तुतावेवाऽवस्थिताः । पुनः किम्भूतम् ? सज्जनानां जीवनं । पुनः किम्भूतम् ? धर्मद्रुमस्य—पुण्यवृक्षस्य बीजहेतुः, [2]यदा रामनाम-गृहीतं तदा धर्मवृक्षोऽपि रोपितः[2] ॥५२॥

उत्फुल्लामलकोमलोत्पलदलश्यामाय रामामनः-
कामाय प्रथमाननिर्मलगुणग्रामाय रामात्मने ।
योगारूढमुनीन्द्रमानससरोहंसाय संसारवि-
ध्वंसाय स्फुरदोजसे रघुकुलोत्तंसाय पुंसे नमः ॥२॥

(कीका०)—उत्फुल्लेति । शार्दूलविक्रीडितेन स्वरूपमजानन्निव केवलं नमस्कुर्वन्नाह—तस्मै रघुकुलोत्तंसाय पुंसे रघुवंशमुकुटालङ्कारभूतायेत्यर्थः[3], तादृशाय परमपुरुषाय श्रीराममूर्त्तये नमः—मनोवाक्कायप्रह्वीभावोऽस्त्वित्यर्थः । किम्भूताय ? उत्फुल्लामलकोमलोत्पलदलश्यामाय उत्फुल्लं—विकसितं अमलं—निर्मलं कोमलं—सुकुमारं च यदुत्पलं—नीलकमलपत्रं तद्वत् श्यामाय—स्निग्ध-श्याममूर्त्तये इत्यर्थः । यद्युत्पलशब्दः सामान्येन कमलमात्राभिधायी तथापीहोत्तरत्र श्रूयमाणश्यामपदोपस्थापितशक्तिवशान्नीलत्वविशिष्टतां ब्रूते । तथा च विशिष्टितां विश्वामित्रः सस्मार—

१–१. हं० पंक्तिरियं नास्ति । २–२. हं० पंक्तिरियं नास्ति । ३. ब. रघुवंशमुकुटाय अलंकारभूतायेत्यर्थं ।

ध्यात्वा नीलोत्पलश्यामं रामं राजीवलोचनम् ।

इति । श्यामास्पदं सौन्दर्यं वक्तुं पुनर्विशिनष्टि—रामामनःकामायेति, रामा 'सुन्दरी रमणी रामा' इत्यमरोक्तेः । तस्या मनसः काम इव कामः सौन्दर्यातिशयात् कन्दर्परूपेण भासमानः तस्मै । अपरं कीदृशाय ? प्रथमाननिर्मलगुणग्रामाय गुणाः—शौर्यौदार्यदाक्षिण्यादयस्तेषां ग्रामः—समूहो गुणग्रामः, प्रथते—विस्तारं गच्छति इति प्रथमानः, तादृशो निर्मलः—निष्कलङ्को गुणग्रामो यस्य स तस्मै । पुनः कीदृशाय ? रामात्मने, रामपदेन आकाशवत्सर्वगतमाकाशादप्यन्तरतरं सुसूक्ष्मं अबाध्यं ब्रह्मोच्यते, रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति रामपदव्युत्पत्तेः, स्मरन्ति च—

रमन्ते योगिनो यत्र नित्यानन्दे चिदात्मनि ।

इति, रामपदेनाऽसौ परं ब्रह्माभिधीयत इति स रामः, आत्मास्वरूपं तस्य तस्मै ।

ननु अस्मदादेरपि स एव आत्मेति तत्त्वमस्यादिशास्त्रात् प्रतीम इति चेत् ? सत्यं, मार्त्तिकस्फाटिकघटयोरिवाविद्योपाधेः शुद्धसत्वात्ममायोपाधेश्च व्यवधायकाव्यवधायकत्वेन महानस्ति विशेषो दीपस्येवेत्यलम् । 'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वर' इति स्मरणात् । कार्यमविद्या, सा च स्वाश्रयव्यामोहिका । कारणं माया, सा च न स्वाश्रयं व्यामोहयतीति जीवेश्वरयोर्महान् भेदः । मन्त्रवर्णश्च—'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकषीती'ति । तथा—'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्य' इति, तस्मादविरोधः सर्वत्र ।

अपरं किम्भूताय ? योगारूढमुनीन्द्रमानससरोहंसाय, आत्ममनसोर्योजनं योगः तं योगमारूढो योगारूढस्त्यक्तसर्वसंकल्प इति[1] । तथा च स्मर्यते गीतासु—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसन्न्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥

इति । स चासौ मुनीन्द्रश्च तस्य मानसं—चित्तमेव यत्सरः—जलायतनं

१. ब. इत्यर्थः ।

स्वेच्छत्वात् द्रवत्वाच्च[1], तत्र हंस इव हंसः, यथा हंसो मानससरसि क्रीडते तद्वत् योगीन्द्रचेतसि क्रीडमानायेत्यर्थः। योगोऽष्टाङ्गः इति जीर्णाः, तथा च **पतञ्जलिः**—

'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारध्यानधारणासमाधयोष्टावङ्गानी'ति।

नैतदेवं अष्टाङ्गयोगस्य अष्टमहासिद्धिफलत्वावधारणेन तदभ्यासप्रवणे मनसि हंसवत् पारमेश्वरक्रीडानुपपत्तेः। न ह्यविद्यात्मिकां सिद्धिमनुसंदधानस्य कूटयोगिनश्चेतसि विद्योदयोऽस्ति, अतत्क्रतुत्वाद् विद्याविद्ययोश्च तेजस्तिमिरयोरिव सहावस्थानविरोधात्। अत एव **शारीरिकमीमांसायां सांख्यदर्शनम्** 'विरुद्धांशे बहुधा निराकृत्य एतेन योगः प्रत्युक्तः' इत्यतिदेशसूत्रेण सप्रपञ्चं सिद्धिफलो योगोऽपि निराकृतः। तस्मादात्ममनसोर्योजनं योग इत्यस्माद् व्याख्यैव राद्धान्तपदमारोहति व्यासशंकरादिसर्ववेदान्तिसम्मतत्वात्। अत एव पञ्चमवेदे मोक्षधर्मेषु स्मर्यते—

'प्राणायामस्तु सगुणो निर्गुणा धारणा मता।'

इति। प्रकृतं तु—अपरं कीदृशाय? संसारविध्वंसाय घटीयन्त्रवत् संसरणं संसारः शास्त्रैकप्रवणतया[2] ये स्वभक्तास्तेषां संसारं विध्वंसयति—नाशयतीति तथा। संसारवीत्यत्र यतिभङ्गो महाकविप्रयोगेष्वपि अनुमतत्वादुपसर्गबलात्, आर्षत्वाच्च न दूषणं किन्तु भूषणमेव।

ननु ऋषिर्दर्शनादिति स्मरणात् सर्वज्ञव्यासवाल्मिक्यादिवत् हनूमतः सार्वज्ञ्यास्मरणात् कथं ऋषित्वमिति चेत्? अनूचानत्वादेवेति ब्रूमः, तथा च सर्वज्ञ एव यास्कः स्मरति, तस्मात् यदेव किं वाऽनूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद्भवतीति, अन्यथा कान्दिशीकास्मदादिकर्तृकग्रन्थानां प्रामाण्यं दूरापास्तमेव भवतीत्यलम्।

अपरं किम्भूताय? स्फुरदोजसे ओजः—प्रत्यहं वर्द्धमानः प्रतापः प्रसृमरप्रतापायेत्यर्थः। यद्वा, ओज इव ओजः—तेजः संस्तुतं स्वस्वरूपं स्फुरत्—प्रकाशमानं तदोजो यस्य स स्फुरदोजास्तस्मै। तथा च स्मर्यते **गीतासु**—

'न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'॥

इति। ओजो धामेत्यनर्थान्तरं, इदं च विशेषणं संसारविध्वंसकर्तां प्रतिहेतुगर्भतामाधत्ते। परमात्मसत्तत्त्वावबोधश्च दाशरथेर्वा शिष्टादौ वसिष्ठसंवादे स्मर्यते— 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' इति नियमश्रुतेः॥२॥

---

१. ब. द्रवरूपत्वाच। २. ब. शास्त्राचार्यैकप्रवणतया।

(गुण०)—उत्फुल्लामलेति । तस्मै रामात्मने–रामस्वरूपाय पुंसे–परमपुरुषाय नमः । किंविशिष्टाय तस्मै? उत्फुल्लामलकोमलोत्पलदलश्यामाय उत्फुल्लानि–विकस्वराणि अमलानि–निर्मलानि कोमलानि[1] यानि उत्पलानां दलानि–पत्राणि तद्वत् श्यामः–कृष्णस्तस्मै उत्फुल्लामलकोमलोत्पलदलश्यामाय । पुनः किंविशिष्टाय ? रामामनःकामाय रामाणां–स्त्रीणां यानि मनांसि रामामनांसि तेषां कामः–अभिलाषो यस्मिन् स तस्मै । यद्वा, रामाणां मनसि काम इव–कन्दर्प इव यः स तस्मै । पुनः किम्भूताय तस्मै ? प्रथमाननिर्मलगुणग्रामाय प्रथमानः–विस्तरन् निर्मलो गुणग्रामः–औदार्यादिगुणसमूहो यस्य स तस्मै प्रथमाननिर्मलगुणग्रामाय । गुणाद् ग्रामशब्दः समूहार्थः । पुनः किंविशिष्टाय तस्मै ? योगारूढमुनीन्द्रमानससरोहंसाय योगारूढाः–अष्टाङ्गयोगसाधनावस्थां प्राप्ता ये मुनीन्द्रास्तेषां मानससरसि हंस इव हंसस्तस्मै । पुनः किंविशिष्टाय तस्मै ? संसारविध्वंसाय संसारस्य विध्वंसो यस्मात् स तस्मै । पुनः किंविशिष्टाय तस्मै ? स्फुरदोजसे स्फुरत् ओजः–पराक्रमो यस्य स तस्मै । पुनः किंविशिष्टाय तस्मै ? रघुकुलोत्तंसाय रघुकुले उत्तंस इव–शेखर इव यः सः रघुकुलोत्तंसः तस्मै रघुकुलोत्तंसाय ॥२॥

रेफ ! व्यञ्जनराजता तव तवाकार प्रकर्षस्वरे-
ष्वन्त्यस्यापि मकार विस्फुरति ते वर्गोत्तरेष्वादिमा[2] ।
यैः सम्भूय निगद्यते रघुकुलालङ्कारहीरांकुरो,
देवः द्रोणिसुतापयोधरतटीशृङ्गारहारो हरिः ॥३॥

(कीका०)—रेफव्यञ्जनेत्यादि, चत्वारि शार्दूलविक्रीडितानि । तत्र प्रथमेन रामपदावयववर्णानां पृथक्पृथक्न्यस्तानामुपासनासु विशिष्टफलजनकत्वात् तानेव पार्थक्येन स्तौति ।

ननु पदापदगतानां वर्णानामर्थाभिधानं शक्तेरदर्शनात् किमेषां न्यासेन स्तुत्या चेति चेत् ? मैवं, सामान्या हि वर्णेष्वर्थाभिधानशक्तिरस्त्येव, यथा मृदोऽवयवेषु सर्वमृन्मयभाण्डारम्भशक्तिः, सानुपदत्वेन समुदितानामर्थविशेषं न तिष्ठते[3] । यथा मृदो मृदोऽवयवानां घटे घटारम्भशक्तिरभिव्यज्यते, तस्मादनर्थका वर्णा इत्येतदन्धपरम्परामात्रं । न हि सूक्ष्माः परमाणवो न सन्तीति वक्तुं शक्यते, योगिप्रत्यक्षतावधारणात्, तेषां कैश्चित् पृथिव्यादिकार्यारम्भकत्वाभ्युपगमात् ।

अपि च, ननु वर्णैरनेकैरारभ्यमाणं पदमप्यनर्थकं स्यात्, न हि अशुक्लैस्तन्तु-

---

१. हं. कोमलानि मृदुनि । २. कीकामते तु—वर्गाक्षरेष्वादिमः । ३. ब. अर्थविशेषेऽवतिष्ठते ।

भिरारभ्यमाणः पटः शुक्लो भवति, ततश्च पदैरनर्थकैरारभ्यमाणं वाक्यमप्यनर्थकं स्यात्, वाक्यैश्चानर्थकैरारब्धं शास्त्रमप्यनर्थकमेव स्यात्, ततश्च अभ्युदयनिःश्रेयसार्थोयमभ्युद्यमः स्वप्रत्ययेन विदुषानर्थक[1] एव स्यात्, अनिष्टं चैतत्, तस्मादर्थवन्तो वर्णा इत्येवोपपन्नम् । ततश्च अर्थवतां तेषां स्तुतिन्यासादिना युक्ता फलविशेषवत्ता परदेवताभिमुख्यहेतुत्वात्, यथा देवदत्तादिरामन्त्रितोऽभिमुखीभवति एवं प्रणवरामादिपदैः परदेवतेति भावः । तथा च योगशास्त्रे पतञ्जलिना स्मर्यते—'तस्य वाचकः प्रणव' इति ।

प्रकृतं तु, हे रेफ ! रामपदे प्रथमाक्षरत्वात् तव व्यञ्जनराजता युक्ता । उच्चारकाले अर्धमात्रं व्यञ्जनं, तेषां व्यञ्जनानां राजा व्यञ्जनराजः, समासान्तष्टच्, तस्य भावस्तत्ता । राजत्वं च रेफस्य रादित्वसाधर्म्यादेव, अक्षरवर्णसामान्यान्निब्रूयादिति स्मृतेः । हे आकार ! स्वरेषु अकारादिषु तव प्रकर्षमात्राद्व्यक्त उत्कर्षः स्फुरति, तदपि युक्तं रामपदेऽन्वीयमानत्वात् । हे मकार ! तव अन्त्यस्यापि सतः वर्गाक्षरेषु पञ्चविंशतिषु आदिता प्राथम्यं विस्फुरति—विशेषेण प्रकाशते, गुणाधिक्येन रामपदे समावेशात् । यथा दत्तानुयोगानां ब्राह्मणानामवस्थानक्रमोऽकिञ्चित्करस्तद्वत् अन्ते स्थितोऽपि गुणाधिकः प्रधानमेवेति, तद्वन्मकारस्यान्तेऽवस्थानमकिञ्चित्करमित्यर्थः । आदिमेति केचित्पठन्ति तदसत्, अनन्वयात्, भावप्रत्ययप्रकरणाच्च । किमर्थमिदमुच्यते ? अत आह—यैर्भवद्भिस्त्रिभिरक्षरैः—रेफाकारमकारैः सम्भूय—मिलित्वा देवः—मोक्षफलदाता हरिः परमेश्वरो निगद्यते, नितरां यथाभिमुखो भवति तथोच्यत इत्यर्थः । देवो दानाद्वेत्यादि स्मरणम् । कीदृशो देवः ? रघुकुलालङ्कारहीरांकुरः—रघुवंशभूषणचूडामणिमाणिक्यरूप इत्यर्थः । अपरं कीदृशः ? क्षोणिसुतापयोधरतटीशृङ्गारहारः, क्षोणिसुता—सीता तस्याः पयोधरतटी विशालत्वात् यत्स्तनतटं तस्य शृङ्गारार्थं हार इव हारः विशेषालङ्कारहेतुरित्यर्थः । समुद्धि(द्धृ)तरामपदवाच्येऽर्थे वाङ्मनसयोः सम्यक्प्रवेशाभावात् रेफादितदवयववर्णानेव केवलं स्तुम इति समस्तार्थः ।।३।।

(गुण०)—रेफव्यञ्जनेति । हे रेफ ! तव व्यञ्जनराजता व्यञ्जनेषु राजता—राजत्वं स्फुरति, तथा हे आकार ! तव स्वरेषु प्रकर्षः स्फुरति, तथा हे मकार ! अन्त्यस्यापि प फ ब भ म इत्यक्षरगणनया प्रान्ते स्थितस्यापि ते—तव वर्गाक्षरेषु—पञ्चविंशतिसंख्येषु आदिमा आदित्वं—प्रथमत्वं स्फुरति । अथ कथमेषां त्रयाणामेवाक्षराणां प्राधान्यमित्यत[2] आह—यैः रेफआकारमकारैः सम्भूय—मिलित्वा राम इत्यभिधानेन रघुकुलालङ्कारहीरांकुरः रघुकुलेऽलङ्का-

---

१. ब. विदुषामनर्थक । २. हं० इत्याह ।

राय हीरांकुर इव यः स देवः हरिर्निगद्यते–कथ्यते । किंविशिष्टो हरिः ? क्षोणिसुतापयोधरतटीशृङ्गारहारः क्षोणीसुतायाः–सीतायाः या पयोधरतटी–स्तनतटी तस्याः शृङ्गारार्थं हार इव यः सः क्षोणिसुतापयोधरतटीशृङ्गारहारः ॥३॥

आबाल्याधिगमान्मयैव गमितः कोटिं परामुन्नते-
रस्मत्संकथयैव पार्थिवगुरुः सम्प्रत्ययं लज्जते ।
इत्थं खिन्न इवात्मजेन यशसा दत्तावलम्बोऽम्बुधे-
र्यातस्तीरतपोवनानि शनकैर्वृद्धो गुणानां गणः ॥४॥

(कीका०)—आबाल्याधिगमादिति । गुणानां गणः अर्थात् रामसम्बन्धिनां शौर्यौदार्यदाक्ष्यादीनां समूहं शनकैः–मन्दं मन्दं अम्बुधेः–समुद्रस्य तीरतपोवनानि–परपाराऽरण्यगताश्रमलक्षणानि यातः । किम्भूतो गुणगणः ? वृद्धः–वृद्धिबाहुल्यं[1] गतः, अथ च वृद्धः–स्थविरः । अपरं कीदृशः ? आत्मजेन–पुत्रस्थानीयेन यशसा दत्तावलम्बः दत्तः अवलम्बो यस्मै स तथा । अपरं कीदृशः ? उत्प्रेक्ष्यते – इत्थं–इतः कारणात् खिन्नः–विषण्ण इव । इत्थं कथम् ? अयं पार्थिवगुरुः–सर्वराजाधिपतिः श्रीरामभद्रः आबाल्याधिगमात्–शैशवप्राप्तेरारभ्य मयैव उन्नतेः–गुरुत्वस्य परां कोटिं गमितः–अतिशयितं प्रकर्षलक्षणं अग्रभागं प्रापितः । अपरं सम्प्रति–इदानीं अस्मत्संकथयैव–अस्माकं वार्त्तयाऽपि लज्जते–जिह्रेति, स्वगुणाख्याने हि सत्पुरुषस्य ह्रीरुचिता । तत्रेयमुत्प्रेक्षा, अन्योऽपि स्थविरः कस्मात् विकृतोपदारात्[2] यदाऽपमानं लभते तदा विषण्णः सन् पुत्रादिनाऽवलम्बितो महातीर्थतीरादि सेवत इति श्लेषः ॥४॥

(गुण०)—आबाल्याधिगमान्मयैवेति । वृद्धः–प्रौढिं प्राप्तः स्थविरो वेति श्लेषे, गुणानां–औदार्यधैर्यशौर्यादीनां गणः–समूहः इत्थं–पूर्वोक्तप्रकारेण खिन्न इव–खेदं प्राप्त इव आत्मजेन–पुत्रेण स्वोत्पन्नेन वेति श्लेषोक्तिः, यशसा यतो गुणगणादेव यशः समुत्पद्यते अतः आत्मजत्वं यशसस्ततस्तेन दत्तावलम्बः दत्तः अवलम्बः स्वस्कन्धाधारो यस्मै वृद्धाय स दत्तावलम्बः, ईदृग्विधः सन् शनकैः शनैरेव शनकैः 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेरि'त्यकच्प्रत्ययोऽज्ञाताद्यर्थे[3], अम्बुधेः–समुद्रस्य तीरतपोवनानि तीरे यानि तपोवनानि–तापसाश्रमास्तानि तीरतपोवनानि यातः–गतस्तपो विधातुमितिशेषः । इत्थं खिन्न इति कथं खिन्नः ? इत्याह—अयं पार्थिवगुरू रामः मयैव गुणगणेनैव आबाल्याधिगमात्–आशैशवप्राप्तेः शैशवादारभ्येत्यर्थः । उन्नतेः परां कोटिं यदीदृग् नृपतिसमो नान्यो भूपतिरिति, उन्नतेः–उदयस्य परमां काष्ठां गमितः–प्रापितः ।

१. ब. वृद्धबाहुल्यं । २. ब. विकृतोपकारात् । ३. हं० ज्ञानाद्यर्थे ।

सम्प्रति–इदानीं अयं पार्थिवगुरुरस्मत्संकथयैव अस्माकं गुणानां संकथा–संकथनं सत्कविभिः स्तुतिकरणं तयैव लज्जते–त्रपते। यतो अन्येनाऽपि केनचित्प्रसन्नात्मना कश्चित्प्राक् तुच्छोऽपि परमां ऋद्धिं प्रापितः स एव चेत्तन्नाम्ना त्रपामासादयेत् तदा सोऽपि तत्समृद्धिप्रदाता ततो निर्गत्य कृतघ्नत्वेन च तद्दृष्टमुखतां विधाय च खिन्नः सन्'स्वपुत्रदत्तावलम्बस्तपोवनेषु गत्वा तपः करोति तथाऽयमपि गुणानां गणः समुद्रतीरे तपोवनेषु यात इति। इत्यनेन अम्बुधितीरेऽपि यद्यशो विशिष्टो गुणगणः श्रूयत इति भावः। अथ यद्गुणगणं श्रुत्वा रामो ह्रीणस्तद्युक्तं। यतः सन्तः स्वगु[1]णान् स्वकर्णाभ्यां शृण्वन्तस्त्रपया अवाङ्मुखा एव जायन्त इति गर्भार्थः[1]। "कालप्रकर्षयोः काष्ठा कोटिसंख्याप्रकर्षयोः" इति धनञ्जयः ॥४॥

ये मज्जन्ति निमज्जयन्ति च परांस्ते प्रस्तरा दुस्तरे,
वार्द्धौ वीर तरन्ति वानरभटान् संतारयन्तेऽपि च।
नैते ग्रावगुणा न वारिधिगुणा नो वानराणां गुणाः,
श्रीमद्दाशरथेः प्रतापमहिमा सोऽयं समुज्जृम्भते ॥५॥

(कीका०)—ये मज्जन्तीति। क्षिप्त इति केचित्। हे वीर! शत्रुहन्! वीरो वीरयत्यमित्रानिति स्मरणात्, रामस्य सम्बोधनमिदं सेतुकर्तुर्नलवानरस्य वा, हे वीर! सेतुबन्धादिमहाकर्मणि सुभट! ये प्रस्तराः–पाषाणाः स्वयं मज्जन्त्युदके प्रक्षिप्तास्सन्तो ब्रुडन्त्येव। च–अपरं परान्मनुष्यादीनपि स्वसंयोगात् निमज्जयन्ति–ब्रुडनं कारयन्ति ते प्रस्तराः दुस्तरे–अगाधत्वात् तरीतुमशक्ये वार्द्धौ–समुद्रे स्वयं तरन्ति तथा वानरभटान् सर्वकपिसैनिकवीरान् सन्तारयन्तेऽपि च। इमे कस्य गुणाः? तत्राह—नैते इति, एते ग्रावगुणा न, ग्रावाण एव लघिमादिगुणमाश्रित्य स्वयं तरन्तीति वक्तुमशक्यं तेषामचेतनत्वात्। अपरं वारिधिगुणा न हि समुद्रस्तान् तारयितुं शक्तोऽतिपरमेश्वरातिरिक्ते स्वभावातिक्रमशक्तेरयोगात्।

ननु त्वष्ट्रादिदेवांशावताराः नलादिवानराः देवप्रसादाल्लब्धवरत्वेन तारयितुं शक्नुयुरिति चेत्? नेत्याह—नो वानराणां गुणा इति, नलादितिर्यक्जातीनां देवतानां वा अन्यथाकरणलक्षणपारमेश्वरशक्तिसद्भावे को वा विचार इति भावः। तर्हि कथमेतत् सम्भवतीत्याकांक्षायां समाधत्ते—श्रीमदिति। सोऽयं दुस्तरप्रस्तरतरणलक्षणः श्रीमद्दाशरथेः प्रतापमहिमा समुज्जृम्भते–प्रसरीसर्त्ति उल्लसत इत्यर्थः। परमेश्वरत्वेन कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं सामर्थ्याभ्युप-

---

१. हं० नास्ति पाठः।

गमात् श्रयन्त्येनां ब्रह्मादय इति श्रीः, सा नित्यतया विद्यतेऽस्मिन्निति श्रीमान्, दाशरथस्यापत्यं दाशरथिः, श्रीमांश्चासौ दाशरथिश्च तथा। तथा चोक्तम् **लक्ष्म्यवतारानुक्रमणे**—'राघवत्वेऽभवत्सीता रुक्मिणी कृष्णजन्मनि' इति ।।५।।

(गुण०)—ये मज्जन्तीति । ये प्रस्तराः–ग्रावाणो मज्जन्ति–ब्रुडन्ति स्वयं तेषां गुरुत्वात् समुद्रान्तर्मज्जनमेव घटते । तथा परान्–तद्ग्रावपृष्ठलग्नान् निमज्जयन्ति–ब्रोडयन्ति । च–पुनरर्थे, ते प्रस्तरा दुस्तरे–दुःखेन तीर्यते यः सः दुस्तरस्तस्मिन् वार्द्धौ–समुद्रे हे वीर !–हे शूर त्वं वद यत्तरन्ति–उन्मज्जन्ति । च–पुनः वानरभटान्–प्लवगशूरान् संतारयन्तेऽपि च । नैते तरणतारणलक्षणाः ग्रावगुणाः, ग्राव्णां गुणाः ग्रावगुणाः । तथा न वारिधिगुणाः वारिधेः–समुद्रस्य गुणाः वारिधिगुणाः । तथा नो वानराणां गुणाः, किन्तु हे वीर ! श्रीमद्दाशरथेः दशरथस्यापत्यं दाशरथिस्तस्य सोऽयमिति, यत्प्रभावतो ग्रावाणस्तरन्ति तारयन्ति च सोऽयं प्रतापस्य महिमा–माहात्म्यं प्रतापमहिमा समुज्जृम्भते–समुल्लसतीति भावः ।।५।।

कर्पूरप्रतिपन्थिनो हिमगिरिग्रावाग्रसंघर्षिणः,
क्षीराम्भोनिधिमध्यगर्वजयिनो गङ्गौघसर्वङ्कषाः ।
स्वच्छन्दं हरिचन्दनद्युतिनुदः कुन्देन्दुसम्वादिन-
स्तस्यासन्नरविन्दकन्दरुचयो[1] नैके गुणाः केचन ।।६।।

(कीका०)—कर्पूरेत्यादि । तस्य श्रीमद्दाशरथेः नैके–असंख्याः गुणा वर्तन्त इति शेषः । असंख्यत्वाच्च केचन गुणाः कर्पूरप्रतिपन्थिनो आसन् श्वैत्यशैत्यादिना कर्पूरगुणहरा अभवन्नित्यर्थः । अपरं केचन हिमगिरिग्रावाग्रसंघर्षिण आसन् हिमगिरिग्रावाग्रं–हिमालयशृङ्गाग्रं श्वैत्यशैत्योन्नत्यादिना संघर्षितुं–स्पर्द्धितुं शीलमेषां ते तथा । केचन गुणाः क्षीराम्भोनिधिमध्यगर्वजयिनः क्षीरसागरमध्यस्य निर्मलत्वरत्नाकरत्वागाधत्वलक्षणो यो वर्तते गर्वस्तं जेतुं शीलं येषां ते तथा । अपरं केचन गुणाः गङ्गौघसर्वङ्कषाः सर्वं स्वरूपं कषन्ति–नाशयन्ति इति सर्वङ्कषाः 'सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कषः' इति खश्, खितिपदस्येति मुमागमः । गङ्गौघस्य–जाह्नवीप्रवाहस्य सर्वंकषाः धावल्यगर्वस्वरूपा पापहर्तार इत्यर्थः । अपरं केचन गुणाः स्वच्छन्दं–लीलयैव हरिचन्दनद्युतिनुदः हरिचन्दनं–शुद्धश्रीखण्डस्तस्य द्युतिं तद्गतप्रेम वा नुदन्ति–प्रेरयन्ति स्फेटन्तीति[2] तथा । अपरं केचन गुणाः कुन्देन्दुसंवादिनः, कुन्दानि–मुचुकुन्दानि च इन्दुः–चन्द्रश्च कुन्देन्दवः सौरभ्यश्वैत्याह्ला-

१. कीकामतेतु—अरविन्दकुन्दरुचयो । २. ब. स्फेटयन्तीति ।

दकत्वादिना कुन्देन्दुभिः संवदितुं–स्पर्द्धितुं शीलमेषां ते तथा। अपरं केचन गुणाः अरविन्दकुन्दरुचयः, अरविन्दं–पुण्डरीकं श्वेतकमलमित्यर्थस्तस्येव रुचिः–कान्तिर्येषां ते तथा ।।६।।

(गुण०)—कर्पूरप्रतिपन्थीति । तस्य श्रीरामदेवस्य नैके–अनेकसंख्याकाः गुणाः, केचन कर्पूरप्रतिपन्थिनः–हिमवालुकाजेतार[1] आसन्, अपरं केचन गुणा हिमगिरिग्रावाग्रसंघर्षिणः हिमगिरेर्ग्रावाग्राणि संघर्षंतीत्येवंशीला हिमगिरिग्रावाग्रसंघर्षिणः–हिमाद्रिदृषत्प्रान्तस्पर्द्धका आसन्, तथा केचन गुणाः क्षीराम्भोनिधिमध्यगर्वजयिनः क्षीराम्भोनिधेः–क्षीरसमुद्रस्य मध्यगर्वं जयन्तीत्येवंशीलाः क्षीराम्भोनिधिमध्यगर्वजयिन आसन् । तथा केचन गुणाः गङ्गौघसर्वङ्कषाः गङ्गाया य ओघः–प्रवाहस्तं सर्वं कषन्तीति गङ्गौघसर्वङ्कषा आसन् । तथा केचन गुणाः स्वच्छन्दं–लीलया हरिचन्दनद्युतिनुदः हरिचन्दनद्युति–गोशीर्षकान्ति नुदन्तीति हरिचन्दनद्युतिनुद आसन् । पुनः केचिद् गुणाः कुन्देन्दुसंवादिनः कुन्दश्च इन्दुश्च तयो संवदन्तीत्येवंशीलाः कुन्देन्दुसंवादिन आसन्, श्वैत्यात् तत्समतामलभन्त इत्यर्थः । तथा केचन गुणाः अरविन्दकन्दरुचयः अरविन्दानां–अम्भोजानां यः कन्दः–स्थुडं तद्वद् रुचिः–कान्तिर्येषां ते अरविन्दकन्दरुचयः आसन्निति । नैके इति निषेधार्थनकारस्य समानत्वान्न लोपाभावो नैकधेत्यादिवत् ज्ञेयः ।।६।।

बीजं चिन्तामणिश्चेत्कनकगिरितटी जन्मभूमिर्भवेच्चेत्,
सेक्त्री चेत् कामधेनुर्निधिकुलमखिलं मूलसंस्कारमृच्चेत् ।
वित्तेशो रक्षिता चेत् सरसिजनिलया मञ्जरी चेत्तदा स्या-
द्राम ! क्ष्मापालमौले ! तव भुजलतया कल्पवृक्षः सदृक्षः ।।७।।

(कीका०)—बीजमिति । स्रग्धरावृत्तम् । हे क्ष्मापालमौले !–सर्वपार्थिवावतंस ! हे श्रीराम ! यदि वक्ष्यमाणगुणयोगी कल्पवृक्षः स्यात् तदा तव भुजलतया सदृशो[2] भवेत् । के के गुणाः ? तानेवाह—बीजमिति । यदि कल्पवृक्षस्य चिन्तामणिः–चिन्तितार्थप्रदं माणिक्यं बीजं भवेत् । तथा जन्मभूमिः–बीजावापक्षेत्रभूः कनकगिरितटी–मेरुपर्वतैकदेशश्चेद् भवेत् । उप्ते बीजे सेचनं अपेक्षते तदाह—सेक्त्री चेदिति, यदि कामधेनुः–कामदुघा सेचनकर्त्री भवेत् । तथा अखिलं निधिकुलं महापद्मादिनवानामपि निधीनां समूहः मूलसंस्कारमृत्–मूलपूरणार्था मृत्तिका चेद् भवेत् । अपरं वित्तेशः–धनदो यदि रक्षिता–रक्षको भवेत् । तथा सरसिजनिलया–कमलालया लक्ष्मीर्यदि मञ्जरी स्यात् । एभिरुदाहृतैर्गुणैः कल्पवृक्षश्चेत् संयुज्यते तदा तवोदारभुजेन साम्यं लभेत नान्यथेति भावः ।।७।।

---

१. ह्रं० घनवालुकाजेतार । २. ब. सदृक्षः सदृशो ।

(गुण०)—बीजं चिन्तामणिरिति । हे राम ! क्ष्मापालमौले ! नृपतिरत्न ! तव भुजलतया–बाहुलतया सदृक्षः कल्पवृक्षस्तदा स्याच्चेत्, यदि तस्य कल्पवृक्षस्य बीजं–उत्पत्तिकारणं चिन्तामणिः स्यात्, यतस्तदुत्पन्नः कल्पवृक्षोऽनन्यसाधारणगुणः स्यादिति । तथा चेत् तस्य–कल्पवृक्षस्य कनकगिरितटी–मेरुगिरितीरं जन्मभूमिः–उत्पत्तिभूमिर्बीजवापनक्षेत्रभूः[1] भवेत् । तथा तत्र बीजे चेत् कामधेनुः सेक्त्री–सेचनकारिका जलप्रक्षेपिका स्यात् । [2]बीजे उप्ते सेचनं विलोक्यते[2] । तथा चेत्तत्र अखिलं–समस्तं निधिकुलं[3]–निधिः समूहः मूलसंस्कारमृत्–आलवालमृत्तिका भवेत् । तथा तत्र चेत् वित्तेशः–धनदः रक्षिता–रक्षकः स्यात् । तथा तत्रैवेत्थं वर्द्धितस्य कल्पवृक्षस्य चेत्[3] सरसिजनिलया सरसिजं–कमलं तदेव निलयः–गृहं यस्याः सा लक्ष्मीरित्यर्थः, सा मञ्जरी स्यात् । तदा तव भुजलतया कल्पवृक्षः समानो भवतीति ॥७॥

लावण्यौकसि सत्प्रतापगरिमण्यग्रेसरे[4] त्यागिनां,
देव ! त्वय्यवनीभरक्षमभुजे निष्पादिते वेधसा ।
इन्दुः किं घटितः किमेष विहितः पूषा किमुत्पादितं,
चिन्तारत्नमहो मुधैव किममी सृष्टाः कुलक्ष्माभृतः ॥८॥

(कीका०)—लावण्यौकसीति । द्वे शार्दूलविक्रीडते । हे देव ! वेधसा–ब्रह्मणा[5] त्वयि एवंविधे निष्पादिते सति पुनरनर्थका एते इन्द्रादयः कथं घटिताः ? तदेव सामान्योक्तं विवृणोति–लावण्यौकसीति, सौन्दर्यैकनिधाने त्वयि विद्यमाने सति इन्दुः–चन्द्रः किं घटितः ? नैव किञ्चित्तेन प्रयोजनं भातीति भावः । तथा सत्प्रतापगरिमणि त्वयि विद्यमाने एष मण्डलात्मा पूषा किं विहितः–किमर्थं कृतः, गुरोर्भावः गरिमा 'प्रियस्थिरस्फिरोरुबहुलगुरुवृद्ध' त्यादिना गरादेशः, संश्चासौ प्रतापश्च सत्प्रतापः, सत्प्रतापस्य गरिमा यस्मिन् स तथा । प्रतापगौरवयुक्ते त्वयि विद्यमाने सूर्येण किं साधितमित्यर्थः । तथा त्यागिनां–वदान्यानां अग्रेसरे–प्रथमे त्वयि सति चिन्तारत्नं किमुत्पादितं, उदारसारे विद्यमाने चिन्तामणिना किमित्यर्थः । अपरं त्वयि अवनीभरक्षमभुजे–पृथ्वीभारसहिष्णुहस्ते विद्यमाने सति अहो इति आश्चर्ये अमी प्रसिद्धाः कुलक्ष्माभृतः–कुलाचला वृथैव किं सृष्टाः । अवन्याः भरे क्षमो भुजो यस्य स तस्मिन् । तव भुजलतया भूमण्डलस्य लीलया धर्तुं शक्यत्वात् तदर्था पर्वतसृष्टिः व्यर्थेत्यर्थः ॥८॥

१. हं० 'बीजवापनक्षेत्रभूः' नास्ति । २–२. हं० नास्ति पाठः ३–३. हं० नास्ति पाठः । ४. गुणविनयमते तु—सत्प्रतापगरिमण्यग्रेसरे ।

(गुण०)—लावण्यौकसीति । हे देव ! त्वयि रामे वेधसा–ब्रह्मणा लावण्यौकसि लावण्यस्य लवणिम्नः ओकः–गृहं यः सः लावण्यौकास्तस्मिन् निष्पादिते इन्दुः किं घटितः, यतस्त्वमेव विमलं सकललावण्यगृहं, अतस्त्वत्पुरश्चन्द्रस्य लावण्यमयत्वेन घटनं व्यर्थमेव। तथा त्वयि सप्रतापगरिमणि सह प्रतापगरिम्णा–प्रतापगौरवेण वर्तते यः सः सप्रतापगरिमा तस्मिन् 'विभाषा ङिश्योः' इति सूत्रेणाकारलोपाभावपक्षे ङिरूपं। वेधसा निष्पादिते एष पूषा किं विहितः ? यतः पूषा त्वत्प्रतापस्य लक्षांशेनाऽपि न साम्यमाप्नोति, अतः सूर्यः किं निर्मितः। तथा त्वयि त्यागिनां–दातॄणां अग्रेसरे विधिना निष्पादिते सति चिन्तारत्नं किमुत्पादितं, यतश्चिन्तारत्नस्यायं प्रभावो यत् तेन[1] याचकयाचितार्थं सार्थपूरणं क्रियते, तच्च त्वयैव विहितं, अतो घटाद्युत्पत्तौ रासभादिवदन्यथासिद्धत्वाच्चिन्तारत्नस्याकिञ्चित्करत्वमेवेति। तथा अहो इति आश्चर्ये त्वयि अवनीभरक्षमभुजे अवन्याः–पृथ्व्याः यो भरः–भारः तस्य क्षमौ भुजौ यस्य स तस्मिन् निष्पादिते वेधसा अमी कुलक्ष्माभृतः–कुलाचलाः किं सृष्टाः–किं निर्मिताः, यतः पृथ्वीभारस्त्वयैव स्वभुजाभ्यां निर्व्यूढः, अतो अमीषां कुलाचलानां निष्पादनेन किं सिध्येदिति। प्रतीपालंकारः[2] ॥८॥

द्वीन्द्रं भाति जगत्त्रिधाम गगनं विश्वं चतुर्दैवतां,
पञ्चाम्नायमयं तु वाङ्मयमयं षट्सायको मन्मथः।
सप्ततुः परिवत्सरोऽष्टजलधिस्फारं धरामण्डलं,
दिक्चक्रं नव नायकं रघुपते ! देव ! त्वयि त्रातरि ॥६॥

(कीका०)—द्वीन्द्रं भातीति। हे रघुपते ! हे देव ! द्योतमाने त्वयि त्रातरि–रक्षके सति जगत्-विश्वं द्वीन्द्रं भाति–इन्द्रद्वययुक्तं शोभते। इन्दति परमैश्वर्येण वर्तते इतीन्द्रः, सा च परमैश्वर्यवत्ता, आंजस्येन श्रीमद्दाशरथावेव वर्तते, शक्रे तु गौणीत्यलम्। तथा गगनं–आकाशं त्रिधाम, धामशब्दः सूर्यचन्द्रादितेजोवचनः, श्रीरामस्य परमात्मत्वेन सूर्यादेरपि प्रकाशकत्वात् व्योमवत्पूर्णत्वाच्च यस्मिन्नाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति। 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' इति श्रुतेश्च। रामसूर्यचन्द्राख्यानि त्रीणि धामानि तेजांसि यस्मिन् तत् त्रिधाम, सूर्यादेः प्रकाशकत्वं च परमात्मनः श्रूयते—'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः, तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः तमेव भान्तमनुभाति, सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाती'ति। तथा तद्विश्वं चतुर्दैवतं भाति, रामब्रह्मविष्णुरुद्रलक्षणानि चत्वारि दैवतानि यस्मिन्तत् चतुर्दैवतम्। पञ्चाम्नायमिदं वाङ्मयं शब्दब्रह्म भाति, 'मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वर'मित्युपक्रम्य 'सोदीर्णो मूर्ध्नि अभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः वर्णान् जनयत'

१. हं० येन। २. हं० नास्ति।

इति शिक्षोक्तेः वायुः रवात् शब्दस्तदिति । कात्यायनसूत्रणाच्च 'पवनात्मानश्चत्वारो वेदाः सूत्रात्मा पञ्चमस्त्वं' अत एव श्रुतं वायुर्वै गौतम–तत्सूत्रमिति । तथा मन्मथः–कामः षट्सायको जातः, पञ्चभिः शरैः षष्ठेन भवता मन्मथो जगज्जयतीति सौन्दर्यातिशयोक्तिः । परिवत्सरादिभेदभिन्नः संवत्सरः सप्तर्तुः भवतः कालात्मकत्वात् षड्ऋतवः सप्तमस्त्वं, एते सप्त ऋतवो यस्मिन् स वत्सरे सप्तर्तुः । तथा धरामण्डलं अष्टजलधिस्फारं भाति, सप्त समुद्रास्सन्ति अष्टमो भवान्, अगाधत्वात् गभीरत्वात् स्वच्छत्वात् पूर्णत्वाच्च । सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति 'पूर्णमदः पूर्णमिदं' इत्यादि श्रुतेः, एवमष्टभिर्जलधिभिः स्फारं बहुलं वर्तते । तथा दिक्चक्रं–दिशां मण्डलं नवनायकं अष्टासु दिक्षु अष्टनायकास्सन्ति नवमस्त्वं चेति, 'नवाङ्कसंख्याव्याप्त्या सर्वात्मत्वेनेयं' श्रुतिरिति[1] भावः ॥९॥

(गुण०)—द्वीन्द्रं भातीति । हे रघुपते ! हे श्रीराम ! देव ! त्वयि त्रातरि–रक्षके सति जगत्–भुवनं द्वीन्द्रं द्वौ इन्द्रौ वर्तेते यस्मिन् तत् द्वीन्द्रं भाति–शोभते, यतः प्राक् एक एवेन्द्र आसीत्, सम्प्रति त्वयि जाते सति द्वितीय इन्द्रः समुत्पन्न इत्यर्थः । तथा त्वयि जाते गगनं–आकाशं त्रिधाम–त्रीणि धामानि सूर्याचन्द्रत्वल्लक्षणानि तेजांसि यस्मिन् तत् त्रिधाम भाति, यतः[2] सूर्याचन्द्रमसौ इति धामद्वयं आसीत् साम्प्रतं[3] त्वयि जाते जगत् तेजस्त्रययुक्तमभूत् । तथा त्वयि जाते विश्वं–विष्टपं चतुर्दैवतं जातं[4] चत्वारो दैवताः वर्तन्ते यस्मिंस्तच्चतुर्दैवतं । देव[5] एव दैवताः, पुंक्लीबलिङ्गः, प्रज्ञादिभ्योऽण् इत्यण् । यतः पूर्वं त्रय एव ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा देवा आसन् साम्प्रतं[6] त्वयि जाते चतुर्दैवतं भाति । तथा त्वयि जाते पञ्चाम्नायमयं वाङ्–मयं–पञ्चवेदात्मकं शब्दब्रह्म भाति, यतः पूर्वं चत्वार एव वेदा ऋक्यजुःसामाथर्वणाख्या आसन् साम्प्रतं त्वयि जाते पञ्चाम्नायमयं वाङ्मयं भाति । तथा त्वयि जाते अयं मन्मथः–कामः षट्सायकः–षट्शरोऽजनि, यतः पूर्वं स्मरः उन्मादन–मोहन–तापन–शोषण–मारणाख्य पञ्चशरः आसीत् एतर्हि त्वयि जाते षट्सायकोऽजनीति । तथा त्वयि जाते परिवत्सरः सप्तर्तुर्जज्ञे, यतः पुरा वत्सरः हिम–शिशिर-वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा–शरदाख्यषट्ऋतुरभवत् साम्प्रतं तु त्वयि जाते सप्तर्तुर्वृत्तः । तथा धरामण्डलं–पृथ्वीमण्डलं[7] अष्टजलधिस्फारं–अष्ट–समुद्रगरिष्ठं जातं, यतः पूर्वं भूमण्डलं लवण-क्षीर–दध्या–ऽऽज्य–सुरे–क्षु–स्वादुवार्याख्य सप्त समुद्रात्मकमासीत् अधुना त्वयि जातेऽष्टसमुद्रशोभितं वर्तते । तथा त्वयि जाते दिक्चक्रं नवनायकं–नवाधिपतिजातं यतः पुरा अष्टानामपि दिशामष्टावेव स्वामिनोऽभूवन् इदानीं तु त्वयि त्रातरि जाते दिक्चक्रं नवनायकं जातमिति ॥९॥

नागविशेषे शेषेऽशेषेऽशेषेऽपि संहृते जगति ।
हंस्यसिकालं का लंकालं कालंघने स्तुतिर्भवतः ॥१०॥

---

१. ब. स्तुतिरिति । २. हं० यतः प्राक् । ३. हं० साम्प्रतं तु । ४. हं० 'जातं' नास्ति । ५. हं० देवता । ६. हं० सम्प्रति । ७. हं० भूमण्डलं ।

(कोका०)—नागविशेषे इति । आर्या । नागविशेषे शेषेऽशेषे अशेषे इति पदच्छेदः । उत्तरार्द्धेऽपि हंसि, असिकालं कालं का लङ्कालङ्घने इति तत्रैवमन्वयः । हे देव ! अशेषे—समस्तेऽपि जगति संहृते एकार्णवतां नीते सति त्वं नागविशेषे—फणिपतौ शेषे—शेषसंज्ञे रात्र्यागमे[1] सति स्वपिषि । 'सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्-ब्रह्मणो विदुः । रात्रिं युगसहस्रान्तेऽहोरात्रविदो जनाः ।' इति प्रस्तुत्य 'रात्र्यागमे प्रलीयन्ते सृज्यन्तेऽप्यहरागमः' इति स्मरणात् । आदिनारायणतया जगदेकार्णवीकृत्य स्वमानदिनान्ते शेषशय्यः शय्यः—शयनं कुर्वन् 'वैराजः पुरुषस्त्वमेव नान्यः' इति भावः । उपाधिभेदाभावात् । अथास्याहर्मान्[2] प्रसक्तं कालावच्छेद्यत्वं व्यावर्त-यितुमाह—हंसीति, हे देव ! त्वं कालं—सम्वत्सराद्यात्मानं कृतान्तमपि हंसि-मारयसि । कालकलयितुस्तव कुतः कालावच्छेद इत्यर्थः । स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनाऽवच्छेदादिति पतञ्जलिस्मरणात् । किम्भूतं कालम् ? असिकालं—खड्ग-वत् कालवर्णं खड्गपातवत् सहसा पतिष्णुतया ब्रह्मादीनामपि भयानकमित्यर्थः । ईदृशस्य कालहन्तुर्भवतः—तव लङ्कायाः—रावणपुर्याः लंघने—आक्रमणे का नाम स्तुतिः, न हि सिंहसरभादिहन्ता शशहनने स्तूयत इति भावः ॥१०॥

(गुण०)—नागविशेषे शेष इति । हे राम ! अशेषेऽपि समस्तेऽपि जगति संहृते सति—[3]संहारजाते सति त्वं नागविशेषे शेषे—शेषनागे शेषे स्वपिषि । 'शीङ् स्वप्ने' वर्त्तमानायां मध्यमपुरुषैकवचनरूपम् । तथा हे राम ! त्वं असिकालं असिवत्—खड्गवत्कालं—कृष्णं, [4]अथवा असीति अव्ययं, त्वमित्यर्थे, कालमसितं[4] कालं कालन्दीसोदरं हंसि—मारयसि । अतो भवतः—तव हे राम ! लङ्कालंघने का स्तुतिः—स्तवनं ?[5] यतस्त्वं महदेवंविधं कृत्यद्वयं करोषि, अतस्तत्पु-रुतस्तव लङ्कालंघनकृत्यं कियदिति[5] ॥१०॥

त्वत्प्रारब्धप्रचण्डप्रधननिधनितारातिवीरातिरेक—
क्रोडत्कीलालकुल्यावलिभिरलभत स्यन्दमाकन्दमुर्व्वी ।
दम्भोलिस्तम्भभास्वद्भुज भुजगजगद्भर्त्तुराभर्त्तुरेनां,
तेनायं मूर्ध्नि रत्नद्युतिततिमिषतः शोभते शोणभावः ॥११॥

(कोका०)—त्वत्प्रारब्धेति । स्रग्धरा । हे दम्भोलिस्तम्भभास्वद्भुज ! दम्भोलिस्तम्भः—वज्रदण्डः 'दम्भोलिः कुलिशं वज्रं' इत्यभिधानात्, तद्वत्

---

१. ब. शेषे रात्र्यागमे । २. ब. 'अहर्मानिप्रसक्तं । ३–३. हं० नास्ति । ४–४. हं० नास्ति । ५–५. हं० प्रतौ—यतस्त्व या महांस्येतानि कृतानि कृतानि, भवस्तत्पुरतस्तव लङ्कालंघनकृतां किं नामकमिति ।

भास्वन्तौ–देदीप्यमानौ युद्धशौण्डीरौ दीर्घौ भुजौ यस्य स तथा तस्य सम्बुद्धौ हे वज्रदण्डकल्पहस्त ! हे राम ! त्वत्प्रारब्धप्रचण्डप्रधननिधनितारातिवीराति-रेकक्रीडत्कीलालकुल्यावलिभिरुर्वी–पृथ्वी आकन्दं–पातालमूलं यावत्स्यन्दं–स्रावं अलभत–क्षरणं लब्धवती । प्रचण्डं–उग्रं च तत्प्रधनं–युद्धं च प्रचण्डप्रधनं त्वया प्रारब्धं त्वत्प्रारब्धं च तत्प्रचण्डप्रधनं च त्वत्प्रारब्ध–प्रचण्डप्रधनं तत्र निधनिताः निधनं–मरणं गमिता ये अरातिवीराः–शत्रुसुभटाः कुम्भकर्णादयस्तेषामतिरेकेण आधिक्येन क्रीडन्त्यः–सर्वतः स्वच्छन्दं प्रसरन्त्यो याः कीलालकुल्याः–रुधिरस्य कृत्रिमाः सरितः तासां आवलयः–श्रेण्यस्तास्ताभिः । ततः किमित्याह – हे देव ! तेन स्यन्देन भुजगजगद्भर्तुः–पाताललोकस्वामिनः शेषस्य मूर्ध्नि रत्नद्युतिततिमिषतः फणारत्नकान्तिच्छलेन शोणभावः–रक्तिमा शोभते–शोभां जनयति । भुजगानां जगत् भुजगजगत् पातालं तस्य भर्ता–पातालेशः–शेष इत्यर्थः, तस्य सहस्रफण-त्वात् रत्नानां द्युतिततिः–कान्त्यावलिस्तस्या मिषं–व्याजः तस्मात्, 'पञ्चम्या-स्तसिल्' । किम्भूतस्य शेषस्य ? एनामन्वादिष्टामुर्वीं आभर्तुः समन्ताद् धारयितुः स्वाभाविके फणिमणिरक्तमणेः कवे[1]रियमुत्प्रेक्षा । यद्रावणकुम्भ-कर्णादिरुधिरस्रावबाहुल्येन सिक्तः किं शेषनागः इति ।।११।।

(गुण०)—त्वत्प्रारब्धेति । हे दम्भोलिस्तम्भभास्वद्भुज ! दम्भोलिस्तम्भः–वज्रस्तम्भस्त द्वद् भास्वन्तौ–देदीप्यमानौ भुजौ बाहू यस्य स तस्य सम्बोधने[2] हे दम्भोलिस्तम्भभास्वद्भुज ! यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धात् येन कारणेन उर्वी भूमिः आकन्दं–कन्दं आ मर्यादीकृत्य आकन्दं त्वत्प्रारब्धप्रचण्डप्रधननिधनितारातिवीरातिरेकक्रीडत्कीलालकुल्यावलिभिः त्वया रामेण प्रारब्धं प्रचण्डं–रौद्रं यत्प्रधनं–संग्रामस्तेन निधनिताः–विनाशं प्राप्ता ये अरातिवीराः–वैरिसुभटा-स्तेभ्यः अतिरेकेण–आधिक्येन क्रीडन्ती–खेलन्ती या कीलालकुल्या रुधिरनदी तस्यां या आवलयः–श्रेणयस्ताभिः स्यन्दं–स्रवणं क्षरणमित्यर्थः अलभत–प्राप । को भावः ? यदा त्वया वैरिणो हतास्तदा तेषां रुधिरं भूमितले गतमित्यर्थः । तेन कारणेन भुजगजगद्भर्त्तुः भुजग जगतः–पाताललोकस्य भर्त्ता–स्वामी शेषस्तस्य मूर्ध्नि–मस्तके रत्नद्युतिततिमिषतः शेषाहि-शिरःस्थितं कान्तिमणिसमूहच्छलेन अयं शोणभावः शोणत्वं–रक्तत्वमित्यर्थः, स शोभते । रक्तत्वमेव रत्नानामिति 'सामान्यतोपि रत्नानां रक्तत्वमेव वर्ण्यते', इति काव्यकल्पलतायाम् । अत्र[3] निसर्गत एव तच्छिरोरत्नस्य रक्तत्वे वर्त्तमानेऽपि कविभिरुत्प्रेक्ष्यते—किं[4] रामहतवैरि-रुधिरसम्पर्कादिव मणे रक्तत्वमस्तीति भावः । किंविशिष्टस्यैनां पृथ्वीं आभर्त्तुः–आ समन्ता-द्धारकस्य ।।११।।

१. ब. फणिमणिरक्तमणिकवेः । २. हं० सम्बोधनं क्रियते । ३. हं० 'उरत्र' नास्ति । ४. हं० रामाहत० ।

देव ! त्वद्विजये तुरङ्गमखुरव्रातक्षतक्ष्मातल-
प्रोद्भूते रजसः परागपटले दिक्चक्रमाक्रामति ।
अक्ष्णां पङ्क्तिशतानि निन्दति निजां हस्तद्वयं निन्दति,
स्वां निन्दत्यनिमेषतां परिपतद्बाष्पाम्बुधारो हरिः ॥१२॥

(कीका०) — देवे इति[1] । शार्दूलविक्रीडितम् । हे देव ! परानन्दतया क्रीडमान त्वद्विजये तव दिग्विजयादिप्रारम्भे तुरङ्गमखुरव्रातक्षतक्ष्मातलप्रोद्भूते रजसः परागपटले दिक्चक्रमाक्रामति सति हरिः—शतक्रतुः अक्षणां—नेत्राणां पङ्क्ति[2] शतानि दशशतानि निन्दति । रजसा नेत्रसहस्रपीडचमाने[3] ममैतावन्ति बहुलानि नयनानि कथं जातानीति देवेन्द्रो निजमनसि दूयत इति भावः । तव विजयः—त्वद्विजयस्तस्मिन् खुराणां व्राताः—समूहाः खुरव्राताः, त्वरया गच्छन्तीति तुरङ्गमाः—अश्वाः[4]तुरङ्गमाणां खुरव्राताः तुरङ्गमखुरव्राताः तैः क्षतं—उद्धतं यत्क्ष्मातलं—भूभागः तस्मात्प्रकर्षेण उद्भूतं—उत्पन्नं तस्मिन् । 'रेणुर्द्वयोः स्त्रियां धूलिः पांसुर्ना न द्वयो रजः' इत्यमरः । तस्य रजसः—परागाः सूक्ष्मावयवास्तेषां पटलं पुञ्जस्तस्मिन्, दिशां चक्रं दिक्चक्रं आक्रामतीत्याक्रामन् तस्मिन् । 'क्रमः परस्मैपदेषु' इति दीर्घः । पंक्तिः—दशपर्यायः दशाक्षरपादसद्भावात् । तथा स एवेन्द्रो निजां हस्तद्वयीं निन्दति, यदि मम लोचनबाहुल्यं तर्हि हस्तद्वयमेव किं जातम् ? तेन सहस्रलोचनानां पिधातुमशक्यत्वात् । अपरं स्वां—स्वकीयामनिमेषतां निमेषोन्मेषराहित्यमपि परं निन्दति, यदि द्वावेव हस्तौ सृष्टौ तर्हि ममानिमेषता किमर्था ? यया नेत्रनिमीलनमपि अवरुद्धम् । किम्भूतः शक्रः ? परिपतद्बाष्पाम्बुधारः सूक्ष्मरेणुप्रवेशेन परिपतन्त्यः—सर्वतो विगलन्त्यो बाष्पाम्बुधाराः—अश्रूदबिन्दवो यस्य स तथा ॥१२॥

(गुण०)—देव त्वद्विजयेति । हे देव ! त्वद्विजये—तव विजयो दिग्यात्रायां प्रवर्तनं तस्मिन्, तुरङ्गमखुरव्रातक्षतक्ष्मातलप्रोद्भूते तुरङ्गमाणां—अश्वानां खुरव्रातैः—खुरसमूहैः क्षतं—क्षुण्णं यत् क्ष्मातलं—भूतलं तस्मात् प्रोद्भूते—सम्भूते रजसः—धूलेः परागपटले परागस्तदंशस्तस्य समूहे दिक्चक्रं आक्रामति सति, हरिः—इन्द्रः अक्ष्णां पंक्तिशतानि निन्दति । यथा चैतावद्रजः समुच्छलितं येन तस्य सहस्रसंख्याकान्यपि नेत्राणि तिरोहितानि, तेन यदि मम नेत्रसहस्रं नाभविष्यत्तदा रजोनिकरस्तत्र नापतिष्यत्, अतो नेत्रपंक्तिशतानि किमर्थं बभूवुरिति निन्दति । तथा हरिर्निजां हस्तद्वयीं—पाणियुगं निन्दति, यतो मम सहस्रसंख्याकानां

---

१. ब. देवेति । २. ब. पंक्तिशतानि । ३. ब. पीडचमाने सति । ४. अ. 'तुरंगमा अश्वा' नास्ति ।

नेत्राणां तिरोधानाय यदि करसहस्रमभविष्यत्तदा हस्तैः प्रतिनेत्राच्छादनं कर्त्तुमशक्यं अतो मम पाणिद्वयमेव किमिति जातमिति निन्दति । तथा हरिः स्वां–निजां अनिमेषतां चक्षुषां निमीलनाभावत्वं निन्दति, येनेयमनिमेषता[1] मया किमिति प्राप्ता, यस्यां सत्यां[2] चक्षुषां रजः पटलाक्रान्तत्वमभूत्, यदि नयनेष्वनिमेषता नाभविष्यत्तदा रजःपातोऽपि नाभविष्यन्निमीलितत्वात् अतः स्वामनिमेषतामपि निन्दतीति । किं विशिष्टो हरिः ? परिपतद्बाष्पाम्बुधारः रेणुप्रवेशात् परिपतन्ती–निर्गच्छन्ती नेत्रेभ्यः बाष्पाम्बुधारा–अश्रुजलप्रवाहो यस्य सः परिपतद्बाष्पाम्बुधारः ॥१२॥

प्रौढिं धत्तां कलासु प्रथयतु कुमुदं सत्पथे सञ्चरेद्वा,
नेत्रानन्दं विधत्तामवतु च विबुधानस्तु राजा तथापि ।
दोषान्वेषी कलङ्की सहजजडतनुः सक्षयः पक्षपाती,
नक्षत्रेशः कथं वा कलयतु तुलनां रामचन्द्रेण चन्द्रः ॥१३॥

(टीका०)—प्रौढिं धत्तामिति । स्रग्धरा । चन्द्रः यद्यपि कलासु स्वावयवभूतासु प्रौढिं–पुष्टिं धत्तां–धारयतु नाम, अनादरे लोट् । कलाः–शिल्पचातुर्यमिति श्लेषो रामपक्षे । अपरं कुमुदं प्रथयतु–कैरवं विकासयतु । अथ कोः–पृथिव्या मुदं–हर्षमिति रामपक्षे श्लेषः । चाथवा[3] सत्पथे आकाशे सञ्चरेत्–सञ्चरतु । लिङ्लोटोरेकार्थत्वात् । सतां–सिद्धविशेषाणां पन्थाः–सत्पथः तस्मिन् । 'ऋक्पूरब्धूः पथां' इति टच्, समासान्तः । सत्पथे सन्मार्गे इति श्लेषः । तथा नेत्रानन्दं–नयनप्रमोदं विधत्तां–करोतु नाम । अथ रामोऽपि नेतुरुपदेष्टुर्वशिष्ठादेरवलेशकरत्वेन आनन्दं–हर्षं विधत्त इति श्लेषः । अयं चन्द्रो विबुधान् देवान् अवतु–सुधादानेन प्रीणयतु । श्लेषे तु विबुधाः–पण्डिताः स्वयं राजा राजशब्दवाच्योऽप्यस्तु 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा' इति श्रुतेः । श्लेषे तु 'राजृ दीप्तौ' राजते सर्वेष्विति राजा । यद्यप्येवंविधगुणगणसम्पूर्णो भवतु तथापि रामचन्द्रेण सह तुलनां–साम्यं, कथं वा कलयतु, किमिति धत्तां, वाशब्दः कटाक्षे, वैषम्यातिशयान्न कथमपीति भावः । तदेव वैषम्यमाविष्कर्तुं चन्द्रं विशिनष्टि—दोषान्वेषीति, निशापेक्ष इत्यर्थः । रामस्तु न दोषमात्रमपेक्षते । अतो दोषसापेक्षनिरस्तदोषयोः साम्यं दूराऽपास्तमिति भावः, एवमुत्तरत्रापि दिक् । चन्द्रः कलङ्कीसलाञ्छनः, रामो निष्कलङ्क इति न साम्यम् । चन्द्रः सहजजडतनुः–स्वभावात् सजलवपुः, डलयोरभेदविवक्षया, रामस्तु न कदाचिदपि[4] जडतनुः चिद्घनत्वात् 'विज्ञानघन एव' इति श्रुतेः । चन्द्रः सक्षयः–क्षीणो भवति, रामस्तु सदैवोपचितः

१. हं० अनिमेषतां । २. हं० सत्यः । ३. ब. वाथवा । ४. ब. कदापि ।

पूर्णत्वात् 'स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयान्' इति श्रुतेः। अथ चन्द्रः पक्षपाती–पक्षे पक्षे पतनशीलः, रामस्तु न कस्यापि पक्षपातं भजते। चन्द्रस्तु नक्षत्राणां–ताराणामीशः, अथ च न कदाचिन्न[1] क्षत्रेशः–क्षत्रियाणा–मीश्वरः 'ब्राह्मणराजन्वब्रूवोदाहृतमन्त्रवर्णेभ्यः' रामस्तु क्षत्रेश इति। मुखाद्युपमाने जगदाह्लादकत्वादौ च चन्द्रेण सह तव साम्ये कैश्चिदङ्गीक्रियमाणेऽपि चन्द्रे उपन्यस्तानेकदोषेभ्यो न साम्यलेशोऽपीति भावः ।।१३।।

(गुण०)—प्रौढिं धत्तां कलास्विति। रामचन्द्रेण सार्द्धं चन्द्रस्तुलनां–साम्यं कथं वा कलयतु–कथं वा प्राप्नोतु ? न कथमपीत्यर्थः। यतो यद्यपि रामचन्द्रेण समं चन्द्रः प्रौढिं–प्रागल्भ्यं कलासु धत्तां–बिभर्तु, यथा रामः कलासु-विज्ञानेषु प्रौढिं–सर्वकृत्यप्रगल्भतां[2] धत्ते तथाऽयमपि धत्ताम्। तथा रामचन्द्रवच्चन्द्रः कुमुदं–कैरवं प्रथयतु–विकासयतु, यथा रामचन्द्रः कुमुदं–पृथ्वीहर्षं प्रथयति तथाऽयमपि कुमुदं प्रथयतु। तथा रामचन्द्रवच्चन्द्रः सत्पथे सतां मनुष्याद्यपेक्षया प्रधानानामर्थाद्देवानां पन्थाः सत्पथः 'ऋक्पूरब्धूः पथामनक्षे' इति अप्रत्ययस्तस्मिन्नाकाशे सञ्चरेद् विचरतु, वा–अथवेति, यथा रामचन्द्रः सत्पथे–सतां मार्गे सञ्चरेत्तथाऽयमपि [3]सञ्चरतु। 'निमन्त्रणे लिङ् लोटौ'। 'सायं प्रत्युद्व्रजेदपि' इति कालिदा-सप्रयोगवत्[3]। तथा रामचन्द्रवच्चन्द्रः नेत्रानन्दं–नयनानन्दं विधत्तां–कुरुतां, रामचन्द्रो नेतॄणां–रक्षकाणामाह्लादं कुरुते, यद्वा[4] नेत्राणां–लोकलोचनानामानन्दं कुरुते तथाऽयमपि नेत्रानन्दं विधत्ताम्। तथा रामचन्द्रवच्चन्द्रः विबुधान्–देवान् अवतु–रक्षतु, यथा रामचन्द्रो विबुधान् पण्डितान् रक्षति तथाऽयमप्यवतु। तथा रामचन्द्रवच्चन्द्रो राजास्तु '[5]राजृ दीप्तौ' राजते सर्वेष्विति राजा[5]। यतश्चन्द्रस्याप्यभिधानं, राजा नृपतेरप्यभिधानं, राजेत्यतश्चन्द्रोऽपि राजाऽस्तु [6]यद्येवं गुणपूर्णो भवतु[6], तथापि रामचन्द्रसाम्यं कुतश्चन्द्रो लभेत ? यतश्चन्द्रो दोषान्वेषी दोषां–रात्रिं स्वोदयाश्रयत्वेन अन्वेषत इत्येवंशीलो दोषान्वेषी, अत्र ताच्छील्ये णिनिः, रामचन्द्रस्तु न दोषान्वेषी न दोषान् परगतान् अन्वेषत इति भावः। तथा चन्द्रः कलङ्की- कलङ्को लक्ष्म सोऽस्यास्तीति कलङ्की, अयं रामचन्द्रस्तु न कलङ्की–न कलङ्कवान्। तथा चन्द्रः सहजजडतनुः सहजेन–निसर्गेण जलरूपाऽमृतमयत्वात् तनुर्यस्य स, डलयोरैक्यमिति वचनात्। रामचन्द्रस्तु न सहजजडतनुः सहजेन जडाः–मूर्खा तनुर्यस्येतीदृग्विधो न, समस्त-ज्ञानाधारशरीरधरत्वात्। तथा चन्द्रः सक्षयः–क्षययुक्तः कृष्णपक्षे प्रतिदिनं तदेकैककलाक्षयात्, रामचन्द्रस्तु न सक्षयः सर्वदा वृद्धिमत्वात्। तथा चन्द्रः पक्षपाती पक्षे–कृष्णपक्षे पततीत्ये-वंशीलः पक्षपाती, रामचन्द्रस्तु न पक्षपाती–न गृहीतपक्षहननशीलः। तथा चन्द्रः नक्षत्रेशः नक्षत्राणामीशो नक्षत्रेशः रामचन्द्रस्तु न न क्षत्रेशः क्षत्राणां–राज्ञां ईशः–स्वामी क्षत्रेशः 'द्वौ नञौ प्रकृतार्थं बोधयत' इति वचनात्, क्षत्रेशो न न इति क्षत्रेशः इत्यर्थः। ततश्चन्द्रो रामचन्द्रेण समः कथं भवेदिति ।।१३।।

---

१. ब. कदाचित् २. हं० प्रगल्भ्यतां। ३–३. हं० नास्ति। ४. हं० यथा। ५–५. हं० नास्ति। ६–६. हं० नास्ति पाठः।

त्वं चेत् कल्पतरुर्वयं सुमनसस्त्वं चेत् सुधात्मा कलाः,
सम्पूर्णा वयमीश्वरो यदि भवान् स्वच्छा विभूतिर्वयम् ।
सम्पूर्णः कमलाकरो यदि भवान् श्रीराजहंसा वयं,
स्वामिंस्त्वं शृणु रामचन्द्रनृपते ! किं किं न तेऽङ्गं वयम् ॥१४॥

(कीका०) - त्वं चेदिति । शार्दूलविक्रीडितद्वयम् । प्रक्षिप्तमपि व्याख्यायते । हे राम ! चेत् यदि त्वं कल्पतरुः–अभीष्टदातृत्वेन कल्पवृक्षभावनोऽसि तर्हि वयं भक्तत्वेन सुमनसः–त्वदंशभूतानि पुष्पाणि त्वदुपजीवकाः सुमनसो देवा वा । त्वं चेत् सुधात्मा–अमृतमण्डलश्चन्द्रोऽसि 'विश्वाह्लादकत्वात् तदा वयं सम्पूर्णाः कलाः तथैवावयवा इत्यर्थः । यथा'ऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिंगाः' इति श्रुतेः । यदि भवानीश्वरः–कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थत्वात् सृष्ट्यादिकर्ता भवति[1] तदा वयं स्वच्छाविभूतिः 'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः' इत्याद्युक्तप्रकारेण स्वच्छविभूतित्वम् । 'पादोऽस्य सर्वभूतानि' इति स्मृतेः[2] । 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' इति स्मृतेश्च । अथ च यदि भवान् सम्पूर्णः कमलाकरः–मानसादिसकमलसरोभावनोऽसि स्वच्छत्वात् पूर्णत्वात् सर्वफलदातृत्वेन सर्वोपजीव्यत्वाच्च तदानीं हे राम ! वयं हनूमदादयः श्रीराजहंसाः सर्वथा त्वत्सन्निधानापरित्यागिन इत्यर्थः । 'राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणैर्लोहितैः सिता' इत्यमरः । हे रामचन्द्र ! रमणाह्लादहेतो नृपते[3] सर्वेषां नराणां पालक त्वं शृणु–सावधानतयाऽस्मदुक्तिमङ्गीकुरु, यत्ते–तव वयं किं किं अङ्गं न स्याम अपि तु विश्वात्मनस्तव तत्तद्व्यूहोचितसर्वाङ्गरूपा अपि भवेमेति सम्भावने लिङ् । सम्भावनं च शास्त्रे स्मर्यते—

'यं यं चापि स्मरन् भावं ··· त्यते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय ! सदा तद्भावभावितः ॥

इति ॥१४॥

(गुण०)—त्वं चेत्कल्पतरुर्वेति । हे रामचन्द्रनृपते ! स्वामिन् ! त्वं शृणु, वयं ते–तव किं किं न अङ्गं–न अवयवः, अथ तदेवाह—हे स्वामिन् ? चेत् यदि त्वं रामः कल्पतरुः–कल्पवृक्षस्तर्हि वयं सुमनसः–पुष्पाणि, कल्पतरोरवयवभूतत्वात् सुमनसाम् । तथा हे राम ! चेत् यदि त्वं सुधात्मा चन्द्रः तर्हि वयं कलाः, सम्पूर्णाश्चन्द्रस्यावयवभूतत्वात् कलानां । तथा

---

१. ब. भवसि । २. ब. श्रुतेः । ३. ब. हे नृपते ।

भवान्-त्वं रामो यदीश्वरः शम्भुस्तदा वयं स्वच्छा–निर्मला विभूतिः–भस्म, ईश्वराङ्गाऽवयव भूतत्वात् भस्मनः । तथा भवान्-त्वं यदि सम्पूर्णकमलाकरः पद्माकरः तर्हि वयं श्रीराजहंसाः, यतः कमलाकरस्य राजहंसा अवयवभूता इत्यङ्गत्वमस्माकं यथा तथा जायत इत्यर्थः ॥१४॥

यो जम्भं जितवान् स येन विजितो देवः सुरग्रामणीः,
ज्याबद्धं विदधे निशाचरपतिं तं कार्त्तवीर्योऽर्जुनः ।
तद्दोःखण्डदवानलो भृगुपतिर्निर्जित्य तं च त्वया,
मालेयं जयसम्पदां विरचिता तस्मात् त्वमग्रेसरी ॥१५॥

(कीका०)—यो जम्भमिति । यः इन्द्रः जम्भं नाम महाऽसुरं जितवान्—वशीचक्रे स सुरग्रामणीः–सुरश्रेष्ठः इन्द्रो देवो येन रावणेन जितः–वशीकृतः, तमपि निशाचरपतिं–रावणं कार्त्तवीर्योऽर्जुनो हैहयः ज्याबद्धं विदधे–धनुःकोटिनद्धं चकार, भृगुपतिः–परशुरामश्च तद्दोःखण्डदवानलः सहस्रबाहुत्वात् तस्यार्जुनस्य दोष्णां–हस्तानां खण्डं–वनैकदेशस्तत्र दावानल इव दावानलः करसमूहापनयनकर्ता बभूवेति शेषः । हे राम ! त्वया तं परशुरामं निर्जित्य–धनुर्भङ्गच्छलेन वशीकृत्य जयसम्पदां–विजयसमृद्धीनामियं पूर्वोक्ता माला विरचिता–विजयस्रग्गुम्फितेत्यर्थः । तस्माद्धेतोस्त्वमग्रेसरी–सर्वसुभटानां प्रधानभूतः । एकेन भृगुपतिना जितेन सर्वेप्येते पूर्वोक्ता जिता एवेति भावः ॥१५॥

(गुण०)—यो जम्भं जितवात् स येन विजितो देवः स्विति । यो वज्री-शक्रो जम्भं दैत्यं जितवान् स जम्भजित्–इन्द्रः देवः सुरग्रामणीः–देवमुख्यो येन रावणेन विजितः तं निशाचरपतिं–रावणं, कार्त्तवीर्योऽर्जुनः ज्याबद्धं विदधे–गुणगणनिबद्धं चक्रे । यद्यपि पार्थोऽप्यर्जुनोऽस्ति परमत्र कार्त्तवीर्याख्योऽर्जुनो ग्राह्यः । तथा तद्दोःखण्डदवानलः तस्य कार्त्तवीर्यस्य दोः खण्डं दोषां–बाहूनां खण्डं–वनं दोःखण्डं तस्य सहस्रभुजत्वात् तस्मिन् दावानल इव दावः–अग्निरिव यः स, इत्यनेन कार्त्तवीर्यहन्ता भृगुपतिः–पर्शुरामो जातस्तं पर्शुरामं निर्जित्य त्वया–रामेण इयं जयसम्पदां–जयश्रियां माला–श्रेणिर्विरचिता–निर्ममे । तस्माज्जेतॄणां जेतृकत्वेन त्वमेवाग्रेसरी–मुख्यो नान्यः । अयमर्थः—एकस्मिन् भृगुपतौ जिते सर्वेऽपि त्वयैव जिताः न तु तव जेता न कश्चिदस्तीति भावः ॥१५॥

देवाधिपो वा भुजगाधिपो वा, नराधिपो वा यदि हैहयः स्याम् ।
संदर्शनं ते गुणकीर्त्तनं ते, सेवाञ्जलिं ते तदहं विदध्याम् ॥१६॥

(कीका०)—देवाधिपो वेति । छन्दोविशेषः, सर्वत्र पिङ्गलादेरुन्नेतव्यः । हे राम ! यद्यहं देवाधिपः–सहस्राक्षः स्यां–भवेयं तर्हि तव संदर्शनं–सम्यगव-

लोकनं विदध्यां—करवाणि । नेत्रबाहुल्ये सति तवावलोकनादरः कदाचित्पूर्येत भक्त्यतिशयं सूचयति, वस्तुतस्तु नास्य नेत्रकरणकं दर्शनं सम्भवति अतीन्द्रियत्वात् । तथा च श्रुतिः—'न चक्षुषा गृह्यतेऽसौ' इति । 'यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह' इति च ।

ननु आत्मा द्रष्टव्य इति दर्शनविषयापादनं कथमिति चेत् ? गुरूपदेशशास्त्रसंस्कृतेन मनसैवेति ब्रूमः । अत एव श्रुतम्—'मनसैवानुद्रष्टव्यं' एतदिति 'मानसेन प्रदीपेन महानात्मा प्रकाशत' इति च । तस्मात् अप्राप्यमनसा सहेत्यसंस्कृतमनोविषयं निश्शेषशास्त्रमित्यलम् । तथा यद्यहं भुजगाधिपः शेषनागरूपतया द्विसहस्रीसंख्याकजिह्वः स्यां तर्हि तव गुणकीर्त्तनं कुर्याम्, एकया तु जिह्वया किं त्वद्गुणसंकीर्तनं करोमीति भावः । तथा यद्यहं हैहयः—सहस्रबाहूपलक्षितः सहस्रार्जुनो नाम नराधिपः स्यां तत्तदा तव सेवाञ्जलिं कुर्यां, भुजगद्वयमात्रेणैकस्मिन्प्रणामाञ्जलौ क्रियमाणे का नाम मे तुष्टिरिति भावः ।।१६।।

(गुण०)—देवाधिपो वेति । हे राम ! यद्यहं देवाधिपः—पुरन्दरः स्यां—भवेयं, तदा इन्द्रवच्चक्षुःसहस्रेण ते—तव संदर्शनं सम्यगवलोकनं विदध्यां—कुर्यां । प्रति प्रतीकं त्वद्वपुषि लावण्यातिशयान्नयनयुगेन त्वद्दर्शनस्य कर्त्तुमशक्यत्वादिति भावः । तथा हे राम ! वा—अथवा भुजगाधिपः—शेषनागः स्यां, तदा तद्वद् जिह्वासहस्रेण तव गुणकीर्तनं विदध्यां, त्वद्गुणानामानन्त्यादेकया रसनया त्वद्गुणस्तुतेरपर्याप्तेरिति[1] । तथा वा—अथवा यद्यहं हैहयो नराधिपः कार्त्तवीर्यः स्यां तदा हैहयनृपवत् हस्तसहस्रेण ते—तव सेवाञ्जलिं सेवार्थमञ्जलिः सेवाञ्जलिस्तमहं विदध्यां—कुर्यां, भुजद्वयेन प्रणामाञ्जलौ कथं मे सन्तुष्टिरिति भावः ।।१६।।

भीमं यज्जलधिं जवेन हनुमान्नुल्लङ्घ्य लङ्कां गतो,
यच्चाशोकमहावनं दलितवानक्षं च यत्क्षुण्णवान् ।
सीतोपायनमौलिरत्नसहितः प्राप्तश्च यस्त्वामसौ,
तत्राप्येष भवत्प्रतापमहिमा निर्यन्त्रणः कारणम् ।।१७।।

(कीका०)—भीममिति । स्वगमिति[2] । स्वगर्वं परिहरन् स्तौति—हे राम! हनुमान्—चापल्येनाऽऽसादितहनुभङ्गोपलक्षितो मल्लक्षणः कपिः जवेन—वेगेन भीमं—रौद्रं शतयोजनविस्तीर्णं जलधिं—समुद्रमुल्लंघ्य—उत्कृष्टतया लंघित्वा

१. हं० पंक्तिरियं नास्ति । २. ब. नास्ति ।

राक्षसाद्यन्तरायप्रतीघातेन तीर्त्वेत्यर्थः । एवं कृत्वा यल्लङ्कां गतः–रावणपुरीं प्राप्तः, यच्चाशोकमहावनं दलितवान्–बभञ्ज, तथा अक्षं–रावणकुमारं यत्क्षुण्णवान्–संचूर्णयामास । 'क्षुदि संचूर्णने' हि धातुः । तु–पुनरसौ सीतोपायनमौलिरत्नसहितः सन् त्वां प्राप्तो यत् तत्र सर्वत्रापि हे स्वामिन् ! निर्यन्त्रणः–अस्खलितो भवत्प्रतापमहिमाकारणं, यन्त्रणा–अर्गला तस्या निर्गतो निर्यन्त्रणः, 'अत्यादयः क्रान्त्याद्यर्थे' इति समासः । समुद्रोल्लंघनादि सर्वं त्वत्प्रतापमहिम्ना सिद्धमिति भावः ।।१७।।

(गुण०)—भीमं यज्जलधिमिति । हे राम ! यद्धनुमान् भीमं–रौद्रं जलनिधिं शतयोजनविस्तीर्णं[1] जवेन–वेगेन उल्लंघ्य–अतिक्रम्य लंकां गतः–प्राप्तः, तथा यच्च हनुमान् अशोकमहावनं लङ्कायाः दलितवान्–बभञ्ज, तथा यद् हनुमान् अक्षं–रावणाङ्गजं रावणि महाबलवन्तं क्षुण्णवान्–मारितवान्, तथा यश्चासौ हनुमान् सीतोपायनमौलिरत्नसहितः सीताया उपायनत्वेन–ढौकनिकत्वेन यन्मौलिरत्नं–चूडारत्नं तेन सहितस्त्वां रामं प्राप्तः, यतो हनुमते सीताशुद्धयै गच्छते रामेण स्वमुद्रिका समर्पिता प्रत्यभिज्ञानाय सा च तेन सीतायै दत्ता, ततो व्यावर्त्तमानाय हनुमते सीतया स्वोपायनं चूडारत्नमभिज्ञानाय दत्तमिति भावः । तत्रापि समुद्राद्युल्लंघनेऽपि एषः अयं निर्यन्त्रणः–अस्खलितः भवत्प्रतापमहिमा भवतस्तव प्रतापमहिमा–प्रतापमहत्त्वं भवत्प्रतापमहिमाकारणं तद्व्यवस्थासम्पादक इति भावः ।।१७।।

धत्ते नायक ! राम ! तावकयशो रामे शशाङ्के मरु-
द्वाहे स्वर्गगजे हरे फणिपतौ वाण्यां वृषे भे रुचिम् ।
अन्येषां तु तदम्बरे तदहिते तद्व्यञ्जने तन्मदे,
तत्कण्ठे च तदीक्षणे तदलके तत्प्रोथके तत्पथे ।।१८।।

(कीका०)—धत्ते इति । नायकः–पुरुषविशेषः नयति प्रक्रान्तं निर्वहति इति व्युत्पत्तेः, हे नायक ! गुणविशिष्टराम ! तावकयशः–त्वदीयकीर्त्तिः एतेषु पदार्थेषु रुचिं–शोभां धत्ते–पुष्णाति । केषु इत्याकांक्षायामाह—रामे इति, स्फटिकगौरे बलभद्रे इत्यर्थः । तथा शशाङ्के–जगत्प्रकाशधवलिमनि चन्द्रमसि, मरुद्वाहे–देववाहने उच्चैःश्रवसि, स्वर्गगजे–ऐरावणे, हरे–श्रीशिव एव, शुद्धस्फटिकसंकाशमिति स्मरणात्, फणिपतौ–शेषनागे, वाण्यां–वागधिदेवतायां सरस्वत्यामेव 'या कुन्देन्दुतुषारहारधवले'ति स्मरणात्, वृषः–शिववाहः, भं–अश्विन्यादि सर्वतारकोपलक्षणमेतत् एतानि त्वद्यशसा शुभ्रीकृतानीत्यर्थः ।

---

१. हं० 'शतयोजनविस्तीर्णं' नास्ति ।

अन्येषां तु भिन्नोपक्रमार्थस्तु शब्दः 'तुः स्याद् भेदेऽवधारणे' इति त्रिकाण्डी-स्मरणात् । अन्येषां तव रिपूणां यशस्तु तदम्बरे तस्य बलभद्रस्याम्बरे—मेचकतया प्रसिद्धे वाससि अर्थात् कृष्णं यशो नामाऽपकीर्त्तिरेव । तदहिते—तस्य चन्द्रस्याहिते—रात्रौ तमोग्रहे राहौ इत्यर्थः । तद्व्यञ्जने तस्य मरुद्वाहस्य व्यञ्जके बालधौ श्वेताश्वपुच्छे हि श्यामबालः सौपर्णीकाद्रवोपाख्याने श्रूयते—'सा ह सुपर्ण्युवाचास्य सलिलस्य पारेश्वः श्वेतः स्थाणौ सेवते तमहं पश्यामीति, तमेव त्वं पश्यसीति, तं हीत्यथ, ह कद्रूरुवाच, तस्य वालोन्यषंजितममुं वातो धुनोति तमहं पश्यामीति ।' कनीनिकाख्ये प्रसिद्धे कृष्णबिन्दौ वा, तथाह्याश्वमेधिकाश्च लक्षणं प्रकृत्य श्रूयते—'अथ यत्कृन्तिकांजिः पुरस्तात् सा कनीनिका' इति । तन्मदे—श्यामतया प्रसिद्धे ऐरावणमदे इत्यर्थः । तत्कण्ठे—शिवगले कालकूटसम्पर्केण नीलत्वात्[1] तदीक्षणे—शेषाहिनयने विषेण श्यामत्वात् तदलके—तस्याः सरस्वत्याः केशसंचये, तत्प्रोथके—तस्य वृषभस्य नासाप्रदेशे, तत्पथे तेषां नक्षत्राणां पथि—मार्गे आकाशे इत्यर्थः । 'नीलं नभः' इति लोकप्रतीतेः[2] । एतानि त्वच्छत्रूणामयशसा श्यामीकृतानि, त्वद्यशसा तु सर्वं पूर्वोक्तं धवलीकृतमित्यर्थः ॥१८॥

(गुण०)—धत्ते नायकेति । हे नायक ! हे स्वामिन् ! हे राम ! तावकयशः तावकं-त्वदीयं यशस्तावकयशो रामे—बलभद्रे रुचिं—दीप्तिं[3] धत्ते । यतो यशसः श्वेतत्वाद् रामस्य च श्वेतत्वात्, अत इयं कल्पनेति । तथा शशाङ्के—चन्द्रे रुचिं धत्ते । तथा मरुद्वाहे—उच्चैःश्रवसि रुचिं धत्ते । तथा स्वर्गगजे—ऐरावणगजे[4] रुचिं धत्ते । तथा हरे—शम्भौ रुचिं धत्ते । तथा फणिपतौ—शेषे रुचिं धत्ते । तथा वाण्यां—सरस्वत्यां रुचिं धत्ते । तथा वृषे—अनडुहि रुचिं धत्ते, तस्याऽपि श्वेतत्वात् । तथा भे—नक्षत्रे रुचिं धत्ते । सर्वेषामप्येषां श्वेतत्वादिति । अथोक्तविपर्ययेणाह—अन्येषां त्वद्वैरिणां यशः तदम्बरे तस्य रामस्य अम्बरं—नीलं वस्त्रं तस्मिन् रुचिं धत्ते, [5]यतो वैरिणामकीर्त्तेः कृष्णत्वं अतस्तदम्बरे रुचिं धत्ते, इत्युक्ते । तथा तदहिते तस्य शशांकस्य अहितः—वैरी राहुस्तस्य कृष्णत्वादतस्तस्मिन् रुचिं धत्ते[5] । तथा तद्व्यञ्जने तस्य उच्चैःश्रवसः व्यञ्जनं—मषतिलकादि[6] तस्मिन्, यतोऽश्वस्य व्यञ्जनानि भ्रमरादीनि कृष्णानि सन्तीत्यतस्तत्र रुचिं धत्ते । तथा तस्य तन्मदे स्वर्गगजस्य यो मदस्तस्मिन् रुचिं धत्ते । तथा तत्कण्ठे तस्य हरस्य कण्ठस्तत्कण्ठस्तस्मिन्, यतः कालकूटभक्षणाच्छम्भोर्गलस्य कृष्णत्वमतस्तत्र रुचिं धत्ते । तथा तदीक्षणे तस्य शेषाहेः ईक्षणे—नेत्रे तदीक्षणे रुचिं धत्ते, यतः शेषाहेः नेत्रयोः कृष्णत्वादिति । तथा तदलके तस्या वाण्या अलके—केशे रुचिं धत्ते । तथा तस्य वृषस्य प्रोथके—नासापुटे श्वेतस्यापि वृषस्य नासिकायाः कृष्णत्वात् । तथा तत्पथे तस्य

---

१. ब. नीलकण्ठत्वात् । २. ब. लोकप्रीतेः । ३. शोभाप्रकर्षं । ४. हं० ऐरावणे । ५-५ हं० नास्ति पाठः । ६. हं० मषीतिलकादि ।

भस्य पन्था–मार्गस्तत्पथ आकाशस्तस्मिन् रुचिं धत्ते, आकाशेऽपि नीलत्वावलोकनात्। 'ऋक्पूरब्धूः पथामनक्षे' एषां अप्रत्ययः स्यात्, समासान्त इति। एतावता त्वद्यशसा सर्वं धवलितं परेषामयशसा श्यामलितमिति भावः ॥१८॥

पौलस्त्यस्यावमन्ता त्रिदशपतिसुतश्चक्रवर्ती कपीनां,
कर्त्ता सन्ध्यासमाधेर्जलनिधिषु चतुर्दिग्निकुञ्जाश्रितेषु।
किष्किन्धां राजधानीं भुजपरिघबलात् त्रायमाणस्त्वयाऽसौ,
बाली हेमाब्जमाली गुणनिधिरिषुणा निर्मितो दक्षिणस्याम्॥१९॥

(कीका०)—पौलस्त्यस्येति। हे राम! असौ बलोत्सेकप्रसिद्धो बालीनाम त्रिदशपतिसुतः–देवेन्द्रपुत्रः कपीनां चक्रवर्ती–सर्ववानराधिराजस्त्वया इषुणा–इत्येकेनैव बाणेन दक्षिणस्यां दिशि निर्मितो यमान्तिके स्थापितः–निधनं प्रापितः इत्यर्थः। 'अतिथिरि'ति पाठे यमस्याभ्यागतः कृत इत्यर्थः। किम्भूतो बाली? पौलस्त्यस्यावमन्ता–रावणस्य विजेता। परं कीदृशः? चतुर्दिग्निकुञ्जाश्रितेषु जलधिषु सन्ध्यासमाधेः कर्त्ता, चतस्रश्च ता दिशश्च तासां निकुञ्जानि–लतादिपिहितगह्वराणि तान्याश्रिताः 'द्वितीयाश्रिते'ति समासः। 'निकुञ्जो[1] वा क्लीवे लतादिपिहिते ह्वरे' इत्यमरः। बाली किल चतुर्षु समुद्रेषु सन्ध्याविधिं क्षिप्रगतितया यावज्जीवं विदध इति वाल्मीकीपादौ स्मर्यते। रात्रिदिवसयोः सन्धौ भवं कर्मसन्ध्यास्त्र्यधिकारात्स्त्रीत्वं। समाधिर्नाम चित्तैकाग्र्यजन्यः सुखविशेषानुभवः, तदेवार्थनिर्भासमात्रं वस्तुशून्यमिव समाधिं वदन्तीति स्मरणात्। पुनः किम्भूतः? भुजपरिघबलात् किष्किन्धां राजधानीं त्रायमाणः, भुजौ परिघाविवेति भुजपरिघौ 'उपमितं व्याघ्रादिभि'रिति समासः, तयोर्बलं तस्मात्, किष्किन्धा हि वानरनगरी प्रसिद्धा, राजा धीयते यस्यां सा राजधानी तां, 'अधिकरणे ल्युट्,' त्रायते पालयतीति त्रायमाणः, 'त्रैङ् पालने' दैवादिः, शानच्, आने मुक्। अपरं किम्भूतः? हेमाब्जमाली स हि सौवर्णीस्रजं दध्रे, गुणनिधिः गुणानां–शौर्यादीनां निधानम् ॥१९॥

(गुण०)—पौलस्त्येति। हे राम! असौ बाली–वानरस्त्वया इषुणा–बाणेन साधनभूतेन दक्षिणस्यां दिशि निर्मितः–स्थापितः[2] दक्षिणाशाधिपतेर्यमस्यातिथीकृतः,[3] मारित इत्यर्थः। यमगृहत्वाद्दक्षिणस्या इति। किंविशिष्टो बाली? पौलस्त्यस्य–रावणस्य अवमन्ता

---

१ ब. निकुञ्जकुञ्जौ। २. हं० 'स्थापितः' नास्ति। ३. हं० दक्षिणाशाधिपतेरतिथीकृतः।

अवगणयिता जेता[1]। पुनः किंविशिष्टः ? त्रिदशपतिसुतः त्रिदशपतेः–इन्द्रस्य सुतस्त्रिदशपतिसुतः। तथा पुनः किंविशिष्टः ? कपीनां–वानराणां चक्रवर्ती–सार्वभौमः। पुनः किंविशिष्टः ? जलनिधिषु–समुद्रेषु सन्ध्यासमाधेः–सन्ध्यावन्दनस्य कर्त्ता। किंविशिष्टेषु जलनिधिषु ? चतुर्दिग्निकुञ्जाश्रितेषु चत्वारो ये दिग्निकुञ्जाश्चतुर्दिग्निकुञ्जास्तेषु आश्रिताः चतुर्दिग्निकुञ्जाश्रितास्तेषु। तथा किष्किन्धां–किष्किन्धां नाम्नीं राजधानीं भुजपरिघबलात्–भुजार्गलापरिक्रमात्[2] त्रायमाणः–पालयन्। पुनः किंविशिष्टः ? हेमाब्जमाली हेमाब्जस्य–स्वर्णकमलाख्यस्य आभरणस्य माला कण्ठे अस्यास्तीति, शिखादित्वादिनिः[3]। अथवा हेमाब्जं मलते–धारयतीत्येवंशीलः हेमाब्जमाली, अत्र शीलार्थे णिनिः। पुनः कथम्भूतः ? गुणनिधिः गुणानां–शौर्यादीनां निधिः–निधानं गुणनिधिः ॥१९॥

जात्यन्धत्वमभिष्टुतं सपदि तैर्दत्तं जलं तैर्दृशो,
दृष्टिं सृष्टवतो विधेर्भगवतः क्लेशश्च तैर्भावितः।
येषां ताडयितुं स्थिते त्वयि जवान् मारीचमायामृगं,
द्राग् दैवादनुपेयुषां दिविषदां जाते वृथा चक्षुषी ॥२०॥

(कीका०)—जात्यन्धत्वमिति। तैर्वक्ष्यमाणैर्देवैः सपदि–तत्क्षणं जात्यन्धत्वमभिष्टुतं जात्यान्ध्यमथात्मन्यङ्गीकृतमित्यर्थः। तथा तैर्देवैः दृशोर्जलं दत्तं दाहाञ्जलिरूपजलदानेन नष्टप्रायतावधारितेत्यर्थः। अपरं दृष्टिं सृष्टवतो भगवतः–सर्वज्ञस्यापि विधेः क्लेश[4] एव तैः सम्भावितः। तेषां केषाम् ? येषां दिविषदां हे राम ! त्वयि जवान्मारीचमायामृगं ताडयितुं स्थिते–सज्जीभूते सति द्राक्–शीघ्रमनुपेयुषां तमुत्सवं द्रष्टुमनागतवतां चक्षुषी वृथा जाते निष्फलं[5] बभूवतुः। अयं भावः—यैर्देवैः मारीचवधमहोत्सवो दृष्टस्तैः स्वदृष्टिसृष्टिर्व्यर्थाऽवधारितेति ॥२०॥

(गुण०)—जात्यमिति। हे राम ! त्वयि जवात्–वेगान्मारीचमायामृगं मारीचेन–मारीचनाम्ना रावणमातुलेन निर्मितो यो मायामृगः–कपटकुरङ्गो मारीचमायामृगस्तं ताडयितुं–हन्तुं स्थिते–अवस्थिते सति येषां दिविषदां–देवानां चक्षुषी–नेत्रे वृथा जाते तैर्जात्यन्धत्वं–जन्मतः आन्ध्यं स्वस्य अभिष्टुतं–व्यावर्णितम्। यथा वयं चेज्जात्यन्धा अभविष्यामस्तदा चारु जातं–अभविष्यत्, [6]येनाऽस्माभिः पुरो गच्छन्नप्यसौ मायामृगो नेत्राभ्यां नादर्शीति। तथा तैर्देवैः सपदि शीघ्रं दृशोः–चक्षुषोः जलं दत्तं–जलाञ्जलिर्भिर्दत्तो दृष्टिभिः किं कार्यमित्यर्थः। तथा दृष्टिं सृष्टवतो जात्येकवचनाद् दृष्टीः–नेत्राणि निर्मितवतो विधेर्भगवत-

१. हं० 'जेता' नास्ति। २. हं० ०पराक्रमात्। ३. हं० 'शिखादित्वादिनिः' नास्ति। ४. ब. क्लेश क्लेश। ५. ब. निष्फले। ६. हं० यतो।

स्तैर्देवैः क्लेशश्च[1] भावितः। तथा च विधिनाऽस्माकं दृष्टिसृष्टिः किमिति चक्रे, येन श्रीरामचन्द्रस्य तदनुगमनक्लेशस्तं मायामृगमवलोक्य न वारित इति। किंविशिष्टानां देवानाम् ? द्राक्–शीघ्रं दैवादनुपेयुषां–अप्राप्तवतां मृगमिति शेषः। यदा रावणस्तन्मृगच्छलेनादाय सीतां गतस्तदा तत्र बहवोऽपि देवा आसन् परं केनाऽपि स मृगोऽदर्शीत्यतः सुरैः स्वनेत्रनिन्दा विधीयत इति। यद्वा[2], हे राम ! भद्र ! त्वया जवान्मारीचमायामृगं ताडयितुं स्थिते सज्जीभूते सति येषां दिविषदां द्राक्–शीघ्रमनुपेयुषां–अनागतानां चक्षुषी वृथा जाते तैर्जात्यन्धत्वमभिष्टुतमित्यादि पूर्ववत् पदानुयोजना विधेयेति ॥२०॥

श्रीरामे मृगयां गतेऽपि धनुषा बाणे समारोपिते-
ऽप्याकर्णान्तगतेऽथ मुष्टिगलितेऽप्येणांह्रिलग्नेऽपि[3] च।
न त्रस्तं न पलायितं न चकितं नोत्कम्पितं न द्रुतं,
मृगया मद्वशगं करोति दयितं कामोऽयमित्याशया ॥२१॥

(कीका०)—श्री रामे इति। श्रीः–शोभा तया युक्तो रामः श्रीरामः तस्मिन् कामसुन्दरे रघुनाथे मृगयां–आखेटकक्रियां गतेऽपि सति मृग्या–हिरण्या इति वक्ष्यमाणाशया न त्रस्तं–नोद्विविजे, 'त्रसि उद्वेगे' हि धातुः। ननु व्यसनविशेषत्वेन विगीतायां मृगयायां कथं तादृशविवेकिनः प्रवृत्तिरिति चेत् ? सर्वप्रवृत्तिष्वौदासीन्यख्यापनायैवेति ब्रूमः, न हि जनकादीनां प्रवृत्तिराधुनिकराजप्रवृत्तिसमाना कल्पयितुं शक्यते, ज्ञानोत्कर्षेण विशेषावगमात् ऐन्द्रजालिकवत्, यथा बह्वीं मायां प्रदर्शयन्नपि प्रेक्षकवन्नैन्द्रजालिकः कदाचिद् विस्मयते। न च राज्ञो मृगया निषिद्धास्ति, तमेवार्थं श्रीहर्षो दर्शयति—

"मृगया न विगीयते बुधैरपि धर्मागममर्मपारगैः।"

इति। प्रकृतं तु धनुषा सह बाणे समारोपिते–संहितेऽपि सति मृग्या न पलायितं। पलायनक्रियावत्या न जातमिति भावे क्तः सर्वत्र। तथा बाणे आकर्णान्तगतेऽपि–कर्णान्तमभिव्याप्यावस्थायिन्यपि न चकितं–न भीतं, भीतिजन्यो नेत्रविकारश्चकितमित्युच्यते, तद्वत्या न जातम्। अथ तदनु तस्मिन् बाणे मुष्टितः सकाशाद् गलितेऽपि मृग्या नोत्कम्पितं उत्कम्पः–त्रासजन्यो गात्रधूननविकारः। तथा तस्मिन् बाणे एणाङ्गलग्नेऽपि–स्वभर्तृभूतमृगशरीरसम्बद्धेऽपि सति मृग्या नो द्रुतं–नोत्प्लुत्य गतं। इतीति कीदृश्याशेति तामाह—प्रायः कामोऽयं दयितं–भर्तारं

---

१. हं० सपदि शीघ्रं दृशास्य श्वपुषो जलं क्लेशश्चेति पाठः। २. हं० यथा। ३. कीकामते तु—मुष्टिगलितेऽप्येणाङ्गलग्नेऽपि।

मद्वशगं—मदायत्तं करोति—सम्पादयति, कामवत्सुन्दरं रामं विलोक्य मृगी-विमुग्धेति भावः ।।२१।।

(गुण०)—श्रीरामे मृगयामिति । श्रीरामे मृगयां गतेऽपि—आखेटार्थं गतेऽपि तावताऽपि न सृतं धनुषा बाणे समारोपितेऽपि, एतावताऽपि न पर्याप्तं बाणे आकर्णान्तिगतेऽपि—कर्ण-पर्यन्तं प्राप्तेऽपि । अथ बाणे मुष्टिगलितेऽपि—स्वहस्तान्मुक्तेऽपि एणांह्रिलग्नेऽपि च—मृगचरण लग्नेऽपि च बाणे मृग्या[1]—हरिण्या अयं कामः दयितं—हरिणं मद्वशगं करोतीत्याशया रामच्छ-लात् कामोऽयं मम पतिं मृगं वशीकरोतीत्यभिप्रायेण न त्रस्तं—न त्रासः प्राप्तः, तथा न पला-यितं—न पलायनं चक्रे, तथा मृग्या न चकितं, तथा नोत्कम्पितं—न उच्चकम्पे, तथा[2] न द्रुतं—न गतं ततः स्थानादिति, 'द्रु गतौ' अथवा सप्तम्यन्तेषु मृगयां गते इत्यादिषु अंह्रि-लग्नेषु इत्येतदन्तेषु पञ्चसु पदेषु न त्रस्तमित्यादि पदपञ्चकं क्रमेण योज्यम् । अत्रायं भावः । यत्तया मृग्या इत्यवगतं यथाऽयं न रामः [3]किन्तु कामः, यच्च रामेण बाणेन हन्यते मत्पति-स्तत्रायं रामः[3] काम एव स्वबाणेन मद्भर्त्तारं विध्यतीति, अतः स्वयमेवायं मृगो मद्वशगो भविष्यतीति, अतो मम का भीतिरिति विमृश्य न त्रस्तमित्यादि ।।२१।।

कृत्वा छेदमपांनिधेर्गिरिवरैः संशोध्य लङ्काव्रणं,
शल्यं रावणलक्षणं त्रिजगतां कुक्षौ स्थितं दक्षिणे ।
यो मूलादुदमूलयल्लघुकरः पायात् स वो वैद्यराट्,
क्षिप्त्वा येन विभीषणौषधवरं पट्टाभिबन्ध कृतः ।।२२।।

(कीका०)—कृत्वेति । स वैद्यराट् रामो वः—युष्मान् पायात् । अध्या-त्मिक्या विद्यया गम्यन्त इति वैद्याः, हिरण्यगर्भादयस्तेषु राजत इति वैद्यराट् अध्यात्मविद्यानामिति[4] स्मरणात् । किम्भूतः ? लघुकरः—शीघ्रवेधी योऽयं वैद्यराट् गिरिवरैः—पर्वतश्रेष्ठैः अपांनिधेः—समुद्रस्य छेदं—सेतुना विच्छेदं कृत्वा लङ्काव्रणं संशोध्य त्रिजगतां दक्षिणे कुक्षौ स्थितं रावणलक्षणं शल्यं मूलादुद-मूलयत्—समूलमुन्मूलितवान् । अनन्तरं येन रामेण विभीषणौषधवरं क्षिप्त्वा पट्टाभिबन्धः कृतः—पट्टाभिषेकः सम्पादितः । अत्राप्यमुक्तिलेशः—यः किल वैद्यराट्—चिकित्सकश्रेष्ठः सोऽपि गिरिवरैः—पर्वतसारैः कालायसादिलोहविकारैः कृत्वा अपां निधेः—जलोदरादिरोगाक्रान्तजठरादेश्छेदं कृत्वा अलं—अत्यर्थे कात्रणं—कुत्सितव्रणं संशोध्य—संशोधनशीलः सन् रावयति—कष्टं शब्दाययति स रावणो

१. हं० 'मृग्या' नास्ति । २. हं० 'तथा' नास्ति । ३-३. हं० पंक्तिरियं नास्ति । ४. ब. अध्यात्मविद्याविद्यानामिति ।

रोगस्तं लक्षयति—सम्पादयतीति, रावणलक्षणं शल्यं शरादिगतं त्रिजगतां—विश्वेषां जीवानां पवनसञ्चारस्थले दक्षिणे कुक्षौ स्थितं मूलादुन्मूलयति, अत एव लघुकर-स्तत्कर्मणि हस्तलाघववान्, तदनु विशेषेण रोगं भीषयतीति विभीषणं, तादृशं श्रेष्ठमौषधं तत्र क्षिप्त्वा तेनाऽपि पट्टस्य—चेलस्याभिबन्धः—आभिमुख्येन बन्धनं क्रियत इति ।।२२।।

(गुण०)—कृत्वेति । स वैद्यराट्–रामः वः–युष्मान् पायात्–रक्षतु । स इति कः ? यः वैद्यराट् रामः लघुकरः–शीघ्रवेधी सन् अपां निधेः–समुद्रस्य गिरिवरैः–कुलाचलैः छेदं कृत्वा, तथा लङ्काव्रणं लङ्केव व्रणं लङ्काव्रणं संशोध्यान्तर्गतरक्षोरूपपूतिरुधिराद्यपनीय, त्रिजगतां दक्षिणे कुक्षौ स्थितं रावणलक्षणं शल्यं रावणस्य दक्षिणस्यां दिश्यवस्थानात्, अतस्तच्छल्यं मूलादुदमूलयत्–उन्मूलितवान् निःकासितवान् इत्यर्थः । शल्योन्मूलनं विधाय च येन वैद्यराजा रामेण विभीषण एव औषधवरः विभीषणौषधवरस्तं क्षिप्त्वा यत्र शल्योद्धारः कृतो भवति, तत्र च स्थानाशून्यार्थं औषधमन्तर्निक्षिप्यते, अतस्तं क्षिप्त्वोपरि पट्टाभिबन्धः कृतः रावणस्य स्थाने विभीषणस्य पट्टाभिषेकः कृत इत्यर्थः । अन्योऽपि लघुकरः–लघुहस्तो वैद्यराट् प्राक् गिरिवरैः–गिरिसारैर्लोहविशेषैर्व्रणच्छेदं कृत्वा पश्चाद् व्रणं शोधयति, ततो दक्षिणे कुक्षौ कालखञ्जलक्षणे स्थितं रावणलक्षणं रावयतीति रावणं तल्लक्षणं शल्यं शरफलकादि निःकास-यति, ततोऽपि तत्रौषधं क्षिपति, पश्चात्तत्र पट्टाभिबन्धमपि विधत्ते तथायमपीति भावः ।।२२।।

देव ! त्वामसमानदाननिहितैरर्थैः कृतार्थीकृत-
त्रैलोक्यं फलभारभंगुरशिराः कल्पद्रुमो निन्दति ।
टङ्कच्छेदनवेदनाविरमणात् सञ्जातसौख्यस्थितिः,
प्राचीनव्रणिताङ्गरोहणतया श्रीरोहणः स्तौति च ।।२३।।

(कीका०)—देवेति । हे देव ! सर्वफलदातः ! श्रीराम ! कल्पद्रुमः—पारिजातादिस्त्वां निन्दति । कीदृशः कल्पद्रुमः ? फलभारभंगुरशिराः भारा-क्रान्तिकष्टं हि निन्दाहेतुरेव, फलानां भारैर्भंगुरं—वक्रं शिरो यस्यासौ तथा। किमिति फलानां भारस्तत्कारणमाह—किम्भूतं त्वामिति । असमानदाननिहितै-रर्थैः कृतार्थीकृतत्रैलोक्यं असमानानि—अतुल्यानि यानि दानानि—तुलापुरुषादीनि सामान्येनोत्सर्गमात्रं वा तदर्थं निहितैः—निक्षिप्तैरर्थैः—द्रव्यैः कृतार्थीकृतं त्रैलोक्यं येन स तथा । किं च हे देव ! त्वां श्रीरोहणः—शोभायुक्तो रोहणाचलः स्तौति—त्वत्सूचनपरो वर्तते । किम्भूतः ! टङ्कच्छेदनवेदनाविरमणात् प्राचीनव्रणिताङ्ग-रोहणतया सञ्जातसौख्यस्थितिः, टङ्कैश्छेदनेभ्यो या वेदनास्तासां विरमणात्—

अवसानात् यासौ प्राचीनव्रणितांगरोहणता व्रणः सञ्जातोऽस्मिन् तद् व्रणितं तच्च तदङ्गं च व्रणिताङ्गं प्राग्भवं–प्राचीनं, प्राचीनं च तद् व्रणिताङ्गं च तस्य रोहणं शान्त्या यथापूर्वरूपोत्पत्तिस्तद्भावस्तत्ता, तया कृत्वा संजाता–उत्पन्ना सौख्यस्थितिः–सुखावस्थानं यस्य स तथा। पूर्वं हि लोकाः मणिप्ररोहिणं रोहणगिरिं टङ्कैश्छित्वा रत्नानि गृह्णन्ति स्म, श्रीमद्दाशरथौ तु दानं वितरति सति रोहणछेदादिव्यापारात् सर्वेषु विरतेषु तस्य प्राचीनव्रणान्यपि रूढानीति सुखावस्थितोऽसौ गिरिः श्रीरामं सम्यगस्तावीदिति समस्तार्थः ॥२३॥

(गुण०)—देव त्वामसमानेति। हे देव! हे राम! त्वामसमानदाननिहितैरर्थैः असमानदानाय–अनुपमदानाय निहिता–न्यस्ता असमानदाननिहितास्तैरर्थैः–सुवर्णादिभिः कृत्वा कृतार्थीकृतत्रैलोक्यं कृतार्थीकृतं–कृतकृत्यीकृतं[1] त्रैलोक्यं येन स तं। कल्पद्रुमः फलभारभंगुरशिराः फलानां भारः–गुरुत्वं फलभारस्तेन भंगुरं शिरो यस्य स फलभारभंगुरशिरा निन्दति–निन्दां विधत्ते। यतस्त्वया सर्वेऽपि याचका याचितार्थसार्थंदानेन सफलीकृताः। अतः कल्पद्रुमफलानां तच्छाखाभ्यो न केऽपि गृह्यालवस्ततस्तच्छाखासु तानि फलानि तथैवाऽवतिष्ठन्ते, न केऽपि गृह्णन्तीत्यर्थः। अतो निन्दति कल्पवृक्षस्त्वामेवं, यथा च—हे राम! त्वया न सदाचरितं, येन फलग्राहकाभावात् तत्फलभारभंगुरशिरा एवाद्यापि वर्त्ते इति निन्दां विधत्त इति। तथा च–पुनः श्रीरोहणः–रोहणाचलो गिरिस्त्वां स्तौति–व्यावर्णयति। कया? प्राचीनव्रणितांगरोहणतया प्राचीनव्रणितानि–पूर्वकालीनव्रणयुक्तानि यान्यङ्गानि तेषां या रोहणता–पुनरङ्गोद्भवनता तया। यतस्त्वद्दानात् प्राक् अर्थिभिः खनित्रैः कृत्वा तदङ्गभूतानां रत्नानामुत्खननाद् व्रणिताङ्गत्वं, साम्प्रतं तदभावात् पुनस्तान्यङ्गानि रुहन्तीति भावः। किंविशिष्टः? टङ्कच्छेदनवेदनाविरमणात् टङ्कैः–खनित्रैः यच्छेदनं–विदारणं तस्माद्[2] या वेदना तस्या यद्विरमणं–निवर्तनं तस्मात्, सञ्जातसौख्यस्थितिः सञ्जाता–समुत्पन्ना [3]सौख्यस्य स्थितिः स्था[3] यस्य स। यतस्त्वया यदा सर्वेऽर्थिनः सार्थीकृतास्तदा न कोऽपि रोहणगिरेः रत्नानि खनित्रैः खनति, ततः तद्वेदनाया अभावात् लब्धसुखो रोहणस्त्वां स्तौतीति भावः ॥२३॥

देव त्वं मलयाचलोऽसि भवतः श्रीखण्डशाखीभुज-
स्तस्मिन्कालभुजङ्गमो निवसति स्फूर्जत्कृपाणच्छलात्।
एष स्वाङ्गमनर्गलं रिपुतरुस्कन्धेषु संघट्टयन्,
दीर्घव्योमविसारिनिर्मलयशो निर्मोकमुन्मुञ्चति ॥२४॥

---

१. हं० सफलीकृतम्। २. हं० तस्य। ३–३. हं० सौख्यस्थितिः।

(कीका०)—देव त्वमिति । हे देव ! दीप्यमान ! रामभद्र ! त्वं मलयाचलोऽसि सारवत्वस्थिरत्वोच्छ्रितत्वादिसाधर्म्यात् मलयेन चन्दनेन भाव्यं तदाह भवत इति, तव भुज एवाऽत्र श्रीखण्डशाखी—चन्दनतरुः प्रलम्बत्वशैत्याधायकत्वादि साधर्म्यात् । चन्दनेऽपि सर्पेण भाव्यं, तदाह तस्मिन्निति, त्वद्भुजचन्दनतरौ स्फूर्जत्कृपाणच्छलात् देदीप्यमानखड्गमिषेण कालभुजङ्गमो निवसति—कृष्णसर्प आस्ते । किञ्च, एष खड्गलक्षणकालसर्पः स्वाङ्गं—स्वशरीरं निरर्गलं अनिवारितं यथा भवति तथा रिपुतरुस्कन्धेषु—त्वच्छत्रुरूपवृक्षकोटरेषु संघट्टयन्—घर्षयन् सन् व्योमविसारि अतिदीर्घं निर्मोकं—कञ्चुकमेव निर्मलं—श्वेतं यशः उन्मुञ्चति—अधिकं मुञ्चते । सर्पो हि श्वेतां जीर्णां त्वचं मुञ्चति, त्वत्खड्गलक्षणस्तु सर्पो यशोरूपं निर्मोकपट्टं परित्यजतीत्यर्थः ॥२४॥

(गुण०)—देव त्वं मलयाचलोसीति । हे देव ! त्वं मलयाचलः—मलयाद्रिरसि—वर्तसे, तत्र भवतः—तव भुजः—बाहुः श्रीखण्डशाखी—चन्दनतरुर्वर्तते, तथा तस्मिन् त्वद्भुजचन्दनतरौ स्फूर्जत्कृपाणच्छलात्—स्फूर्जत्खड्गमिषात् कालभुजङ्गमः—कृष्णसर्पो निवसति, तथा एष त्वत्कृपाणकालभुजङ्गमः स्वाङ्गं—स्वशरीरं रिपुतरुस्कन्धेषु रिपव एव तरुस्कन्धाः—वृक्षप्रकाण्डमस्तकानि तेषु अनर्गलं—अर्गलारहितं यथा स्यात्तथा संघट्टयन् संघट्टं—संश्लेषं कुर्वन्, दीर्घव्योमविसारिनिर्मलयशोनिर्मोकं दीर्घं—पृथुलं व्योम्नि—आकाशे विसारि—विस्तरणशीलं निर्मलं यद्यशः—कीर्त्तिस्तदेव निर्मोकः—कञ्चुकस्तं उन्मुञ्चति उत्—प्राबल्येन त्यजतीत्यर्थः । अन्योपि कालभुजङ्गमः तरुस्कन्धे संघट्टं कुर्वन् स्वकञ्चुकं परित्यजति तथा त्वत्कृपाणकृष्णाहिः—शत्रुतरुस्कन्धसंश्लेषं कुर्वन् यशःकञ्चुकं मुञ्चतीति भावः ॥२४॥

आलानं जयकुञ्जरस्य दृषदां सेतुर्विपद्वारिधेः,
पूर्वाद्रिः करवालचण्डमहसो लीलोपधानं श्रियः ।
संग्रामामृतसागरप्रमथनक्रीडाविधौ मन्दरो,
राजन् राजति वैरिराजवनितावैधव्यदस्ते भुजः ॥२५॥

(कीका०)—आलानमिति । हे राजन् ! स्वप्रकाशतया दीप्यमान ! ते—तव भुजो राजति—दीप्यते । किम्भूतः ? वैरिराजवनितावैधव्यदः वैरिणः—प्रतिपक्षभूता ये राजानस्तद्वनितानां वैधव्यं ददातीति तथा । पुनः किम्भूतः ? जयकुञ्जरस्य—विजयरूपहस्तिन आलानं—बन्धनस्तम्भः 'आलानं बन्धनस्तम्भे इत्यमरः । अपरं विपद्वारिधेः—वेदनासमुद्रस्य दृषदां सेतुस्त्वत्करोयं विपत्सिन्धूत्तरणे दृषद्बद्धो दृढः सेतुरिवेत्यर्थः । अपरं करवालचण्डमहसः—खड्गलक्षणसूर्यस्य पूर्वाद्रिः—उदयाचलः चण्डं—तीव्रं महो यस्यासौ चण्डमहाः—तरणिः करवाल एव

चण्डमहाः करवालचण्डमहास्तस्य, खड्गे तु 'चन्द्रहासासिरिष्टयः, कौक्षेयको मण्डलाग्रः करवालः कृपाणवत्' इत्यमरः । अपरं किम्भूतो भुजः ? श्रियः–लक्ष्म्याः लीलोपधानं–क्रीडोच्छीर्षकं, आविष्टलिङ्गत्वेन सर्वत्र क्लीबता । अपरं कीदृशः? संग्रामामृतसागरप्रमथनक्रीडाविधौ मन्दरः, अभीरोः संग्रामोऽमृतसागर इव तस्य प्रमथने[1] यः क्रीडाविधिः–क्रीडाकरणं तत्र मन्दराचलप्राय इत्यर्थः ॥२५॥

(गुण०)—आलानमिति । हे राजन् ! राम ! ते–तव भुजः–बाहुः राजति–शोभते । 'राजृ दीप्तौ' । किंविशिष्टो भुजः ? जयकुञ्जरस्य जय एव कुञ्जरः जयकुञ्जरस्तस्य आलानं–बन्धनस्तम्भः । तथा पुनः किंविशिष्टः ? विपद्वारिधेः विपद् एव वारिधिः–समुद्रः विपद्वारिधिस्तस्य दृषदां सेतुः–पाषाणपालिः, यतोऽन्यसेतोर्विनश्वरतापि स्यात् परं दृषदां सेतुः किल दृढस्वरूप एव भवतीत्यत एतदुक्तमिति । तथा पुनः किंविशिष्टः ? करवालचण्डमहसः करवालः–खड्गः स एव चण्डमहाः–सूर्यस्तस्य खड्गसूर्यस्य पूर्वाद्रिः–उदयाचलः, तथा श्रियः–लक्ष्म्या लीलोपधानं लीलानिमित्तमुपधानं–उच्छीर्षकं लीलोपधानं, यतो जयश्रीस्त्वद्भुजदण्ड एव शेते । पुनः किंविशिष्टः ? संग्रामामृतसागरप्रमथनक्रीडाविधौ संग्राम एव अमृतसागरः–क्षीराब्धिस्तस्य या प्रमथनक्रीडा–विलोडनलीला तस्या यो विधिः–विधानं तस्मिन्मन्दरः–मेरुगिरिः, यथा मन्दरेण अमृताब्धिर्मथ्यते तथा त्वद्भुजेनापि संग्रामामृतसागरो मथित इति । पुनः किंविशिष्टः ? वैरिराजवनितावैधव्यदः वैरिराजानां या वनिताः–स्त्रियस्तासां वैधव्यं–निर्भर्तृकत्वं ददातीति वैरिराजवनितावैधव्यदः, यतस्त्वद्भुजेन सर्वेऽपि वैरिनृपा मारिताः, अतस्तेषां वल्लभा वल्लभरहिता जाता इति भावः । अत्र सर्वाण्यपि आविष्टलिङ्गानीति ॥२५॥

स्वेदाम्भःकणमण्डलानि खुरलीखेलोद्भवान्यन्वहं,
त्वद्बाह्वो रसयन् महाबल इति ख्यातिं गतो मारुतः ।
तं चास्वाद्य मुहुः सहस्रफणताशाली बलीयानहि-
र्धत्ते कोमलकोमलैरपि फणैः श्रीरामचन्द्र ! स्थिराम् ॥२६॥

(कीका०)—स्वेदाम्भ इति । हे रामचन्द्र ! त्वद्बाह्वोः खुरलीखेलोद्भवानि स्वेदाम्भःकणमण्डलान्यन्वहं–प्रत्यहं रसयन् मारुतः–वायुर्महाबल इति ख्यातिं–प्रसिद्धिं गतः, नहि मारुतात्परं किञ्चिद्बलिष्ठं विद्यते । 'वायुना वै गौतमसूत्रेणाऽयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति' इति श्रुतेः । तव बाहुस्त्वद्बाहुस्तस्य । यद्बाहोरिति केचित्तत्र रामचन्द्रेति सम्बुद्ध्याऽनन्वयात्, उत्तरतस्तच्छब्दाश्रवणाच्च । धनुर्विद्याऽभ्यासशाला खुर-

---

१. ब. प्रमथने प्रकृष्टविलोडने ।

लीति निगद्यते, तत्र यः खेलः–क्रीडनं तत उद्भवः–उत्पत्तिरेषां तानि स्वेदाम्भसः–प्रस्वेदोदकस्य ये कणाः–लवास्तेषां मण्डलानि–समूहास्तान् रसयन्–आस्वादयन्नित्यर्थः। अपि च अहिरपात् सन् अयं नोऽयं शेषनागस्तं मारुतं मुहुरत्यर्थमास्वाद्य–भक्षयित्वा बलीयान्–बलवत्तरः सम्भूय कोमलकोमलैः–अतिकुमारैरपि फणैः कृत्वा स्थिरां विशिष्टधैर्यवतीं[1] पृथ्वीं धत्ते–धारयति। किम्भूतोऽहिः ? सहस्रफणताशाली सहस्रं फणा यस्य स सहस्रफणस्तस्य भावस्तत्ता तया शालते–शोभते असौ तथा। सहस्रफणाधारणव्यापृतत्वेपि तस्य पृथ्वीधारणं लीलयैवेति विशेषणेन व्यज्यते इति ॥२६॥

(गुण०)—स्वेदाम्भःकणमण्डलानीति। हे श्रीरामचन्द्र ! त्वद्बाह्वोः–त्वद्भुजयोः खुरलीखेलोद्भवानि खुरली–श्रमस्तस्याः या खेला–क्रीडा तस्या उद्भवन्ति यानि तानि खुरलीखेलोद्भवानि स्वेदाम्भःकणमण्डलानि स्वेदः–निदाघस्तस्य ये अम्भःकणाः–पानीयलेशास्तेषां यानि मण्डलानि–समूहास्तानि स्वेदाम्भःकणमण्डलानि, अन्वहं–निरन्तरं रसयन्–आस्वादयन् पिबन्नित्यर्थः, मारुतः–वायुर्महाबल इति ख्यातिं–प्रसिद्धिं गतः–प्राप्तः। यतो महद्बलमस्यास्तीति महाबलः, वायोरभिधानमपि महाबलः, ततस्त्वद्भुजाभ्यां यदा शस्त्रश्रमो विहितस्तदा तयोः परिश्रमयोगात् परिस्वेदोऽजनि। ततस्तदुद्भवजलकणास्वादनात् वायुर्महाबलत्वं प्राप्तः, ततस्तं च मारुतं महाबलत्वेन प्रसिद्धं मुहुः–वारं वारं आस्वाद्य सहस्रफणताशाली–सहस्रसंख्यफणतया शालते–शोभते इत्येवंशीलः सहस्रफणताशाली बलीयान्–बलिष्ठः अहिः–शेषनागः कोमलेभ्योऽपि–सुकुमारेभ्योऽपि कोमलाः–मृदवः कोमलकोमलास्तैः कोमलकोमलैरपि फणैः–फटाभिः स्थिरां–पृथ्वीं विधत्ते–बिभर्त्ति, अन्यथा यदि त्वद्भुजश्रमोद्भूतस्वेदजलकणास्वादकवायोर्भक्षण नाकरिष्यत् तदा कथमयं शेषः कोमलकोमलैरपि फणैः पृथ्वीमधास्यत्, अतो महाबलं मारुतं भक्षितवानिति। यतः 'पवनाशनाः सर्पाः' इति प्रसिद्धिः ॥२६॥

रामो दाशरथिर्दशास्यनिधनध्वस्तासुरोपद्रवः,
क्षोणीं क्षुण्णसुरारिसंहतिसुखस्वावासवर्णाश्रमाम्।
कृत्वा पान्तु जगत्प्रमेयचरितः स्थित्यै प्रजानां प्रभु-
श्चक्रे चित्रवपूंष्यनेकयजनैर्यज्ञेषु यः पौरुषैः ॥२७॥

(कीका०)—रामो दाशरथिरिति। अग्रे यदः श्रवणात् तदोऽध्याहारः। स इति दाशरथिः–दशरथस्यापत्यं स रामः क्षोणीं–पृथ्वीं क्षुण्णसुरारिसंहतिसुखस्वावासवर्णाश्रमां कृत्वा पातु–रक्षतु अर्थात् क्षोणीमेव। कीदृशः ? दशास्य-

---

१. ब. विशिष्टस्थैर्यवतीं।

निधनध्वस्तासुरोपद्रवः दशास्यः–रावणस्तस्य निधनेन–नाशनेन ध्वस्तः–नाशितः असुराणां–सुरविरुद्धानां राक्षसानां सम्बन्धी उपद्रवः–पराभवो येन स। तथा क्षुण्णा–संचूर्णिता सुरारीणां–राक्षसानां संहतिः–संघातो यस्यां क्षोण्यां सा क्षुण्णसुरारिसंहतिः, वर्णाः–ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः आश्रमाः–ब्रह्मचारिगृहिवानप्रस्थयतयस्ते च ते च सुखयन्तीति सुखः सुष्टु–शोभनश्च आवासः–निवासो येषां, तादृशा वर्णाश्रमा यस्यां क्षोण्यां सा सुखस्वावासवर्णाश्रमा, क्षुण्णसुरारिसंहतिश्चासौ सुखस्वावासवर्णाश्रमा च ताम्। स कः ? यः प्रभुः–समर्थो रामः प्रजानां लोकानां स्थित्यै–धारणाय यज्ञेषु–अश्वमेधादिषु पौरुषैः–पुरुषस्य सर्वत्र पूर्णस्य परमेश्वरस्य प्रीणनबुद्ध्या सम्पादितैरनेकयजनैः–नानाविधपूजनैः चित्रवपूंषि चित्राणि–अलंकृतानि[1] वपूंषि–शरीराणि च चित्रवपूंषि चक्रे–अलंचकारेत्यर्थः। यथोक्तम्—'अमाद्यदिन्द्रः सोमेनातृप्यद्ब्राह्मणान् धनैः' इति। कीदृशः स ? जगत्प्रमेयचरितः जगता प्रमेयं–कलनीयं चरितं–आचरणं यस्य स तथा। यदभाणि–

'यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनु वर्तते।।१।।

इति ।।२७।। [पद्यस्यास्य टीका गुणविनयकृता नोपलभ्यते]

राज्यं येन पटान्तलग्नतृणवत्त्यक्तं गुरोराज्ञया,
पाथेयं परिगृह्य कार्मुकवरं घोरं[2] वनं प्रस्थितः।
स्वाधीनः शशिमौलिचापविषये प्राप्तो न वै विक्रियां,
पायाद्वः स विभीषणाग्रजनिहा रामाभिधानो हरिः ।।२८।।

(कीका०)—राज्यं येनेति। स रामाभिधानो हरिर्वः–युष्मान् पायात्। येन गुरोः–दशरथाज्ञया पटान्तलग्नतृणवदनादरातिशयाभिनयोऽयं वस्त्रप्रान्ते लग्नं तृणं–पलालादि यथा परित्यज्यते तद्वन्नानासुखसाधनमपि राज्यं येनोज्झितमित्यर्थः। एतद्वंशशीलीयं यद्राज्यसुखलोभाभावस्तदुक्तम्—

दुरितैरपि कर्तुमात्मसात् प्रयतन्ते नृपसूनवो हि यत्।
तदुपस्थितमग्रहीदजः पितुराज्ञेति न भोगतृष्णया।।

इति। यत्कार्मुकवरं–धनुःश्रेष्ठमात्रं पाथेयं–पथ्यदनं परिगृह्य रम्यं–मनोहरं वनं प्रति प्रस्थितः–चलितः। रम्यमिति वनविशेषणेन राज्येऽनर्थशतं सूचयति।

---

१. ब. अलंकृतानि च तानि वपूंषि। २. कीकामते तु–रम्यं।

लौकिकालौकिकबलमस्य दर्शयति—शापचापेति । अलौकिकं रामस्य बलमिदं यन्मुनीनामिव शापसामर्थ्यं, लौकिकं च चापबलं उभयत्र यः स्वाधीनः—स्वतन्त्रबलोऽपि सन् विक्रियां नागतो हि शापचापबलमाविष्कतुं विकारं नैव भेजे इत्यर्थः । किम्भूतः ? विभीषणाग्रजनिहा विभीषणादग्रे—प्रथमं जनिः—जन्म यस्य रावणस्य तं हतवान् स तथा । 'जनुर्जननजन्मानि जनिरुत्पत्तिरुद्भव' इत्यमरः ॥२८॥

(गुण०)—राज्यं येन पटान्तेति । रामाभिधानो हरिर्वः—युष्मान् पायात् । येन रामेण गुरोः—दशरथस्याज्ञया—आदेशेन पटान्तलग्नतृणवत् राज्यं त्यक्तं । तथाहि—अन्यदा श्रीदशरथभूजानिः कैकेयीं परिणीय आगच्छन् स्वल्पजनाकुलितत्वमाकलय्य लब्ध्वाऽवसरैरन्तराल एव महाप्रतिपन्थिभी रुरुधे । ततः स्वकीयां नवोढां कैकेयीं प्रत्यूचिवान्, यथा च हे पत्नि ! सम्प्रति वैरिवीरनिकरोऽयमावयोर्हन्तुमेष्यत् । [1]इषूच् गतौ दैवादिकः[1] । ततस्त्वया धृतसत्त्वया शुभवत्या मच्चेतोनुवृत्या सारथिकृत्यं विधेयं, अहं चैतान् धनुरारोप्य निशितैर्बाणैर्हन्मि, इत्येवमुक्त्वा तथैव कर्त्तुमारेभे । कैकेय्यापि स्वमुखं राकीयशशिसखं[2] वैरिभूपतीन् उद्घाट्य दर्शयाञ्चक्रे । ततस्ते तन्मुखावलोकनप्रवृद्धमान्मथविकारेण मूर्छिता न किञ्चिदज्ञासिषुः । ततः श्रीदशरथेनाऽनायासं निर्जिताः सर्वेऽपि रिपवः । ततस्तदानीं लब्धजयः श्रीदशरथः समुवाच—प्रिये ! चारु आचरितं यत्स्वमुखचन्द्रोद्घाटनेन मोहितास्तेऽन्यथा कुतस्त्यो मम जयः ? ततस्त्वं याचस्व मां यदीप्सितं, इत्युक्ते तया प्रोचे—नाऽहमद्यापि लघुत्वाद् वरप्रार्थनां कर्तुं जाने, अतो मम वरः[3] स्वकोशे स्थाप्यताम्, लब्ध्वावसरा च त्वां वरं याचिष्ये इति प्रीणितमनाः स्वपत्न्या सह सुचिरं सुखान्यनुबभूव[4] । अन्यदा श्वेतकेशावलोकनेन सञ्जातव्रतग्रहणेच्छः श्रीदशरथभूपः प्रियां कैकेयीं प्रत्यूचे—[5]अहं वार्नीं दीक्षां[5] आदातुमीहे, राज्ये च श्रीरामं स्थापयिष्यामीत्युक्ते[सा] अवादीत्, यथा च हे स्वामिन् ! मह्यं वरं प्रयच्छ पश्चात् कः प्रदास्यतीत्येवमुक्ते 'याचस्व वरं मां' । ततस्तया स्वीयात्मजस्य भरतस्य राज्यं मार्गितं अयोध्यायाः, यदा च मत्पुत्रस्य राज्यं तदा श्रीरामस्य द्वादशवार्षिको वनवासः । एतावता चानेहसा मम पुत्रोऽपि प्रौढो भावीति विचार्य्य वरप्रार्थनाऽकारीति । ततोऽनिच्छया स्वप्रतिज्ञानिर्वाहायोक्तं दत्त[6] इति । ततः प्रातर्दीक्षावसरे श्रीरामः श्रीदशरथपादाम्बुजे प्रणन्तुमाजगाम । तदा च विच्छायमुखं श्रीपितरमुवाच, यथा च—हे पितः ! साम्प्रतं भवतां महानन्दो विलोक्यते, तत्रानन्दपदे कोऽयं विषादः ? इत्युक्ते दशरथोऽब्रवीत्, यत् त्वद्द्विमात्राऽनवसर एव वरप्रार्थना चक्रे, त्वं च सकललोकयथावद्रक्षणदक्षः प्रतिहतवैरिपक्षः सदा राज्यभारोद्वहनाय उचितोऽसि, भरतस्तु लघीयान्, अतो [7]राज्यभारदानायाऽनुचित इति । अतो मम विषण्णता, इत्येवमुक्ते राम उवाच—स्वामिन् ! न

१–१. हं० नास्ति । २. हं० राकीयपूर्णिमाचन्द्रमित्रं शशिसखं । ३. हं० वरे । ४. हं० अनुभूयांचक्रे । ५-५. हं० अहवानीदक्षां । ६. हं० दत्तं । ७. हं० राज्याभाराया० ।

चिंता कापि कर्त्तव्या, एतावतापि चेद्‌भवतामुक्तं तथ्यं स्यात्तदाऽस्त्वहं आरण्यं व्रतं सेविष्ये, इत्यनूद्य सीतासहायः सलक्ष्मणः श्रीरामो वनाय निर्ययौ। अतो येन राज्यं तृणवत् त्यक्त-मिति।

यथा[1] च यः कार्मुकवरं–धनुःश्रेष्ठं पाथेयं–सम्बलं परिगृह्य–आदाय घोरं–रौद्रं बहु-चित्रककेसरीमदान्धसिन्धुराद्याकुलीनत्वात् वनं प्रस्थितः–प्रवृत्तः। कीदृशः? स्वाधीनः–स्वतन्त्रः परापेक्षाकरणात्। तथा च यः शशिमौलिचापविषये शशिमौलिः–शम्भुस्तस्य यः चापः–धनुः तस्य विषये समारोपणायां विक्रियां–विकारभावं न गतः–न प्राप्तः, [2]हेलया शम्भुचापोपमं रुरोपेत्यर्थः[2]। पुनः किम्भूतः? विभीषणाग्रजनिहा विभीषणस्य अग्रजनिः–अग्रजन्मा रावणस्तं हन्तीति विभीषणाग्रजनिहा। क्विबन्तः[3] ॥२८॥

छिन्द्याद्वः कलिकश्मलान्धतमसं दैत्याधिनाथाङ्गना-
वक्त्राम्भोजविचित्रपत्ररचनाविच्छेदवज्रानलः।
देवो दाशरथिः स येन जलधौ रागान्धरक्षोवधू-
वैधव्याध्वरधूमयष्टिपरमः सेतुः समारोपितः ॥२९॥

(कीका०)—छिन्द्याद्व इति। स दाशरथिर्देवो वः–युष्माकं कलिकल्मषान्ध-तमसं छिन्द्यात्, कलिः–कालकृतिः[4] कल्मषं–पापं कलिकल्मषं तदेवान्धतमसं आवरकत्वात् 'अवसमन्धेभ्यस्तमसः' इति टच्। कीदृशः? दैत्याधिनाथाङ्गना-वक्त्राम्भोजविचित्रपत्ररचनाविच्छेदवज्रानलः, दैत्यानामधिनाथाः–राजानस्तेषा-मङ्गनाः–प्रशस्तांग्यः स्त्रियस्तासां वक्त्राम्भोजानि–मुखकमलानि तेषु या विचित्राः पत्ररचनाः–पत्रवल्ल्यस्तासां विच्छेदवज्रानल इव वज्रानलो विनाशक इत्यर्थः। नहि वैधव्यमापादितानां पत्रावलीमण्डनं वर्तत इत्यभिप्रायः। स कः? येन देवेन जलधौ–समुद्रे सेतुः समारोपितः, समारोपेण वादाद् ग्रावतारण-लक्षणमनन्यैश्वर्यं ध्वन्यते। कीदृशः सेतुः? रागान्धरक्षोवधूवैधव्याध्वरधूम-यष्टिपरमः रागेण–कामेन अन्धाः–विह्वला या रक्षसां वध्वः–नवपरिणीता-स्तासां वैधव्यं–मृतपतित्वं[5] तदेवाध्वरः–बाहुल्यान्महासत्रं तस्य या धूमयष्टिः–धूमदण्डस्तेन परमस्तुल्य इत्यर्थः। परेण–अन्येन मीयते–उपमानत्वेनानुसन्धीयते इति परमः ॥२९॥

[पद्यस्यास्य टीका नोपलभ्यते गुणविनयकृता]

१. हं० तथा यः। २–२. शम्भुचापमुपारोपयाञ्चक्रे इत्यर्थः। ३. हं० 'क्विबन्तः' नास्ति। ४. ब. कलिकालकृतं। ५. ब. यन्मृतपतित्वं।

शुष्के गम्भीरनीरे तिमिमकरहरिव्यालकूर्म्मादिजीवा
यास्यन्ति राम नाशं जलविरहरुजा पूर्वजानाञ्च कीर्त्तिः।
तत्रोपायं तमाख्ये शृणु विमलमते सागरे कीर्त्तिरेषा,
भ्रंशं नैवात्र याति प्रभवति च तथा भूषणं सैन्यमार्गः ॥३०॥

(कीका०)—शुष्क इति। प्रक्षिप्तोऽपि व्याक्रियते। समुद्रं शोषयितुमुद्यन्तं रामं प्रत्याविर्भूतस्य समुद्रस्य वाक्यमिदम्—हे राम ! अत अस्मिन् सामुद्रे गम्भीरनीरे युष्मदस्त्रमहिम्ना शुष्के सति एते प्रसिद्धाः तिमिमकरहरिव्यालकूर्मादिजीवा मत्स्यनक्रमण्डूकराजिलकच्छपाद्या जन्तवो जलविरहरुजा नाशं यास्यन्ति, पूर्वजानां च भगीरथादीनां गङ्गानयनेन समुद्रखातपूरणप्रभवा कीर्त्तिश्च नाशं यास्यतीत्यर्थवशाद्विभक्तिविपरिणामः। यदभाणि श्रीहर्षमिश्रैः—

अखानि सिन्धुः समपूरि गङ्गया, कुले किलास्य प्रसभं स भेत्स्यते।
विलंघ्यतेऽप्यस्य यशः शतरहो, सतां महत्सम्मुखधावि पौरुषम् ॥

इति। अतो हि विमलमते—कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेचनक्षमबुद्धे तत्र सैन्यतारणे नलाख्यं—नलेन वानरविशेषेणाख्यायत इति नलाख्यः सेतुस्तद्रूपमुपायं शृणु। तथा सति अत्र त्रिभुवने एषा प्रसिद्धा 'दुर्लंघः सागर' इति समुद्रसम्बन्धिनी कीर्त्तिर्भ्रंशं—नाशं नैव याति, तव च भूषणं—महिमा प्रभवति कल्पते। सैन्यमार्गश्च प्रभवतीत्यनुषज्यते ॥३०॥

[पद्यस्यास्य गुणविनयकृता टीका नोपलभ्यते।]

भ्रान्त्वा भूवलयं दशास्यदमन त्वत्कीर्त्तिहंसी गता,
व्योमब्रह्ममरालसङ्गमवशात् सा तत्र गुर्विण्यभूत्[1]।
पश्य स्वर्गतरङ्गिणीपरिसरे[2] कुन्दावदातं यया,
मुक्तं भाति नवीनमण्डकमिदं शीतद्युतेर्मण्डलम् ॥३१॥

(कीका०)—भ्रान्त्वेति। कीर्त्तिमेव वर्णयति—हे दशास्यदमन ! रावणाख्यकण्टकशासक ! त्वत्कीर्त्तिरेव हंसी भूवलयं भ्रान्त्वा—पृथ्वीमण्डलमवगाह्य व्योमगता—सत्यलोकाद्यं स्वर्गं जगाम। सा च ब्रह्ममरालसंगमवशात् ब्रह्मा—सत्यलोकवर्ती चतुर्मुखस्तस्य वाहनभूतो यो मरालः—हंसस्तत्संगमवशेन तत्रैव ब्रह्म-

---

१. कीकामते तु—गर्भिण्यभूत्। २. कीकामतेतु—व्योमतरङ्गिणीपरिसरे।

लोके गर्भिण्यभूत्–गर्भवती बभूव । पश्येममर्थं प्रत्यक्षीकुरु, हे प्रत्यघस्थातः[1] व्योमतरङ्गिणीपरिसरे–मन्दाकिनीसन्निधौ यया त्वत्कीर्त्तिहंस्या इदं शीतद्युतेश्चन्द्रस्य मण्डललक्षणं कुन्दावदातं–मुचुकुन्दवदुज्ज्वलं नवीनं लोकोत्तरं अण्डकमलपमण्डं[2] मुक्तं भाति–भासते ॥३१॥

(गुण०)—भ्रान्त्वा भूवलयेति । हे दशास्यदमन ! दशास्यः–रावणस्तं दाम्यतीति दशास्यदमनस्तत्सम्बोधनं हे दशास्यदमन ! भूवलयं–पृथ्वीमण्डलं भ्रान्त्वा–अटित्वा त्वत्कीर्त्तिहंसी–तव कीर्त्तिरेव हंसी त्वत्कीर्त्तिहंसी व्योम–आकाशं गता–अगच्छत् । तत्र व्योम्नि सा कीर्त्तिहंसी ब्रह्ममरालसङ्गमवशात् ब्रह्मणः–विधेर्यो मरालः–हंसस्तस्य यः सङ्गमः–संयोगस्तद्वशात् गुर्विणी–सगर्भा अभूत्–जाता । ततः किं जातं तया ? इत्याह—त्वं पश्य–अवलोकय. स्वर्गतरंगिणीपरिसरे–गङ्गानदीतीरे यया कीर्त्तिहंस्या मुक्तं शीतद्युतेः–चन्द्रस्य मण्डलं–बिम्बं इदं नवीनमण्डकं भाति–शोभते । किंविशिष्टं ? कुन्दावदातं कुन्दवत् अवदातं–उज्ज्वलं । अन्याऽपि हंसी हंससंयोगात् गुर्विणी भवति, ततो नदीतीरे स्वमण्डकमपि मुञ्चति, तथेयं कीर्त्तिहंस्यपि । इत्यनेनाऽयं भावोऽसूचि यद्रामकीर्त्तिभूमण्डले व्योम्नि च वर्तत इति ॥३१॥

आदाय प्रतिपक्षकीर्त्तिनिवहान् ब्रह्माण्डमूषान्तरे,
निर्विघ्नं धमता नितान्तमुदितैः स्वैरेव तेजोऽग्निभिः ।
तत्तादृक्पुटपाकशोधितमिव प्राप्तं गुणोत्कर्षणात्[3],
पिण्डस्थं च महत्तरं च भवता निःक्षारतारं यशः ॥३२॥

(कीका०)–आदायेति । हे राम ! भवता प्रतिपक्षकीर्त्तिनिवहानादाय–शत्रुयशःसमूहान् गृहीत्वा ब्रह्माण्डमूषान्तरे मूष्यते–स्थाप्यते । तत्र[4] सुवर्णादिरसोऽसौ मूषः–सुवर्णादिरसगलनपात्रं तस्यान्तरे–मध्ये उदितैः स्वैरेव तेजोऽग्निभिः–प्रतापलक्षणैर्वह्निभिः नितान्तं–अतिशयेन निर्विघ्नं रसाधारभङ्गाभावो यथा स्यात्तथा धमता सता तत्तादृक्पुटपाकशोधितमिव सुवर्णकारप्रसिद्धः पुटो मृण्मयस्तत्र पाकः–उरसीकरणं तेन शोधितं–निर्मलकृतं, यथा पिण्डस्थं–पिण्डाकारेण स्थितं महत्तरं च सकलब्रह्माण्डव्यापि निःक्षारतां–निःकलंकोज्ज्वलं यशः प्राप्तम् । निर्गतः क्षारो मलो यस्मात्तन्निःक्षारं, निःक्षारं च तत्तारं च निःक्षारतारं । किम्भूतेन भवता ? गुणोत्कर्षिणा–गुणोत्कर्षयुक्तेन ॥३२॥

(गुण०)—आदायेति । हे श्रीराम ! भवता–त्वया प्रतिपक्षकीर्त्तिनिवहान् प्रतिपक्षाः–वैरिराजास्तेषां ये कीर्त्तिनिवहाः–यशःसमूहास्तान् आदाय–गृहीत्वा ब्रह्माण्डमूषान्तरे ब्रह्माण्ड–

१. ब. प्रत्यवस्थातः । २. ब. अडकमलग्रमडं । ३. कीकामते–तु गुणोत्कर्षिणा । ४. ब. अत्र ।

मेव मूषान्तरं–मूषामध्यं तस्मिन् उदितैः–उद्गतैः स्वैरेव तेजोऽग्निभिः–स्वप्रतापवह्निभिः नितान्त–अतिशयेन निर्विघ्नं यथा स्यात्तथा धमता सता तद्यशः निःक्षारतारं–शुद्धरूप्यं गुणोत्कर्षणाद्–निर्मलत्वादिगुणोत्सर्पणाद् तादृक् पुटपाकशोधितमिव तादृग्भ्यामिति यादृग्भ्यां रूपस्य निर्मलता भवति तादृग्भ्यां पुटपाकाभ्यां शोधितं–शुद्धीकृतमिव प्राप्तं–लब्धम्। कीदृग् यशो निःक्षारतारम् ? पिण्डस्थं पिण्डत्वेन निष्ठतीति पिण्डस्थं, अयमर्थः—त्वया वैरियशोरूपरूप्यशकलानि आदाय ब्रह्माण्डमूषान्तरे व्यवस्थाप्य[1] च स्वप्रतापाग्निभिः पिण्डत्वेन व्यवस्थापितानि तानीति भावः। अत्र भावप्रधानो निर्देश इति। पुनः किंविशिष्टम् ? महत्तरं–गुरुतरमिति, इत्यनेन सकलवैरियशोग्रहणात्तवैव यशो निर्मलं जागर्तीति भावः। *अथवेत्थमस्य व्याख्यानं विधेयम्—

सर्वेषां शत्रूणां कीर्तीर्गृहीत्वा ब्रह्माण्डमेव मूषा तन्मध्ये स्वप्रतापानलैरविच्छिन्नं तापयताऽनेन तादृशेन पुटपाकेन निर्मलकृतमिव पिण्डस्थं–घनीभूतं महत्तरं–त्रिभुवनव्यापकं निःक्षारं–विरागरहितं विश्वस्पृहणीयमिति यावत्, अत एव तारं–उज्ज्वलं यशस्त्वया शौर्यादिगुणप्रकर्षवता लब्धम्। विप्रकीर्णा दिग्मात्रव्यापिनीः समलाश्च शत्रुकीर्तीः संहृत्य त्वया समुदितं विश्वव्यापि निर्व्याजोज्ज्वलं यशः प्रतापैरर्जितमिति भावः। अथ च स्वर्णकारो रूप्यस्य गुणोत्कर्षणशीलो बहुतराणि लघूनि समलानि खण्डानि मूषायामावर्त्य तेन पुटपाकेन शुद्धं पिण्डीभूतं गुरुतरं टङ्कणादिक्षारोत्तीर्णं रजतं प्राप्नोति* ॥३२॥

शत्रुक्षत्रकलत्रनेत्रसलिलैर्जम्बालजालस्पृशि,
भ्रान्त्वा भूपतिभालभूषण ! भवत्कीर्त्तिर्भुवो मण्डले।
यद् यान्ती विबुधालयं प्रति सुधाकुण्डे सुधांशोर्व्यधा-
दंह्रिक्षालनमित्ययं किल मलस्तस्मिन् गताः स्मेरताम् ॥३३॥

(कीका०)—शत्रुक्षत्रेति। हे भूपतिभालभूषण !–सर्वराजन्यललाटतिलकस्थानीय ! हे राम ! भवत्कीर्त्तिर्भुवो मण्डले भ्रान्त्वा विबुधालयं–स्वर्गं प्रति यान्ती सती यत्सुधाकुण्डे–अमृतकुण्डरूपे सुधांशौ–चन्द्रे अंह्रिक्षालनं व्यधात्–चरणशोधनं चकार। कीदृशे भुवो मण्डले ? शत्रुक्षत्रकलत्रनेत्रसलिलैर्जम्बालजालस्पृशि, शत्रुभूतानि क्षत्राणि–राजन्याः शत्रुक्षत्राणि तेषां कलत्राणि–दारास्तेषां नेत्रगतैः सलिलैः–सकज्जलाश्रुभिः कृत्वा जम्बालजालस्पृशि–कर्दमपटलसंगभृति, ततश्च पंकिलायां भूमौ भ्रमणेन कीर्त्तिकामिनीचरणौ कर्दमांकितौ जातौ, अतश्चन्द्रामृतकुण्डे क्षालनं कृत्वा विबुधालयं गतवती। अन्योपि यः किल पंकलिप्तचरणो देवतालयं याति, असौ जलपूर्णकुण्डे प्रक्षाल्यैव याति। किलेति

१. हं० व्यवस्थापितः। *–* हं० प्रतौ नास्ति पाठः।

सम्भावनायां । अयमेव कीर्त्तिचरणयुतो[१] मलस्तस्मिन् चन्द्रे चिह्नतां गतः । किल स एव पंको लाञ्छनत्वेन भातीति सम्भावयामः ।।३३।।

(गुण०)—शत्रुक्षत्रेति । हे भूपतिभालभूषण ! भूपतीनां भालानि–ललाटानि भूष्यन्तेऽनेनेति भूपतिभालभूषणस्तस्य सम्बोधनं हे भूपतिभालभूषण ! 'करणाधिकरणयोश्च' इति ल्युट्, भवत्कीर्त्तिः भवतः–तव कीर्त्तिः–त्वद्यशो भुवो मण्डले भ्रान्त्वा–पर्यटनं विधाय–कृत्वा विबुधालयं प्रति–स्वर्गलोकं प्रति यान्ती–गच्छन्ती यस्माद्धेतोः सुधांशोः–चन्द्रस्य सुधाकुण्डे–अमृतकुण्डे अंह्रिक्षालनं–चरणयोर्धावनं व्यधात्–चक्रे । इति हेतोरयं मलः–भूभ्रमणसञ्जातचरणपङ्कस्तस्मिन् चन्द्रे स्मेरतां–प्रकटस्वरूपतां चिह्नतामिति वा, किलेति सम्भावने, गतः–प्राप्तः । अयं भावः, यच्चन्द्रे अन्तःकालुष्यमवलोक्यते तत्पङ्किलभूभ्रमणेन कर्दमाङ्कितचरणया त्वत्कीर्त्या[२] चन्द्रामृतकुण्डे[३] स्वमलिनपादक्षालनतो जनितमिति भावः । अन्योऽपि किल यो देवतालयं याति स जलपूर्णकुण्डे प्रक्षाल्य चरणौ याति तथेयमपीति । किंविशिष्टे भुवो मण्डले ? शत्रुक्षत्रकलत्रनेत्रसलिलैः शत्रुक्षत्राणां–शत्रुराजानां यानि कलत्राणि तेषां यानि नेत्राणि तेषां सलिलैः–अश्रुभिः कृत्वा जम्बालजालस्पृशि जम्बालजालं–कर्दमसमूहस्तत्स्पृशतीति जम्बालजालस्पृक् तस्मिन् । इत्यनेन सकलवैरिविनाशनद्वारा त्वत्कीर्त्तिः सुरालयेऽपि जागर्तीति सूचितम् ।।३३।।

देव ! त्वत्करनीरदे दिशि दिशि प्रारब्धपुण्योन्नतौ,
चञ्चत्कङ्कणरत्नकान्तितडिति[४] स्वर्णामृतं वर्षति ।
स्फीता कीर्त्तितरङ्गिणी समभवत्तृप्ता गुणग्रामभूः,
पूर्णं चार्थिसरः शशाम विदुषां दारिद्र्यदावानलः ॥३४॥

(कीका०)—देवेति । हे देव ! आत्माराम ! त्वत्करनीरदे–भवतो हस्तलक्षणे पयोदे स्वर्णामृतं–अयाचित सुवर्णजलं वर्षति सति कीर्त्तितरंगिणी कीर्त्तिरेव तरंगिणी–नदी स्फीता–प्रवृद्धा समभवत् । 'अमृतं स्यादयाचितं' इत्यमरः । तथा गुणग्रामभूः–गुणवत्समूह एव या भूमिः सा तृप्ता समभवत् । अर्थिसरः–याचकलक्षणस्तडागः पूर्णतामभजत् । किञ्च विदुषां–पण्डितानां दारिद्र्यलक्षणो यो दावानलः–नित्यप्रज्वलितत्वाद्दाववह्निरिव सोऽपि शान्तः । सकलाश्चैते गुणा वृष्ट्यामपि भवन्ति । कीदृशे त्वत्करनीरदे ? प्रारब्धपुण्योन्नतौ प्रारब्धा पुण्यस्य–महादानादेरुन्नतिः–पराकाष्ठा येन स तस्मिन् । अपरं कीदृशे ? दिशि दिशि–प्रतिदिशं चञ्चत्काञ्चनरत्नराजितडिति काञ्चनानि च रत्नानि च तेषां राजिः–

---

१. ब. चरणच्युतो । २. हं० त्वत्कीर्त्तिमा । ३. हं० चन्द्रमामृतकुण्डे ।
४. कीकामते तु–चञ्चत्काञ्चनरत्नराजितडिति ।

श्रेणिः चञ्चती–देदीप्यमाना काञ्चनरत्नराजिरेव तडित्–सौदामिनी यस्मिन् स तथा। मेघोऽपि जगज्जीवनपुण्यप्रारम्भोद्युक्तः प्रतिदिशं तडित्वान् भवति ॥३४॥

(गुण०)—देव त्वत्करेति। हे देव! हे राम! त्वत्करनीरदे तव कर एव नीरदः–मेघस्त्वत्करनीरदस्तस्मिन्। किम्भूते तस्मिन्? दिशि दिशि प्रारब्धपुण्योन्नतौ प्रारब्धा–प्रवर्तिता पुण्या–पवित्रा[1] उन्नतिर्येन स तस्मिन्। पुनः किंविशिष्टे! चञ्चत्कङ्कणरत्नकान्तितडिति चञ्चन्ती–देदीप्यमाने ये कङ्कणे–वलये तयोर्या रत्नकान्तिः सैव तडित्–विद्युत् विद्यते यस्मिन् स तस्मिन्। ईदृग्विधे स्वर्णामृतं स्वर्णमेव अमृतं–पानीयं स्वर्णामृतं तत् वर्षति सति, कीर्त्तितरङ्गिणी कीर्त्तिरेव तरङ्गिणी–नदी कीर्त्तितरङ्गिणी[2] स्फीता–जलभरैर्वृद्धिं प्राप्ता समभवत्–जाता। तथा गुणग्रामभूः–गुणसमूहभूमिस्तृप्ता–सन्तोषं प्राप्ता, अन्यस्मिन्नपि मेघे वर्षति सति ग्रामभूस्तृप्यति तथाऽत्रापि त्वत्करमेघे वर्षति सति गुणग्रामभूस्तृप्तेति। [3]गुणाद् ग्रामशब्दः समूहार्थ इति[3]। च–पुनः अर्थिसरः अर्थिनः–याचकास्त एव सरः अर्थिसरः तत्पूर्णं स्वर्णाम्भोभिर्भृतं। तथा तस्मिन् करनीरदे वर्षति सति विदुषां–विपश्चितां दारिद्रयदावानलः दारिद्र्यमेव दावानलः–दावाग्निः स शशाम–शान्तः। यतः[4] स्वामिन्! तथा त्वयाऽर्थिभ्यो दानं दत्तं यथा तद्दारिद्र्यदारिद्र्यं जातमिति भावः। वृष्ट्याऽपि एते सकला गुणा भवन्तीति। चञ्चच्चञ्चु इत्यादि दण्डकधातुरनेकार्थत्वाद् धातूनां शोभनार्थोऽपि। तथा च माघकाव्ये—'हेमच्छेदच्छायचञ्चच्छिखाग्र' इति ॥३४॥

राजन्! बीजन्ति मुक्ता भुवनभरभृतामंकुरन्ति द्विपानां,
दन्ताः पातालमूले सरलतरजटाजालति व्यालराजः।
स्वर्वाहिन्याः प्रवाहाः वियति किसलयन्त्यालवालन्ति पाथो-
नाथाः पुष्पन्ति ताराः फलति हिमकरस्त्वद्यशःपादपस्य ॥३५॥

(कीका०)—राजन्निति। हे राजन्! दीप्यमान! राम! त्वद्यशःपादपस्य–भवत्कीर्त्तिवृक्षस्य भुवनभरभृतां–त्रिभुवनभारधारिणां द्विपानां–दिग्गजानां मुक्ताः–शिरोगतानि मौक्तिकानि बीजंति–बीजमिवाचरन्ति, वटादेर्वृक्षस्य किल कणिकादिबीजेन भाव्यम्। 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वाचारः' इति महाभाष्यकारमतेन [5][क्विप्। अपरं तेषामेव द्विपानां दन्ता अंकुरन्ति–अङ्कुरा इवाचरन्ति। तथा पातालमूले व्यालराजः–शेषनागः सरलतरजटाजालति सरलं–

---

१. हं० 'पवित्रा' नास्ति। २. हं० 'कीर्त्तितरङ्गिणी' नास्ति। ३–३ हं० नास्ति पाठ। ४. हं० यत्। ५. [ ] चिह्नान्तर्गतपाठो अ० प्रतौ नोपलभ्यते।

अतिशयेन]ऋजु यज्जटाजालं तदिवाचरन्ति, उज्ज्वलतासम्बन्धः सर्वत्र विवक्षितः। तथा वियति–आकाशे स्वर्वाहिन्याः–व्योमगङ्गायाः प्रवाहाः किशलयन्ति–पल्लवा इवाचरन्ति। पाथोनाथाः–समुद्रास्तु आलवालन्ति–मूलबन्धस्थलतामिव भजन्ते। ताराश्च पुष्पन्ति–नक्षत्रादिसमूहाः पुष्पाणीवाचरन्ति। अपरं हिमकरः–चन्द्रः फलमिवाचरति वृक्षे किलाऽङ्कुरकिशलयपुष्पफलादिना भाव्यमिति रूपकोपन्यासः ॥३५॥

(गुण०)—राजन् बीजन्तीति। हे राजन्! हे राम! त्वद्यशःपादपस्य–त्वत्कीर्त्तिवृक्षस्य मुक्ताः–मौक्तिकानि बीजन्ति-बीजानीवाचरन्ति बीजन्ति। तथा द्विपानां दन्तास्तव कीर्त्तितरोः अंकुरन्ति–अंकुरा इव आचरन्ति अंकुरन्ति[1]। किंविशिष्टानां द्विपानाम्? भुवनभरभृतां भुवनभरं–त्रिजगद्भारं बिभ्रतीति भुवनभरभृतस्तेषां। तथा तस्यैव कीर्त्तितरोः व्यालराजः–शेषाहिः पातालमूले सरलतरजटाजालति सरलतरा या जटास्तासां यज्जालं तदिवाचरति सरलतरजटाजालति। यतोऽन्यस्यापि तरोर्यथा सरलतरजटा भवन्ति तथैतस्यापि कीर्त्तितरोः शेषनागः पादमूले जटाजालमिति। तथा स्वर्वाहिन्याः–गङ्गायाः प्रवाहा वियति–आकाशे किसलयन्ति किसलयानि–पल्लवास्तानीवाचरन्ति किसलयन्ति, तस्यैव कीर्त्तितरोरिति। तथा पाथोनाथाः–समुद्राः त्वद्यशःपादपस्य आलवालन्ति आलवालानीवाचरन्ति आलवालन्ति, पानीयसेचनस्थानानीव भवन्ति। तथा त्वद्यशस्तरोः ताराः पुष्पन्ति–पुष्पाणीवाचरन्ति पुष्पन्ति। तथा हिमकरः–चन्द्रस्त्वद्यशःपादपस्य फलति–फलमिवाचरति फलति। अन्यस्यापि तरोः किञ्चित्फलं भवत्येव तथैव त्वद्यशःपादपस्य चन्द्रः फलमिव वर्तते। अत्र बीजन्तीत्यादिषु सर्वत्र 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वाचार' इत्येके इति क्विप्, क्विपः सर्वस्य लोपः ॥३५॥

देव! त्वद्भुजदण्डदर्पगरिमोद्गीर्णप्रतापानल-
ज्वालापक्त्रिमकीर्त्तिपारदघटीविस्फोटिता बिन्दवः।
शेषाहिः कति तारकाः कति कति क्षीराम्बुधिः कत्यपि,
प्रालेयाचलशङ्खशुक्तिकरकाकर्पूरकुन्देन्दवः[2] ॥३६॥

(कीका०)—देव त्वद्भुजेति। हे देव! आत्मक्रीड! त्वद्भुजदण्डदर्पगरिमोद्गीर्णप्रतापानलज्वालापक्त्रिमकीर्त्तिपारदघटीविस्फोटिता ये बिन्दवः सन्तीति शेषः, तव भुजो दीर्घत्वाद्दण्ड इवेति त्वद्भुजदण्डस्तस्य यो दर्पगरिमा–बलोत्सेकमहत्त्वं तस्मादुद्गीर्णः–प्रसरन् यः प्रताप एवानलः–अग्निस्तस्य ज्वालया पक्त्रिमा–परिपाकं गता येयं कीर्त्तिरेव पारदघटी–रसविशेषाधारस्थाली ततो

१. हं० प्रतौ अग्रे—'अंकुराः पुंन्नपुंसके'। २. कीकामते तु—प्रालेयाचलशङ्खशुक्तिकरकाः कर्पूरकुन्देन्दवः।

विस्फोटिता–विशेषेणोड्डीना ये बिन्दवः–विप्रुषः, ते कति–कियन्तस्तु शेषाहिर्धवलतरः शेषनागो जातः, कति बिन्दवस्तारका बभूवुः, कति च क्षीरोदधिः–क्षीरसागरोऽभूत्, कत्यपि–कियन्तोऽपि प्रालेयाचलशंखशुक्तिकरका अभवन्, प्रालेयाचलो हिमालयश्च शंखाश्च शुक्तयश्च करकाश्च ते तथा। किम्बहुना? यत्किञ्चिदतिधवलं कर्पूरकुन्देन्द्वादि तत्सर्वं तव यशोवैभवमेवेत्यर्थः ॥३६॥

(गुण०)—देव त्वद्भुजेति। हे देव! हे राम! त्वद्भुजदण्डदर्पगरिमोद्गीर्णप्रतापानलज्वालापक्त्रिमकीर्त्तिपारदघटीविस्फोटिताः त्वदीयौ यौ भुजदण्डौ–बाहुदण्डौ[1] तयोर्यो दर्पगरिमा–शौर्यगौरवं तस्मात् उद्गीर्णाः–प्रसृताः या प्रतापानलज्वालाः प्रताप एव अनलज्वालाः–अग्निकीलाः प्रतापानलज्वालास्ताभिः पक्त्रिमा–पचनेन निर्वृत्ता पक्त्रिमा 'ड्वितः क्त्री' इति त्रिः 'क्त्रेर्मम्' इति मुम् इति पक्त्रिमा, या कीर्त्तिपारदघटी–कीर्त्तिरेव पारदघटी कीर्त्तिपारदघटी तस्या विस्फोटः–विदारणं संजातो विद्यते एषामर्थे इति विस्फोटिताः तदस्य सञ्जातं 'तारकादिभ्य इतच्' इति इतच्, ततस्त्वद्भुजदण्डदर्पगरिमोद्गीर्णप्रतापानलज्वाला–पक्त्रिमकीर्त्तिपारदघटीविस्फोटिताः। कति इति कियन्तो बिन्दवः–पृषतः शेषाहिर्जातास्तथा कति बिन्दवः तारका जाताः, तथा कति बिन्दवः क्षीराम्बुधिर्जाताः, तथा कति बिन्दवः प्रालेयाचलशङ्खशुक्तिकरकाकर्पूरकुन्देन्दवो जाताः, प्रालेयाचलः–हिमाद्रिः स च शंखाश्च–कम्बवः शुक्तयश्च[2] करकाश्च–घनोपलाः कर्पूरश्च–हिमबालुका कुन्दश्च इन्दुश्च ते प्रालेयाचलशंखशुक्तिकरकाकर्पूरकुन्देन्दव इति। यतः[3] कीर्त्तिपारदघटी वर्णतः श्वेता अतस्तस्याः स्फोटे अमी शेषनागादयः श्वेताभत्वात् तद्बिन्दवो जज्ञिरे, इत्येतद् घटत एवेति भावः। केचित्तु 'विस्फाटिता बिन्दव.' इति पठन्ति तत्पाठे तु पारदघट्याः–विस्फटनं विस्फाटः पारदघटीविस्फाटस्तं[4] प्राप्ताः विस्फाटिताः कति बिन्दवः शेषाहिर्जाता इति, शेषं पूर्ववत्। किम्बहुना यत्–किञ्चिदतिधवलं तत् त्वद्यशोवैभवमिति भावार्थः ॥३६॥

स्पष्टस्वस्तटिनीललाटतिलका तारास्थिभूषावली,
नक्षत्रेशकपालिनी हिमगिरिर्दण्डं करे बिभ्रती।
कुर्वाणा क्षणदृष्टनष्टमखिलं [5]राज्येन्द्रजालं द्विषां,
त्रैलोक्योत्तर ते सदा विजयते[6] कीर्त्तिर्महायोगिनी ॥३७॥

(कीका०)–स्पष्टेति। हे राजेन्द्र! सर्वप्रभुनियतः ते–तव कीर्त्तिलक्षणा महायोगिनी जयति–सर्वोत्कर्षेण वर्तते। योगः–चित्तवृत्तिनिरोधोऽणिमाद्यष्टैश्वर्यफलकः सोऽस्त्यस्याः सा योगिनी महती–परिपक्वयोगा चासौ योगिनी च

१. 'बाहुदण्डौ' नास्ति। २. हं० 'शुक्तयश्च' नास्ति। ३. हं० 'यतः' नास्ति। ४. हं० तं प्राप्ताः इत्यस्य स्थाने सम्प्राप्ताः। ५. कीकामते—'राजेन्द्रजालं'। ६. कीकामते तु—त्रैलोक्योत्तरला सदा जयति ते।

महायोगिनी, एतेन योगविद्यायां शुद्धसत्त्वायाः स्त्रीजातेरघविकारो दर्शितः। तथा च भारते मोक्षधर्मकामेषु—

अपि वर्णावकृष्टस्तु नारी चाधर्मकाङ्क्षिणी।
तरत्येव महादुर्गं जरामरणसागरम्॥

इति स्मर्यते। अथ कीर्त्तियोगिन्योः साम्यं दर्शयितुं कीर्त्तिं विशिनष्टि—स्पष्टेत्यादिना। स्पष्टं–प्रकटं स्वस्तटिनी–व्योमगङ्गेव ललाटे तिलकं यस्याः सा स्पष्टस्वस्तटिनीललाटतिलका, याऽपि योगिनी सा ललाटे श्वेततिलकं बिभर्त्ति। अपरं कीदृशी ? तारास्थिभूषावली अस्थ्यां भूषा अस्थिकृता वा भूषा हाराद्यलङ्कारास्तेषां आवली–श्रेणिस्तारा एवास्थिभूषावली यस्याः सा तथा। पुनः कीदृशी ? नक्षत्रेशकपालिनी नक्षत्राणामीशः–चन्द्र एव कपालं विद्यते यस्याः सा तथा। किञ्च, सुरगिरिं मेरुपर्वतलक्षणं दण्डं करे बिभ्रती–धारयन्ती, बिभर्तीति बिभ्रती 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुमभावः, योगिनी च कपालयष्टिहस्ता स्यात्। किं कुर्वती ? अखिलं–निरवशेषमपि द्विषां जालं–शत्रुसमूहं क्षणदृष्टनष्टं कुर्वाणा–पूर्वं दृष्टं पश्चान्नष्टं, दृष्टनष्टं, क्षणेनैव दृष्टनष्टं[1] क्षणदृष्टनष्टं तादृशं कुर्वती, योगिन्यपि भणितशक्तिमती स्यात्। पुनः किम्भूता ? त्रैलोक्योत्तरला त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रैलोक्यं तस्योत्तरणाय तरला–चञ्चला, योगिन्यपि स्वशक्त्या त्रैलोक्यमाक्रामति। अत एवोक्तम्—

'योगारूढो मुनीन्द्रस्तु भूतानि स्वच्छया धिया।
स्वयं तु पर्वतारूढो भूमिष्ठानीव पश्यति॥

इति ॥३७॥

(गुण०)—स्पष्टस्वस्तटिनीति। हे त्रैलोक्योत्तर ! जगत्त्रयप्रधान ! ते–तव कीर्त्तिर्महायोगिनी सदा विजयते इत्यन्वयः। पाठान्तरे तु त्रैलोक्योत्तरलेति, तत्र त्रिलोक्योत्क्रमणे तरला–चञ्चला सा हि योगिनी स्वशक्त्या त्रैलोक्यमप्याक्रामतीति ज्ञेयम्। अथ कीर्त्तिमहायोगिन्योर्विशेषणैः साधर्म्यमाह—किंविशिष्टा कीर्तिरूपा महायोगिनी ? स्पष्टस्वस्तटिनीललाटतिलका स्पष्टा–प्रकटा या स्वस्तटिनी–गङ्गा सैव ललाटे तिलकमस्या इति स्पष्टस्वस्तटिनीललाटतिलका। अन्याऽपि योगिनी ललाटे धवलं चन्दनतिलकं कर्षति तथैतस्याः कीर्त्तेर्ललाटे तिलकोपमाना गङ्गाऽस्तीति। तथा पुनः किम्भूता ? तारास्थिभूषावली तारा एव अस्थिभूषावली यस्याः सा, अन्यस्या अपि योगिन्या अस्थिभूषणानि भवन्ति तथैतस्यास्तारा एवास्थिभूषणानि सन्ति। तथा पुनः किंविशिष्टा ? नक्षत्रेशकपालिनी नक्षत्रेशः–चन्द्रः स

१. ब. क्षणे दृष्टनष्टं।

एव कपालं करेऽस्या इति नक्षत्रेशकपालिनी । 'तथा किं कुर्वती' ? हिमगिरिं–हिमाचलं दण्डं करे बिभ्रती–दधती । पुनः किं कुर्वाणा ? अखिलं–समस्तं द्विषतां–शत्रूणां राज्येन्द्रजालं–राज्यमेवेन्द्रजालं–कुहकं राज्येन्द्रजालं क्षणदृष्टनष्टं कुर्वाणां, एकस्मिन् क्षणे दृष्टं द्वितीये क्षणे नष्टं इतीदृग्विधं विदधतीति ।।३७।।

सत्यं सा बहुरूपिणी समभवत् सिद्धिस्वरूपा भव-
त्कीर्त्तिः श्रीरघुवंशरत्न विमला जागर्त्ति विश्वोदरे ।
क्ष्मापारे रिपुमन्दिरे नृपपुरे रत्नाकरे निर्झरे,
कान्तारे गिरिशेखरे विषधरागारे तथैवाम्बरे ।।३८।।

(कीका०)--सत्यं सेति । हे रघुवंशरत्न ! रघुकुलालङ्कार ! सत्यं–निश्चितं सा योगित्वेन[2] सिद्धस्वरूपा–परिपक्वयोगा अत एव विमला–अभिजातमणिरिव स्वच्छा मुदिता जाता । भवत्कीर्त्तिर्विश्वोदरे जागर्त्ति–विश्वमध्ये जागरूका वर्त्तते, अत एवोक्तम्—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्त्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।।

इति । सिद्धस्वरूपत्वमेव द्योतयितुं विशिनष्टि—बहुरूपिणीति । विश्वव्यापित्वेन नानारूपवती, अत एतदप्युक्तम्—

योगी योगबलं प्राप्य बहुरूपाणि धारयेत् ।
भुंक्तेऽपि विषयान् कैश्चित् कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत् ।।
संहरेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव ।

इति, विश्वोदरसामान्येनोक्तमधिकरणं विभज्य दर्शयति—क्ष्मापार इत्यादिना । क्ष्मा–पृथ्वी तस्याः पारः–समाप्तिस्तत्र पृथ्व्यन्ते इत्यर्थः । नृपमन्दिरे–अखण्डमण्डलाधिपगृहे रिपुपुरे–शत्रुभूतनृपनगरेषु रत्नाकरे–समुद्रेऽपि निर्झरे–नदीप्रस्रवणादिषु कान्तारे–वनमध्येऽपि तदधिदेवताभिर्गीयमानत्वात् गिरिशेखरे–पर्वताग्रेऽपि पार्वतीयपक्षगुह्यकादेर्विजितत्वात् विषधराः–सर्पास्तदागारं–पातालमम्बरं–आकाशं तत्रापि जागर्त्ति व्योमचारिभिः सिद्धैर्गीयमानत्वात् ।।३८।।

(गुण०)—सत्यमिति । हे श्रीरघुवंशरत्न ! सा भवत्कीर्त्तिः–त्वद्यशः सिद्धिस्वरूपा–

१–१. हं० पुनः किम्भूतः । २. ब. योगिनीत्वेन ।

विद्यासिद्धा बहुरूपिणी बहूनि रूपाणि सन्त्यस्या इति बहुरूपिणी–नानारूपत्वेन विश्वव्यापिनी समभवत्–जाता। यतो ऽन्यापि या योगिनी सिद्धिस्वरूपा भवति सा बहूनि रूपाणि कुरुते तथेयमपीति सम्बन्धः। अथ बहुरूपत्वमेव तस्या व्यनक्ति—विमला–निर्मला भवत्कीर्त्ति-र्विश्वोदरे–विश्वमध्ये जागर्त्ति, तथा क्ष्मापारे–पृथ्व्याः परपारे जागर्त्ति, तथा रिपुमन्दिरे जागर्त्ति, सर्वत्रापि त्वत्कीर्त्तेः सद्भावात्। तथा नृपपुरे–सकलसपक्षधरणीधवनगरे जागर्त्ति, तथा रत्नाकरे–समुद्रे जागर्त्ति, तथा निर्झरे–गिरिविवरनिस्सरन्नीरप्रवाहे जागर्त्ति, तथा कान्तारे–ऽरण्ये जागर्त्ति, तथा गिरिशेखरे–पर्वतावतंसे जागर्त्ति, तथा विषधरागारे–पाताले जागर्त्ति, तथैवाम्बरे–नभसि जागर्त्ति। किल योगिन्यपि यथा सिद्धा गिरिदर्यादिषु स्वकामचारिणी स्यात्तथा भवत्कीर्त्तिरपीति भावः ॥३८॥

कीर्त्तिः श्रीरघुवंशदीप ! भवतो दूती मुरारेः प्रियां,
यस्मात्तुभ्यमदात्तदादि गिरिशोऽभूदर्द्धनारीश्वरः।
ब्रह्माऽभूच्चतुराननः सुरपतिश्चक्षुःसहस्रं दधौ,
स्कन्दो मन्दमतिश्चकार न करस्पर्शं स्त्रियाः शंकितः ॥३९

(कीका०)–कीर्त्तिरिति। हे श्रीरघुवंशदीप ! सदा लक्ष्म्यासेवित-रामचन्द्र ! भवतः कीर्त्तिरेव दूती यस्मान्मुरारेः–विष्णोः प्रियां–लक्ष्मीं तुभ्यमदात्–भवते दत्तवती, तव कीर्त्तिदूत्या वशीकृत्य विष्णुप्रियालक्ष्मीस्तुभ्यं समर्पितेति भावः। लक्ष्म्या ह्यवतारान्प्रकृत्य स्मर्यते—'राघवत्वेऽभवत् सीता रुक्मिणी कृष्णजन्मनि' इति। ततः किमित्याकांक्षायामाह—तदादीति। तुभ्यं मुरारेः प्रिया समर्पणकालादारभ्य स्त्रियाः सकाशाच्छंकितो ममापि स्त्रियमियं कीर्त्तिदूती प्रायः ऽपहरेदिति चकितो गिरिशः–शिवोऽर्द्धनारीश्वरोऽभूत्, ऽर्द्धो नारी यस्य तादृश ईश्वरो जायां रक्षितुमुद्युक्तोऽजनीत्यर्थः। न ह्यर्द्धशरीरे संत्यज्य तया यातुं शक्यत इति भावः। तथा चतुर्दिक्षु ऽवधानार्थं ब्रह्मा चतुराननः–स्त्रियं रक्षितुं चतुर्मुखोऽभूत्। सुरपतिः–देवेन्द्रस्तु विशेषतः स्त्रीलम्पटत्वाच्चक्षुः-सहस्रं दधौ, नाऽस्य स्वाभाविकी सहस्रनेत्रतेति भावः। स्त्रियाः शंकित इति सर्वत्रान्वेति हेतुगर्भत्वात् विशेषणस्य। तथा स्कन्दः–कार्त्तिकेयः शंकितः सन्-मन्दमतित्वात् स्त्रियाः करस्पर्शमेव न चकार, नैष्ठिक एवाभवदित्यर्थः। मन्द-मतिरिति विशेषणेन 'रजसा शुद्ध्यते नारी'त्यादि स्मार्त्तशास्त्रमनुगृह्णन् स्वयं प्राप्तसकामस्त्रीपरिहाराभावं सूचयति। वामदेव्यसामोपास्ति प्रकृत्य छान्दोग्ये श्रवणात्, तथाहि—'न काञ्चनं परिहरेत् तद्व्रतम्' इति ॥३९॥

(गुण०)–कीर्त्तिरिति। हे रघुवंशदीप ! भवतः–तव कीर्त्तिरूपा दूती मुरारेः–विष्णोः

प्रियां–लक्ष्मीं यस्माद्धेतोस्तुभ्यं आदात्–ददौ । तदादि–तत्प्रभृति गिरिशः–महेशः अर्द्धनारीश्वरो बभूव । महेश्वरेण इत्यर्तकि—यद्यहं उमां स्वपार्श्वे न स्थापयिष्यामि तदेयं कीर्त्तिदूती लक्ष्मीमिव अपहृत्य मम कामिनीं–गौरीमपि रामाय प्रदास्यतीति भिया स्वांग एव गौरी स्थापिता, तत्प्रभृति अर्द्धनारीश्वरो हर इति ख्यातिः। तथा ब्रह्मा चतुराननः–चतुर्मुखस्तत्प्रभृति अभूत्, स्वपत्नीरक्षणार्थं चतसृष्वपि दिक्षु ब्रह्मणा आननानि निर्ममिरे[1]। तथा सुरपतिः–इन्द्रश्चक्षुषां–नेत्राणां सहस्रं तत्प्रभृति दधौ–बभार, सोऽपि स्वरम्भाणां असमञ्जसा रम्भादम्भस्तम्भनार्थं तत्प्रभृति सहस्रं चक्षुषां चकार, यतो बहूनि चक्षूंषि मम चेद् भवन्ति तदा स्वाप्सरसः प्रलोभ्यापहर्त्तुमागच्छन्तीं कीर्त्तिदूतीमवलोकयामीति हेतोर्नेत्रसहस्रं चक्रे। तथा स्कन्दः–कुमारः शङ्कितः[2] शङ्का जाताऽस्येति शङ्कितः–स्वकीर्त्तिदूतीभयविह्वलः सन् स्त्रियाः करस्पर्शं–पाणिग्रहणं न चकार, चेदहं कृच्छ्रेण प्राक् स्त्रियं परिणेष्यामि तथापि तदपहरणे मम तस्या वियोग एव भावी, ततः किमनेन परिणयनारम्भणेति विचार्य तत्प्रभृति कुमारः कुमार एवावस्थित इति। किंविशिष्टः ? मन्दमतिः मन्दा–स्त्रीविवाहं प्रत्यलसा मतिर्यस्य सः मन्दमतिः ॥३९॥

कीर्तिस्तव क्षितिप याति भुजङ्गगेहं,
मातङ्गसङ्गमकरी च दिगन्तकेषु।
त्यक्त्वाम्बरं भजति नन्दनमप्यगम्यं,
किं किं करोति न निरर्गलतां गता स्त्री ॥४०॥

(कीका०)—कीर्तिस्तवेति। प्रक्षिप्तोऽपि व्याख्यायते। हे क्षितिप ! रामभूप ! तव कीर्त्तिर्भुजङ्गगेहं–पातालं याति । श्लेषस्तु भुजेन कौटिल्येन गच्छतीति भुजङ्गो विटस्तद्गृहं कीर्त्तिकामिनी गच्छतीति। अन्यच्च दिगन्तरेऽपि पूर्वादिदिग्मध्येऽपि मातङ्गसंगमकरी–ऐरावणादिदिग्गजैः संगता. श्लेषस्तु मातङ्गः–मत्तः तत्सम्भोगनिरता। दिगन्तरे चतुर्दिक्ष्वपि किञ्चाम्बरं–सर्वं व्योम परित्यज्य अगम्यं–दुःकृतिना गन्तुमशक्यं नन्दनं–देवोद्यानमपि व्रजति, श्लेषस्तु अम्बरं–वस्त्रं त्यक्त्वा अगम्यं धर्मशास्त्रेण निषिद्धगमनमपि नन्दनं–पुत्रं व्रजति–यभत इत्यर्थः। आः सत्यमेतत्, निरर्गलतां गता स्त्री किं किमकर्त्तव्यं न करोति, अपि तु सर्वमपीति काकुः। निर्गता अर्गला–परिघो यस्याः सा निरर्गला तस्या भावस्तत्ता ताम्। अनिवारितत्वात् तव कीर्तिकामिनी सर्वत्र प्रविष्टेति भाव ॥४०॥

---

१. हं० निर्ममे। २. हं० शंकितः पूजितः।

(गुण०)—कीर्त्तिस्तवेति । हे क्षितिप ! हे भूपते ! श्रीराम ! तव कीर्त्तिर्भुजङ्गगेहं—नागलोकं पातालं याति, तत्र त्वत्कीर्त्तिरस्तीति भावः । च—पुनः त्वत्कीर्त्तिर्दिगन्तकेषु—दिक्पर्यन्तेषु मातङ्गसङ्गमकरी मातङ्गानां—ऐरावत-पुण्डरीक-वामन-कुमुदाञ्जन-पुष्पदन्त-सार्वभौम-सुप्रतीकलक्षणानामष्टानां गजानां संगमं—संयोगं कर्त्तुं शीलमस्या इति मातङ्गसंगमकरी, तत्रापि त्वत्कीर्त्तेर्भावादिति विशेषणत्वेन त्वत्कीर्तेस्तिर्यग्लोकान्तगामित्वमाह । तथाऽम्बरं—आकाशं त्यक्त्वा—मुक्त्वा अगम्यं—गन्तुमशक्यमपि नन्दनं—नन्दनाभिधानं सुरालयवनं भजति—समाश्रयते, एतावता चास्याः स्वर्लोकेऽपि संजातप्रसरत्वमसूचि । तथा च जगत्त्रयव्यापित्वं त्वत्कीर्त्तेः कीर्त्तयन्ति कवय इति भावः । अथ नर्मलीलयोपनयलालित्यमाह—निरर्गलतां—उच्छृंखलतां गता—प्राप्ता स्त्री किं किं न करोत्यपि तु सर्वमपि करोति । यतः, एकं तु स्त्री स्वाभाविकचपलत्ववत्यपरं निरर्गला—निरंकुशा सर्वत्र प्रसरणशीला अतस्तस्या अकृत्यकरणं न किञ्चिदसम्भाव्यं । अथ तत्कृत्यमेव विशेषणैः प्राह—साऽपि भुजङ्गगेहं[1]—गणिकापतिसदनं याति, तथा दिगन्तकेषु—दिक्पर्यन्तेषु दिग्जनप्रदेशेषु गत्वा मातङ्गसङ्गमकरी—चाण्डालसङ्गमकारिणी भवति, तथा अम्बरं—वस्त्रं त्यक्त्वा अगम्यमपि गमनानर्हमपि नन्दनं—पुत्रं रिरंसया भजति—सेवते, तथेयं त्वत्कीर्त्तिरपि । अत्रायं भावः, उच्छृंखलस्त्रीव भवत्कीर्त्तिः सर्वत्रापि प्रयातीत्यर्थः ॥४८॥

श्रीराम ! त्वदनेकचित्रचरितप्रोद्दामकीर्त्तिश्रुति-
　　प्रह्लादादवधूतमूर्ध्नि सकलत्रैलोक्यलोकेऽपि[2] यत् ।
अश्रोत्राः फणिनस्तदेतदुचितं नो चेदहिस्वामिना,
　　व्याधूते शिरसि क्व भूः क्व गिरयः क्वामी दिशामीश्वराः ॥४९॥

(कीका०)—श्रीरामेति । हे श्रीयुक्तराम ! त्वदनेकचित्रचरितप्रोद्भूतकीर्त्तिश्रुतिप्रह्लादात् निखिलत्रैलोक्यलोकेऽपि अवधूतमूर्ध्नि सति तदेव रुचिरं—साधुजातं यत् फणिनः—सर्पा अश्रोत्राः—कर्णरहिताः सन्तीति चित्राणि—विचित्राणि सेतुबन्धमृतपुत्रानयनादीनि च तानि चरितानि च चित्रचरितानि, अनेकानि—असंख्यानि च तानि च चरितानि च अनेकचित्रचरितानि, तव सम्बन्धीनि च तान्यनेकचित्रचरितानि च, ततः प्रोद्भूता—समुत्पन्ना या कीर्तिस्तस्याः श्रुतिः—श्रवणं तत्प्रभवो यः प्रह्लादः—अतिहर्षस्तस्मात् अवधूता—आन्दोलिता मूर्धानो येन स तस्मिन् तथा[3] । त्रैलोक्यान्तर्गतो लोकस्त्रैलोक्यलोकः निखिलः—निरवशेषश्चासौ त्रैलोक्यलोकश्च तस्मिन् । न विद्यते श्रोत्रे एषां ते अश्रोत्रास्तदभावोत्र नञर्थः । फणाः सन्त्येषां फणिनः, फणिनां श्रोत्रसद्भावलक्षणे विपक्षे बाधमाह नो चेदिति ।

१. हं० भुजंगगेहं भुजंगानां गेहं भुजंगगेहं । २. कीकामते तु—निखिलत्रैलोक्यलोकेऽपि । ३. ब. 'तथा' नास्ति ।

यदि फणिनां श्रोत्राणि अभविष्यन् तर्हि त्वत्कीर्तिश्रवणाश्चर्यवशेन अहिस्वामिना—शेषनागेन शिरसि—फणामण्डले व्याधूते—आन्दोलिते सति क्व भूरभविष्यत्, क्व च गिरयः—मेर्वाद्याः पर्वता अभविष्यन्, कुत्र वा अमी दिशामीश्वराः—इन्द्राद्या दिक्पतयः आस्थास्यन् ब्रह्माण्डस्यावधूतत्वादिति भावः ।।४१।।

(गुण०)—श्रीराम त्वदनेकेति । हे श्रीराम ! सकलत्रैलोक्यलोकेऽपि—समस्तत्रिजगज्जनेऽपि त्वदनेकचित्रचरितप्रोद्दामकीर्त्तिश्रुतिप्रह्लादात् तव अनेकानि—अनल्पानि यानि चित्रचरितानि—आश्चर्यकृत्यानि तैः प्रोद्दामा—उत्कटा या कीर्त्तिस्तस्या या श्रुतिः—श्रवणं तस्याः समुत्पन्नो यः प्रह्लादस्तस्मात् अवधूतमूर्ध्नि अवधूतः—कम्पितो रामकीर्त्तिश्रवणात् मूर्धा—शिरो येन स तस्मिन् जाते सति, यत् फणिनः—सर्पा अश्रोत्राः—कर्णरहिता जाताः, तदेतदुचितं—युक्तमित्यर्थः । अथ किमर्थं तेषां अश्रोत्रत्वमुचितमित्याह—नो चेदिति । चेद् यदि ते फणिनो अकर्णा न अभविष्यन् तदा अहिस्वामिना—शेषाहिना त्वद्गुणकीर्त्तिश्रवणात् अन्यलोकवत् शिरसि व्याधूते—कम्पिते सति इयं भूः—भूमिः क्वाऽभविष्यत्—कुत्राऽस्थास्यत्, तथा अमी गिरयः—कनकाचलाद्याः क्वाऽभविष्यन्, तथा अमी दिशामीश्वराः—दिक्पालाः क्वाऽभविष्यन्, यतः सर्वेषामपि भूम्याश्रितत्वात् तच्छेषशिरोवधूनने च भूमेः पात एव स्यात्, तत्पाते च तेषां गिर्यादिवस्तूनां क्वावस्थानं भवेदिति भावः ।।४१।।

एकं काञ्चनभूधरं सुवलयं वासः सुधावारिधिं,
तारं तारकराजमण्डलमिदं सम्प्राप्य सत्कुण्डलम् ।
दूरस्थाऽपि च तेन तेन सदृशं त्वां भूषणं चापरं,
स्त्रीमानग्रहिलेव[1] याचतितरां श्रीरामकीर्त्तिस्तव ।।४२।।

(कीका०)—एकमिति । हे श्रीराम ! तव कीर्त्तिरेकं काञ्चनभूधरं—मेरुलक्षणं सुवलयं—साधुकङ्कणं प्राप्य, तथा सुधावारिधिं—क्षीरसागररूपं वासः—वस्त्रं प्राप्य, तथा तारं—उज्ज्वलं तारकराजमण्डलं—चन्द्रबिम्बरूपमिदं प्रत्यक्षं सत्कुण्डलं—शोभनकर्णाभरणं सम्प्राप्य दूरस्था—दूरे वर्त्तमानाऽपि सती तेन पूर्वे प्राप्तेन[2] सदृशं—तुल्यं भूषणं—आभरणं [3]पुनर्याचतितरां—अतिशयेन प्रार्थयते । कीदृशी कीर्त्तिः ? उत्प्रेक्षते—स्त्रीभावग्रहिलेव स्त्रियो हि भावारूढा वस्तुयाथातथ्यं न विचारयन्ति ।।४२।।

(गुण०)—एकं काञ्चनमिति । हे राम ! तव कीर्त्तिर्दूरस्थाऽपि—दिक्पर्यन्तं प्राप्ताऽपि त्वां प्रति तेन तेन काञ्चनभूधरादिना सदृशं—समानं अपरं भूषणं—अन्यन्मण्डनं स्त्रीमान-

---

१. ब. कीकामते तु—भावग्रहिलेव । २. ब. पूर्वप्राप्तेन । ३. ब. त्वां प्रति पुनः ।

ग्रहिलेव स्त्रिया यो मानः–स्वपतिसौभाग्यसुरूपत्वादिगर्वस्तेन ग्रहिला–ग्रहगृहीता, ग्रहाद्यपस्मारपरवशेत्यर्थः। इवेति उत्प्रेक्षायाम्। याचतितरां अतिशयेन याचतीत्यर्थः। अन्यापि मानिनी या मानग्रहिला भवेत् सा विदेशस्थापि स्वपतिं प्रभविष्णुं तत्तत् वस्तु याचते यद् भूमण्डलेऽपि नाप्यते तथेयमपि कीर्त्तिरपरं भूषणं याचते। किं कृत्वा ? एकं–असहायं काञ्चनभूधरं–स्वर्णाद्रिं सुवलयं–शोभनकटकं सम्प्राप्य, यतो हे स्वामिन् ! ममैकः काञ्चनगिरिर्दक्षिणे करे कटकोऽस्ति परं वामे पाणौ न तत्कङ्कणमस्तीति, तदभावे एकनेत्राञ्जनवत् न शोभते पाणी, अतोऽपरं भूषणं वलयाख्यं मह्यं देहीति प्रार्थयते कीर्त्तिः। पुनः किं कृत्वा ? एकं सुधावारिधिं–क्षीरसमुद्रं वासः–वस्त्रं सम्प्राप्य, अपरं–तत्समं वासो याचते, यतो न ह्येकं वासः उपर्यधश्च अङ्गे परिधातुं शक्यते अतोऽपरं तत्समं वासो याचते। तथा पुनः किं कृत्वा याचतितराम् ? इदमेकं तारकराजमण्डलं तारकाणां राजा तारकराजः 'राजाहः सखिभ्यष्टच्' इति टच्, तस्य मण्डलं तारकराजमण्डलं[1] सत्कुण्डलं सम्प्राप्यैतच्चन्द्रसमानमपरं कुण्डलं याचतितराम्। किम्भूतं तारकराजमण्डलम् ? तारं–उज्ज्वलं सकलकलाभिः सम्पूर्णमिति। ग्रहिलेति ग्रहश्चेतसोऽसन्निबंन्धः सोऽस्यास्तीति अस्त्यर्थे पिच्छादित्वादिलच् प्रत्ययस्तद्धितः ॥४२॥

पूर्णेन्दुः करकन्दुको हिमगिरिः क्रीडाविहारस्थली,
क्षीराब्धिर्गृहदीर्घिका प्रियसखी वाचाम्पतिर्देवता।
शय्या दिग्गजराजदन्तवलभी त्वत्कीर्त्तिकन्याकृते,
पाञ्चालीमिथुनं व्यधायि विधिना गौरीगिरीशावपि ॥४३॥

(कीका०)–पूर्णेन्दुरिति। हे श्रीराम ! त्वत्कीर्त्तिकन्याकृते तव कीर्त्तिरेव कन्या तस्याः कृते–तत्क्रीडार्थं विधिना–ब्रह्मणा पूर्णेन्दुः–पूर्णिमाचन्द्रः करकन्दुकः–करग्राह्यक्रीडासाधनविशेषो व्यधायि–कृतः। वीरग्रथितः कन्दुकः प्रस्तरखण्डो वा, प्रस्तरखण्डपञ्चकेन हि बालिकाः क्रीडन्तीति लोकप्रसिद्धिः। तथा हिमगिरिः–हिमाचलो लीलाविहारस्थली व्यधायि लीलया विहारः–क्रीडा तदर्था स्थली–अकृत्रिमभूमिः। अकृत्रिमेऽर्थे हि 'जनपदे'त्यादिना ङीप् स्मर्यते। तथा क्षीराब्धिः–क्षीरसागर एव गृहदीर्घिका–क्रीडावापी व्यधायि विधिनेत्येव। वाचाम्पतिः–वागीश्वरी देवता–सरस्वती प्रियसखी व्यधायि–विधिना कृता। दिग्गजराजदन्तवलभी दिशां गजराजा–ऐरावणादयस्तेषां दन्तवलभी–दशनाग्रभूमिरेव शय्या व्यधायि। गौरीगिरीशावपि–उमामहेश्वरौ च पाञ्चालीमिथुनं व्यधायि–विधिना कृतं, बालिकारचितवस्त्रपुत्रिका 'पाञ्चाली'त्युच्यते। पाञ्चाली च पाञ्चाली द्रौपदी

---

१. हं० तारकराजमण्डलं चन्द्रमण्डलं।

सा यथा पञ्चकृत्वः परिणीताऽपि कन्यैवावस्थिता, तद्वद्विवाहादिक्रीडार्थं पुनः पुनः साधनीभूतेत्यर्थः। पूर्णचन्द्रादीनि उज्ज्वलतैकदेशेन कीर्तिसमवायीनि वर्ण्यन्त इति समस्तार्थः ॥४३॥

(गुण०)—पूर्णेन्दुरिति । हे राम ! त्वत्कीर्त्तिकन्याकृते तव कीर्त्तिः–यशः त्वत्कीर्त्तिः त्वत्कीर्तिरेव कन्या त्वत्कीर्त्तिकन्या तस्याः कृतेः तदर्थं विधिना-ब्रह्मणा पुर्णेन्दुः–परिपूर्णचन्द्रमाः करकन्दुकः करे कन्दुकः–गेन्दुकः करकन्दुकः व्यधायि-चक्रे। अन्यस्या अपि बालिकायाः क्रीडार्थं कन्दुकः करे प्रदीयते तथैतस्या अपीति। तथा त्वत्कीर्त्तिकन्याकृते विधिना हिमगिरिः–हिमाचलः क्रीडाविहारस्थली–क्रीडाविहारार्थं स्थली–अकृत्रिममरुभूमिः क्रीडाविहारस्थली व्यधायि। तथा तथैव विधिना तस्याः कीर्त्तिकन्याया निमित्तं क्षीराब्धिः क्षीरोपलक्षितो अब्धिः क्षीराब्धिः–[1]क्षीरसमुद्रः गृहदीर्घिका–गृहवापी व्यधायि। तथा पुनर्विधिना त्वत्कीर्त्तिकन्याया अर्थे वाचाम्पतिः–सरस्वतीदेवता प्रियसखी प्रिया चासौ सखी च प्रियसखी–वल्लभाली व्यधायि। तथा त्वकीर्त्तिकन्याकृते विधिना दिग्गजराजदन्तवलभी दिक्षु ये गजराजा दिग्गजराजास्तेषां या दन्तवलभी–दशनाग्रभूमिः[2] सा शय्या व्यधायि। तथा त्वत्कीर्त्तिकन्यार्थं क्रीडायै गौरीगिरीशावपि गौरी च गिरीशश्च गौरीगिरीशौ तावपि उमामहेश्वरौ इत्यर्थः, पाञ्चालीमिथुनं–पुत्रिकायुगलं विधिना व्यधायि ॥४३॥

इन्दोर्लक्ष्म त्रिपुरजयिनः कण्ठमङ्गं मुरारे-
दिङ्नागानां मदमलमषीभाञ्जि गल्लस्थलानि।
अद्याप्युर्वीवलयतिलकश्यामलिम्नानुलिप्ता-
न्युद्भासन्ते वद धवलितं किं यशोभिस्त्वदीयैः ॥४४॥

(कीका०)—इन्दोर्लक्ष्मेत्यादि। क्षेपकः। चन्द्रलक्ष्मनीलकण्ठमुरारिवपुर्दिग्गजगण्डस्थलादौ कालिमा चेद् विद्यते तर्हि त्वद्यशोभिः किं श्वेतकृतमिति[3] तस्यार्थः ॥४४॥

(गुण०)—इन्दोर्लक्ष्मेति। हे उर्व्वीवलयतिलक ! उर्वीवलये तिलकमिव यः स उर्वीवलयतिलकस्तस्य सम्बुद्धौ हे उर्वीवलयतिलक ! राम ! त्वं वद, त्वदीयैर्यशोभिः किं धवलितं–किं पाण्डुरितं, न किमपीत्यर्थः। कथं न पाण्डुरितमित्याह—इन्दोः–चन्द्रस्य लक्ष्म–चिह्नं, तथा त्रिपुरजयिनः ईश्वरस्य कण्ठं–गलः, तथा मुरारेः–कृष्णस्य अङ्गं–शरीरं, तथा दिङ्नागानां–दिग्गजानां मदमलमषीभाञ्जि मद एव मला-मलिना मषी मदमलमषी तां भजन्ते यानि तानि मदमलमषीभाञ्जि गल्लस्थलानि। अद्याप्येतानि पूर्वोक्तानि वस्तूनि श्याम-

---

१–१. हं० क्षीरोपलक्षितोऽब्धिः क्षीराब्धिः' नास्ति। २. हं० दशनाग्रभमिरिति पूर्ववृत्तिकृत स। ३. ब. श्वेतीकृतमिति।

लिम्ना–श्यामत्वेन अनुलिप्तानि–आश्लिष्टानि उद्भासन्ते–शोभन्ते, अद्यापि कृष्णानि वर्तन्त इत्यर्थः । अतस्त्वद्यशोभिः किं धवलितमिति ॥४४॥

वीर ! क्षीरसमुद्रसान्द्रलहरीलावण्यलक्ष्मीमुष-
　　स्त्वत्कीर्त्तेस्तुलनां कलङ्कमलिनो धत्ते कथं चन्द्रमाः ।
स्यादेवं त्वदरातिसौधवलभीप्रोद्भूतदूर्वाङ्कुर-
　　ग्रासव्यग्रमतिः पतेद् यदि पुनस्तस्याङ्कशायी मृगः ॥४५॥

(कीका०)—वीरेति । हे वीर ! सुभट ! त्वत्कीर्तिस्तुलनां–साम्यं चन्द्रमाः कथं धत्ते[1] । साम्याभावद्योतनायोभयं विशिनष्टि—क्षीरेति । क्षीरसमुद्रस्य सान्द्रलहरीणां या लावण्यलक्ष्मीः–सौन्दर्यशोभा तां मुष्णाति–अपहरति या त्वत्कीर्त्तिः सा क्षीरसमुद्रसान्द्रलहरीलावण्यलक्ष्मीमुट् तस्याः । चन्द्रस्तु कलङ्कमलिन इति निःकलङ्ककीर्त्या सह साम्यलेशाभाव इत्यभिप्रायः । अभूतोपमाया उपपादनाय प्रयतते स्यादेवमिति । एवं चेत्तर्हि उपमा स्यादप्येवं कथमिति, तदाह—यदीति । यदि पुनस्तस्य चन्द्रस्याङ्कशायी मृगस्त्वदरातिसौधशिखरप्रोद्भूतदूर्वाङ्कुरग्रासव्यग्रमतिः सन् पतेद्–अधःस्रंसेदिति सम्भावने लिङ् । तवारातयः–शत्रवस्त्वदरातयस्तेषां सौधशिखराणि–हर्म्याग्राणि तेषु शून्यत्वात् प्रोद्भूता–उत्पन्ना ये दूर्वाङ्कुरास्तेषां ग्रासे व्यग्रा मतिर्यस्य स तथा । व्यग्रमतिर्हि पतत्येवेति कलङ्कशून्येन चन्द्रेणोपमासम्भव इति भावः ॥४५॥

(गुण०)—वीरक्षीरेति । हे वीर ! श्रीराम ! कलङ्कमलिनश्चन्द्रमाः त्वत्कीर्त्तेः–तव यशसः तुलनां–साम्यं कथं धत्ते–बिभर्त्ति । यतश्चन्द्रः कलङ्ककलुषितोऽतः क्व साम्यमश्नुवीत । किंविशिष्टायास्त्वत्कीर्त्तेः ? क्षीरसमुद्रसान्द्रलहरीलावण्यलक्ष्मीमुषः क्षीरसमुद्रस्य सान्द्राः–घना[2] या लहर्यः–कल्लोलास्तासां या लावण्यलक्ष्म्यः–सुभगत्वश्रियस्ता मुष्णाति या सा क्षीरसमुद्रसान्द्रलहरीलावण्यलक्ष्मीमुट् तस्याः । अथ प्राप्नुयादपि साधर्म्यं चेदेवं स्यात्तदाह—यदि पुनस्तस्य चन्द्रमसः अङ्कशायी अङ्के–उत्सङ्गे शेते इत्येवंशीलः अङ्कशायी मृगस्त्वदरातिसौधवलभीप्रोद्भूतदूर्वाङ्कुरग्रासव्यग्रमतिः तव ये अरातयः–वैरिणस्त्वदरातयस्तेषां या सौधवलभ्यः [3]'वलभीवेश्माग्रभूमिभागः इत्युणादौ'[3] राजमन्दिरवेदिकास्तासु प्रोद्भूता–उद्गता ये दूर्वाङ्कुरास्तेषां यो ग्रासस्तत्र व्यग्रा–व्याकुला मतिर्यस्य स, ईदृग्विधः सन् पतेद्, वैरिगृहवलभीसञ्जातदूर्वांकुरग्रासलोलुपतया यदि भूमण्डले समागच्छेत्तदा तस्य चन्द्रस्य निःकलङ्कता स्यात्, ततस्त्वत्कीर्त्तेः साम्यं चन्द्रः समासादयेदिति । इत्यनेन त्वत्प्रतापात् सर्वेऽपि

---

१. व० धत्ताम् ।　२. हं० सघना ।　३–३. हं० नास्ति पाठः ।

अरातयो नष्ट्वा दिक्पर्यन्तं गतास्ततस्तद्गृहाणि शून्यानि वर्तन्ते, अत एव दूर्वांकुराणां तत्रोत्पत्तिर्घटत इति भावः ।।४५।।

गङ्गीयत्यसितापगां फणिगणं[1] शेषीयति श्रीपतिं,[2]
श्रीकण्ठीयति कैरवीयति कुलं नीलोत्पलानां वने ।
कर्प्पूरीयति कज्जलं पिककुलं लीलामरालीयति,
स्वःकुम्भीयति कुम्भिनामपि घटां[3] त्वत्कीर्त्तिसंघट्टतः ।।४६।।

(कीका०)—गङ्गीयतीति । हे राम ! त्वत्कीर्त्तिसंघट्टतः—तव यशःसम्पर्कादेतान्यसितानि सितायन्त इति समस्तार्थः । विविच्याह—असितापगा—श्यामापि यमुना गंगीयति त्वद्यशोधवलिता सती गंगेवाचरतीत्यर्थः । तथा फणिगणः—कृष्णवर्णोपि समूहः शेषीयति—शेषाहिरिव उज्ज्वलतया आचरति । तथा श्रीपतिः—कृष्णः श्रीकण्ठीयति—सदाशिव इव सर्वाङ्गेषु औज्ज्वल्यं भजत इत्यर्थः । अपरं नीलोत्पलानां—श्यामकमलानां कुलमपि कैरवीयति—कुमुदायते, पाण्डुरत्वमाश्रयतीत्यर्थः । तथा कज्जलं कर्पूरीयति तव यशसा अञ्जनमपि कर्पूरमिवाभाति । पिककुलं—कोकिलसमूहोऽपि लीलामरालीयति—क्रीडार्थहंसायते, श्यामा अपि कोकिला हंसा इव भान्ति । अपरं कुम्भिनामपि घटा—गजपटलमपि स्वःकुम्भीयति स्वः—स्वर्गस्तस्य कुम्भीः—ऐरावणः स इवाचरति, स्वभावश्यामा अपि सर्वगजा ऐरावणधवलभावं भजन्त इत्यर्थः । एवं सर्वमनुक्तमपि श्यामवर्णं त्वद्यशसा धवलितमिति भावः ।।४६।।

(गुण०)—गङ्गीयेति । हे राम ! त्वत्कीर्त्तिसंघट्टतः—त्वद्यशःसंयोगात् असितापगां-यमुनां गङ्गीयति—गङ्गामिवाचरति गङ्गीयति, सर्वत्र सर्वोऽपि जन इत्यध्याहारः कर्त्तव्यः[4] । तथा फणिगणं—कृष्णसर्पसमूहं शेषीयति—शेषमिवाचरति शेषीयति, तस्य श्वेतत्वात् तदाभासतेति । तथा श्रीपतिं—विष्णु श्रीकण्ठीयति—श्रीकण्ठमिवाचरति श्रीकण्ठीयति, हरेः—कृष्णस्यापि त्वत्कीर्त्या हरवद् श्वेतता भासत इति । तथा जले नीलोत्पलानां नीलकमलानां कुलं-समूहं कैरवीयति—कैरवमिवाचरति कैरवीयति—कुमुदायते । तथा कज्जलं-अञ्जनं कर्पूरीयति—कर्पूरमिवाचरति कर्पूरीयति[5] । तथा पिककुलं-कोकिलव्रजं लीलामरालीयति—लीलाया यो मरालः—हंसः लीलामरालः, स च लीलया पुनः पुनः पक्षयोः करस्पर्शादिना अपनीतरजः, अत एवाधिकश्वेतकान्तिस्तमिवाचरति लीलामरालीयति । तथा कुम्भिनां—हस्तिनां घटामपि स्वःकुम्भीयति स्वःकुम्भी—ऐरावणस्तमिवाचरति स्वःकुम्भीयति, हस्तिनः सामान्यतः कृष्णा भवन्ति

१. कीकामते तु—गंगीयत्यसितापगा । २. कीकामते तु—श्रीपतिः । ३. कीकामते तु—घटा । ४. हं० 'कर्त्तव्यः' नास्ति । ५. हं० सुब आत्मनः ।

परं त्वत्कीर्त्तियोगात् करिघटापि ऐरावणवज्जातेति भावः। अत्र त्वत्कीर्त्तिसङ्घट्टतः इति सर्वत्र योज्यम्। 'उपमानादाचारः' इति आचारार्थे क्यच् स्याद् वा क्यचि चेत्यवर्णस्य ई आदेशे च गङ्गीयत्यादि सिद्धम्। अत्र गङ्गायत्यसितापगेति पाठे गङ्गेवाचरतीत्येवं प्रोच्यमाने 'कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्च' इति सूत्रेण गङ्गायते इति सिद्धयेन्न तु गङ्गीयतीति। अत्र सिद्धयेच्चेत् तदेत्थ—'सुपमात्मनः क्यच्' इति क्यचि प्रत्यये क्यचि चेत्यनेनावर्णस्य ईयादेशे[1] च आत्मनो गङ्गामिच्छतीत्येवं सिद्धयेत्। अतोऽत्र यो युक्तः पाठः स उभयत्र तदर्थोपपद्यमानत्वावलोकनेन ग्राह्यः ॥४६॥

कीर्त्तिः श्रीरघुवंशरत्न ! भवतः स्वर्वाहिनीगाहिनी,
दिक्पालान् परितः परीत्य दधती पाण्योः प्रतापानलम्।
सप्ताम्भोनिधिमण्डलान्यधिगता त्वय्येकपत्नीव्रत-
ख्यात्यै विष्णुपदं स्पृशत्यनुदिनं शेषस्य शीर्षाण्यपि ॥४७॥

(कीका०)—कीर्तिरिति। हे श्रीरघुवंशरत्न ! भवतः कीर्त्तिस्त्वयि विषये एकपत्नीव्रतख्यात्यै एकः पतिर्यस्याः सा एकपत्नी, "पत्युर्नो यज्ञसंयोगे" इति ङीप्। एकपत्न्याः पतिव्रताया व्रतं एकपत्नीव्रतं तस्य ख्यात्यै—ज्ञापनाय दिव्यार्थप्रवृत्ता कामिनी चानुपदं—वारं वारं विष्णुपदं विष्णोः—त्रिविक्रमस्य पदं—आकाशं स्पृशति। [2]ब्रह्मपादमिति पाठे ब्रह्मणो बृहतः शब्दराशेः पदं—स्थानं उपनिषदस्य वा ब्रह्मणः पदं 'यस्मिन्नाकाश ओतश्च प्रोतश्च' इति श्रुतेः। तथा शेषस्य—सर्पराजस्य शीर्षाण्यपि स्पृशति। एतावता त्वत्कीर्त्तिराकाशं पातालं च गतेति ध्वनितम्। कीदृशी ? स्वर्वाहिनीगाहिनी स्वर्वाहिनी—वियद्गङ्गा तां गाहते—विलोडयतीत्येवंशीला स्वर्वाहिनीगाहिनी। तथा दिक्पालान्—इन्द्रादीन् परितः—सर्वतः परीत्य—प्रदक्षिणीकृत्य पाण्योः—हस्तयोः प्रत्यपाण्योर्हस्तयोः[3] प्रतापानलं क्रौर्योत्थमग्निं दधती—धारयन्ती, दधातीति दधती 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुमभावः। अपरं कीदृशी ? सप्ताम्भोनिधिमण्डलान्यधिगता सप्तापि समुद्रानतिक्रान्तेत्यर्थः। श्लेषश्च या हि दिव्यं कुरुते सा गंगां प्रविशति। अपरं, देवताः प्रदक्षिणीकृत्य करयोरग्निं दधती सती सप्तमण्डलान्यतिक्रामति, अपरं ब्रह्मपदं—ब्राह्मणचरणं स्पृशति तथा घटादिस्थं सर्पमप्याकर्षतीति ॥४७॥

(गुण०)—कीर्त्तिरिति। हे श्रीरघुवंशरत्न ! श्रीरघुवंशे राजान्वये[4] रत्नमिव यः स

---

१. हं० आदेशे। २. ब. ब्रह्मपदं। ३. ब. 'प्रत्यपाण्योर्हस्तयोः' नास्ति। ४. हं० श्रीरघुराजान्वये।

तस्य सम्बुद्धौ हे श्रीरघुवंशरत्न ! भवतः–तव कीर्त्तिर्विष्णुपदं स्पृशति तथा शेषस्य–नागाधिपतेरनुदिनं दिनं दिनं प्रति इत्यनुदिनं शीर्षाण्यपि–शिरांस्यपि स्पृशति। किम्भूता कीर्त्तिः ? स्वर्वाहिनीगाहिनी स्वर्वाहिनी–गङ्गा तां गाहत इत्येवंशीला स्वर्वाहिनीगाहिनी। किं कुर्वती ? दिक्पालान् परितः परीत्य-पार्श्वे प्रदक्षिणीकृत्य प्रतापानलं–प्रताप एव अनलः–अग्निस्तं पाण्योः–हस्तयोर्दधती–बिभ्रती। किंविशिष्टा ? सप्ताम्भोनिधिमण्डलानि–सप्तसमुद्रमण्डलानि अधिगता–प्राप्ता। कस्यै ? त्वयि–रामे एकपत्नीव्रतख्यात्यै एकस्यैव पत्नी ,एकपत्नी सैव व्रतं एकपत्नीव्रतं तस्य ख्यात्यै–प्रसिद्ध्यै, स्वसतीत्वव्रतज्ञापनाय दिव्यकरणं। अयमर्थः, या हि दिव्यं कुरुते सा गङ्गां गाहते, [1]अपरं देवता प्रदक्षिणीकृत्य पाण्योरनलं दधती, सप्तमण्डलान्यतिक्रामति[1], अपरं[2] श्रीविष्णोः पदं स्पृशति, तथा सर्पं कर्षति, तथेयं त्वत्कीर्त्तिरपि एतानि दिव्यानि कुर्वती पूर्वं स्वर्गङ्गावगाहं कुरुते, ततः सप्तसमुद्रमण्डलान्यपि लंघते, ततः दिक्पार्श्वे भ्रमणं यक्षदिव्यं अग्निदिव्यं राजपदस्पर्शनदिव्यं विष्णुपदस्पर्शनदिव्यं सर्पदिव्यं चेति एतानि पञ्चदिव्यानि स्वसतीत्वनिर्वाहाय विधत्त इति। अत्रायं गर्भार्थः—यत् त्वत्कीर्त्तिः स्वर्गे दिक्पर्यन्ते सप्तस्वपि समुद्रेषु विष्णुपदे आकाशे पाताले च वर्तत इति ॥४७॥

संग्रामाङ्गणमागतेन भवता चापे समारोपिते,
रामाकर्णय येन येन सहसा यद् यत्समासादितम्।
कोदण्डेन शराः शरैररिशिरस्तेनाऽपि भूमण्डलं,
तेन त्वं भवता च कीर्त्तिरतुला कीर्त्या च लोकत्रयम् ॥४८॥

(कीका०)—संग्रामाङ्गणमिति। हे देव ! आत्मक्रीड ! भवता संग्रामाङ्गणमागतेन सता चापे–धनुषि समारोपिते–सज्याके कृते सति येन येन यद्यत् सहसा समासादितं–प्राप्तं तत्तदाकर्णय–शृणु। तदेवाह—कोदण्डेनेति। धनुषा शराः प्राप्ता, शरैश्चारिशिरः–मस्तकं प्राप्तं, तेनाप्यरिशिरसा भूमण्डलं प्राप्तं, तेन भूमण्डलेन त्वं भवानासादितः, भवता चातुला–निरुपमा कीर्त्तिः प्राप्ता, तया कीर्त्या च लोकत्रयं ब्रह्माण्डमासादितमिति ॥४८॥

(गुण०)—संग्रामाङ्गेति। हे राम ! संग्रामाङ्गणं–रणाङ्गणं आगतेन भवता चापे–धनुषि समारोपिते–चाटितप्रत्यञ्चे कृते सति येन येन वस्तुना सह सपदि यद्यत्समासादितं–यद्यत्प्राप्तं तत्तदाकर्णय–शृणु। केन किं प्राप्तम् ? इत्याह—कोदण्डेन–धनुषा शराः–बाणाः प्राप्ताः, [3]अत्र आकर्णनक्रियाकर्मत्वे कोदण्डं शरानित्यादिवाक्यार्थस्य कर्मत्वे कोदण्डः शरा इति प्राप्तं, न च यच्छब्दार्थस्तद्विशेषणं वा कोदण्डादिः, न च केनेत्यादिप्रश्नः इति

१–१. हं० पंक्तिरियं नास्ति। २. हं० अपरे देवतापदं। ३–३. हं० नास्ति पाठः।

काव्यप्रकाशे[3]। तथा शरैः अरिशिरः–वैरिमस्तकं प्राप्तं, तथा तेनाऽपि अरिशिरसाऽपि भूमण्डलं प्राप्तं, अरिशिरो भूमण्डले लग्नमित्यर्थः। तथा तेनाऽपि भूमण्डलेन त्वं प्राप्तः स्वस्वामित्वेन व्यवस्थापितः। तथा भवता कीर्त्तिरतुला–अनुपमा समासादिता, तथा तया कीर्त्या च लोकत्रयं–त्रिजगत् समासादितमिति। पारम्पर्येण रामकीर्त्तेरेव [1]सर्वजगद्व्यापित्वमसूचीति ॥४८॥

फूत्कारैः फणिपुङ्गवं फणिगणो गङ्गातरङ्गस्वनै-
[2]र्भर्गो मन्द्ररवैरवैति तमपि स्वःकुम्भिनं जम्भजित्।
अस्माभिर्बत बुद्धयतां कथमसौ स्वामीति तारा व्यधु-
श्चन्द्रे चिह्नमयं कलङ्कमभितो वृद्धासु यत्कीर्त्तिषु ॥४९॥

(कीका०)—फूत्कारैरिति। यस्य रामस्य कीर्त्तयो यत्कीर्त्तयस्तासु अभितः–सर्वतो वृद्धासु–बाहुल्यं गतासु सतीषु फणिगणः–सर्पसमूहः फणिपुङ्गवं–शेषनागं फूत्कारैः केवलमवैति–जानाति, सर्वेषां यशः कृतधावल्यस्य समानत्वात् सहस्रफणाफूत्कारा एव विशेषज्ञापका आसन्निति भावः। तथा धर्मी धर्मस्त्रिषवणादि नियमो विद्यते यस्यासौ धर्मी–यत्यादिस्तरंगस्वनैः कृत्वा गङ्गां परमावैति वेत्ति, यमुनादीनामपि यशसा धवलितत्वात्। तथा जम्भजित्–देवेन्द्रोऽपि तं उज्ज्वलतया प्रसिद्धं स्वःकुम्भिनं–ऐरावणं मन्द्ररवैः–निविडबृंहितैर्जानीते, गजान्तरेष्वपि कीर्त्तिकृतधावल्यदर्शनात्। तथा ताराः–अश्विन्याद्याश्चन्द्रे चिह्नमयं–चिह्नप्रधानं कलंकमिति कारणाद् व्यधुः–कुर्वन्ति स्म। इतीति किम्? अस्माभिस्ताराभिश्चिह्नमन्तरेणायं मत्स्वामी चन्द्रः कथं बत बुद्धयताम्–अवगम्यताम्, न कथमपि। रामयशसा निखिलस्य जगतो धवलीकृतत्वादिति भावः ॥४९॥

(गुण०)—फूत्कारैः फणिपुङ्गवमिति। यत्कीर्त्तिषु–यस्य रामस्य कीर्त्तयः यत्कीर्त्तयस्तासु वृद्धासु–प्रौढिं प्राप्तासु सतीषु ताराश्चन्द्रे चिह्नमयं–कलङ्कं अभितः–समन्तात्[3] इति हेतोर्व्यधुः–चक्रुः। इतीति किम्? अस्माभिः–ताराभिरसौ स्वामी–चन्द्रः कथं बत–इति खेदे बुद्धयतां–ज्ञायताम्? कीर्त्तेः सर्वत्रापि प्रसरणात् सर्वेषामपि वस्तूनां नीलादीनां[4] श्वेतत्वान्न ज्ञायते कः स्वाम्यस्माकं चन्द्रः इति ज्ञातुं ताराभिश्चन्द्रे कलङ्कोऽभिज्ञानं विहितः। ननु चन्द्रे एव कलङ्को व्यधायि तत्किमन्ये फणिपुङ्गवादयः तथाविधासाधारणगुणविशिष्टास्सन्ति यैर्विशिष्य ज्ञायन्ते [5]त इत्यत आह—फणिगणः–सर्पसमूहः फणिपुङ्गवं–शेषनागं

---

१. हं० सर्वं नास्ति। २. कीकामते तु—धर्मी। ३. हं० सामस्त्येन। ४. हं० लीलादीनां। ५–५. हं० 'न इत्यत' स्थाने 'ते'।

फूत्कारैः कृत्वा अवैति–जानाति। तथा भर्गः–शम्भुः तरङ्गस्वनैः–कल्लोलध्वनिभिर्गङ्गामवैति। तथा जम्भजित्–इन्द्रः स्वं स्वःकुम्भिनं–ऐरावणमपि अवैति। कैः कृत्वा? मन्द्ररवैः मन्द्राः–गम्भीरा ये रवाः–शब्दास्तैर्बृंहितैर्जानाति। परमस्माभिरयं चन्द्रः कथं बुद्ध्यतामिति हेतोश्चन्द्रः सकलङ्को विहित इति। मन्द्ररवैरिति 'ते मन्द्रमध्यताराः स्युरुरःकण्ठशिरोभवा' इति हैमः कोषः। एतट्टीका—'ते ऋषभादयः स्वराः प्रत्येकमुरःप्रभृतिस्थानभेदेन मन्द्रतां मध्यतां तारतां वाऽवलम्बन्ते, यद्दन्तिलः—नृणामुरसि मन्द्रस्तु द्वाविंशतिविधो ध्वनिः। एव कण्ठे मध्यः स्यात् तारः शिरसि गीयते' इति ।।४९।।

महाराज! श्रीमन्! जगति यशसा ते धवलिते,
पयःपारावारं परमपुरुषोऽयं मृगयते।
कपर्द्दी कैलासं त्रिभुवनपतिः स्वं करिवरं,
कलानाथं राहुः कमलभवनो हंसमिथुनम् ।।५०।।

(कीका०)—महाराजेति। आसमुद्रक्षितीशो महाराजः 'राजाहः सखिभ्यः' इति समासान्तष्टच्। यद्वा, राजनं राजो दीप्तिः सा महती सूर्याद्यभिभावुका यस्य स तत्सम्बुद्धिः। 'न तत्र सूर्यो भाति, न चन्द्रतारकं, न मा विद्युतो भान्ति, कुतोऽयमग्निः, तमेव भान्तमनुभाति सर्वंतस्य भासा सर्वं मिदं विभातीति' श्रुतेः। रूपिणी श्रीर्नित्यं विद्यते तस्मिन्निति श्रीमांस्तत् सम्बुद्धिर्यदुक्तम्—'राघवत्वेऽभवत्सीता रुक्मिणी कृष्णजन्मनि' इति। तादृश हे राम! ते–तव यशसा जगति धवलिते सति अयमित्यन्तर्यामित्वेन आकाशवत्सर्वगतत्वेन च संनिहितः परमपुरुषो वासुदेवः पयःपारावारं–क्षीरसागरं मृगयते–गवेषयति। तथा कपर्द्दी–महेश्वरोऽपि कैलाशं मृगयते। त्रिभुवनपतिः–इन्द्रः स्वं करिवरं–ऐरावणं मृगयते। राहुः कलानाथं–चन्द्रं मृगयते। कमलभवनः–ब्रह्मा हंसमिथुनं मृगयते। त्वद्यशसा जगति धवलीकृते स्वभावधवलानि क्षीरसागरादीनि अदृश्यान्येवाभवन्नतस्ते ते पुरुषोत्तमादयः सुराः स्वं स्वं स्वभावोज्ज्वलं वस्त्वलक्ष्यमाणं क्व गतमिति गवेषयन्तः स्थिता इति भावः ।।५०।।

(गुण०)—महाराजेति। हे महाराज! श्रीराम! श्रीमन्! ते–तव यशसा जगति–भुवने धवलिते–पाण्डुरतां प्रापिते सति अयं परमपुरुषः–विष्णुः पयःपारावारं–क्षीरसमुद्रं मृगयते–अवलोकयति। '[1]विष्णोः क्षीराब्धावेव शयनाद् यशसा च सर्वजलाशयानां श्वेतत्वप्रतिभासान्न तदवगमस्ततस्तं विलोकयति[1]'। तथा कपर्द्दी–शम्भुः कैलासं–रजताद्रिं[2]

१–१. हं० प्रतौ—यतस्त्वत्कीर्त्या सर्वेषामप्यम्बुधीनां धवलितत्वान्न जात्यसौ कः समुद्रो मम शयनायेति ततोऽवलोकते। २. हं० 'रजताद्रि' नास्ति।

मृगयते, [1]कैलासस्य हराद्रित्वाद् यशसा च सर्वगिरीणां श्वेतत्वावलोकनान्न तस्यावगमस्ततोऽवलोकयति तं[1] । तथा त्रिभुवनपतिः—इन्द्रः स्वं करिवरं—ऐरावणं मृगयते, यतः सर्वेषामपि गजानां त्वत्कीर्त्या श्वेतितत्वान्नान्यव्यवच्छेदेन ऐरावणावगमस्ततो वीक्षते स्वं गजमिति । तथा राहुः कलानाथं—चन्द्रं मृगयते, सर्वस्यापि जगतस्त्वद्यशसा धवलितत्वात् स्वास्वाद्यमजानानो राहुः सर्वत्राप्यवलोकते चन्द्रमिति । तथा कमलभवनः—ब्रह्मा हंसमिथुनं—स्ववाहनं हंसयुग्मं मृगयते, सर्वपक्षिणामपि त्वत्कीर्त्या श्वेतितत्वाद् हंसमिथुनस्यानवगमः, अतोऽवलोकते तदिति ।।५०।।

एकं कर्णलताविभूषणमभून्नागाह्वयं नागराट्,
कण्ठे स्याल्लुठितं सुरेश्वरसरिन्मुक्तालताद्धं तथा ।
अंह्रौ नूपुरमिन्दुमण्डलमभूत्तत्तत्समं त्वां परं,
स्त्रीभावग्रहिलेव याचतितरां श्रीरामकीर्त्तिस्तव ।।५१।।

(कीका०)—एकमिति । क्षिप्तः । नागाख्यं कर्णाभरणो परिमुच्यमानं स्त्रीसमयप्रसिद्धं नागराट्—शेषः सुरेश्वरसरित्—गंगा, गन्तार्थमन्यत् ।।५१।।

(गुण०)—एकं कर्णलतेति । हे श्रीराम ! तव कीर्त्तिः स्त्रीभावग्रहिलेव स्त्रिया यो भावः-चित्तविकारस्तेन ग्रहिला स्त्रीभावग्रहिला इवेत्युत्प्रेक्षायां । यत उक्तम्—

'हावो मुखविकारः स्याद्, भावः चित्तसमुद्भवः ।
विलासो नेत्रजो ज्ञेयो विभ्रमो भ्रूयुगान्तरे ।।'

इति । त्वां रामं तत्तत्समं परं [2]भूषणं याचतितरां—अतिशयेन याचतीत्यर्थः । किं तद्भूषणमित्याह—हे राम ! मम नागराट्—शेषः एकं कर्णलताविभूषणं नागाह्वयं 'नागलूं' इति लोकप्रसिद्धिरभूत्, अतस्तत्समं परं कर्णलताविभूषणं याचतितरां[2] । तथा हे राम ! मम कण्ठे सुरेश्वरसरिद्—गंगा मुक्तालताद्धं लुठितं स्यादतः परं अन्यत्तत्समं मुक्तालताद्धं याचतितराम् । तथा हे राम ! मम अंह्रौ—चरणे इन्दुमण्डलं नूपुरं—तुलाकोटिरभूत्, अतस्तत्समं परं अन्यन्नूपुरं याचतितराम् । याचतितरामिति 'याचृञ् याचने' 'तरप्तमपौ घः' एतौ घसंज्ञौ स्तः । 'किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे' इति आमुः स्यात् ।।५१।।

क्षीरक्षालितपाञ्चजन्यकिरणश्रीगर्वसर्वङ्कषाः,
श्रीमद्रामनृप प्रतापनिलय[3] ! त्वत्कीर्त्तिविस्फूर्त्तयः ।
कैलासन्ति हिमाचलन्ति विकसत्कुन्दन्ति[4] कन्दन्ति च,
क्षीरोदन्ति हलायुधन्ति विबुधाहारन्ति हीरन्ति च ।।५२।।

१-१. हं० नास्ति पाठः । २-२. हं० नास्ति पाठः । ३. कीकामते तु 'प्रतापनिकर' । ४. कीकामते तु—विकचत्कुन्दन्ति ।

(कीका०)—क्षीरेति । हे श्रीमद्रामनृप ! प्रतापनिकर–कौर्यालय त्वत्कीर्त्ति-विस्फूर्त्तयो धवलत्वातिशयात् कैलाशन्ति–कैलाशवदाचरन्ति, तथा हिमाचलन्ति–हिमाचलवदाचरन्ति, अपरं विकचत्कुन्दन्ति–विकस्वरमुचुकुन्दायन्ते, कन्दन्ति च पद्मिनीमूलतन्तुवदाचरन्ति, क्षीरसागरायन्ते, हलायुधः–बलभद्रः इवोज्ज्वली-भवन्ति, विबुधाहारः–सुधा तद्वद् भान्ति, हीरन्ति–मुक्ताफलायन्ते । किम्भूताः कीर्त्तयः ? क्षीरक्षालितपाञ्चजन्यकिरणश्रीगर्वसर्वंकषाः क्षीरेण–दुग्धेन क्षालिताः–धौताः पाञ्चजन्यस्य–शङ्खविशेषस्य ये किरणास्तेषां श्रियः–शोभायाः गर्वस्य–औज्ज्वलमदस्य सर्वंकषन्ति–समूलमुन्मूलयन्तीति तथा । 'सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कष' इति मुम् ॥५२॥

(गुण०)—क्षीरक्षालितेति । हे श्रीमद्रामनृप ! हे प्रतापनिलय ! प्रतापाश्रय ! त्वत्कीर्त्तिविस्फूर्त्तयः तव कीर्त्तेः विस्फूर्तयः त्वत्कीर्त्तिविस्फूर्तयः कैलासन्ति कैलास इव–हराद्रि-रिव[1] आचरन्ति कैलासन्ति, कैलासस्य श्वेतत्वात् त्वत्कीर्त्तेरुपमानम् । तथा हिमाचलन्ति हिमाचल इवाचरन्ति हिमाचलन्ति, तथा विकसत्कुन्दन्ति विकसन् यः कुन्दः–पुष्पविशेषः[2] स इवाचरन्ति विकसत्कुन्दन्ति, तथा कन्दन्ति कन्द इवाचरन्ति कन्दन्ति, तथा क्षीरोदन्ति क्षीरोद इव–क्षीरसमुद्र इव आचरन्ति क्षीरोदन्ति , तथा हलायुधन्ति हलायुध इव–बलभद्र इवाचरन्ति हलायुधन्ति, तथा विबुधाहारन्ति [3]विबुधानां–देवानामाहारः[3]–पीयूषं स इवा-चरन्ति विबुधाहारन्ति, तथा हीरन्ति हीरः–हीरको हरो वासः इवाचरन्ति हीरन्ति । सर्वेषा-मपि श्वेतत्वादियं कल्पना । अत्र कैलासन्तीत्यादिषु 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वाचारः' इत्येके इति क्विप्, सर्वत्र क्विपः सर्वस्य लोपः । तथा किंविशिष्टास्त्वत्कीर्त्तिविस्फूर्त्तयः ? क्षीर-क्षालितपाञ्चजन्यकिरणश्रीगर्वसर्वङ्कषाः क्षीरेण–पयसा क्षालितः–पवित्रीकृतो यः पाञ्चजन्यः–विष्णुशङ्खस्तस्य या किरणश्रियः–कान्तिलक्ष्म्यः तासां यो गर्वस्तं सर्वं कषन्तीति क्षीरक्षालित-पाञ्चजन्यकिरणश्रीगर्वसर्वङ्कषाः । 'सर्वकूलाभ्रमकरीषेषु कषः एषु कषेः खच् स्यात्, खित्वा-न्मुमागमः ॥५२॥

पाताले मञ्जुमूलं फणिपतिरभितः कीर्त्तिवल्लेस्तवैषा,
स्थूणा कैलासशैलो गगनमिह महामण्डपः पाण्डुदण्डाः ।
दन्तीन्द्रस्थूलदन्ता दलततिरतुला शारदाभ्राणि सारा-
स्ताराः पुष्पाणि चन्द्रः फलमिदममलं[4] राम ! राजेन्द्र ! मन्ये ॥५३॥

(कीका०)—पाताले इति । हे राम ! राजेन्द्र ! अयं प्रसिद्धो भुजगपतिः–शेषनागः पाताले तव कीर्त्तिवल्ल्याः मञ्जु–सुन्दरं मूलं, कैलाशशैल एषा लतान्त-

१. हं० 'हराद्रिरिव' नास्ति । २. हं० 'पुष्पविशेषः' । नास्ति ३–३. विबुधाहारः ।
४. कीकामते तु—फलमिदमपरं ।

रेषु प्रसिद्धा स्थूणा–मध्यदण्डः। गगनं–निर्मलमाकाशं इह कीर्तिलतायां महामण्डपः, न हि मण्डपं विना लता तिष्ठतीति। अपरं दन्तीन्द्राणां–दिग्गजानां स्थूला दन्ताः पाण्डुदण्डाः गगनारोहार्थयष्टिकेत्यर्थः। तथा शारदाभ्राणि अतुला–निरुपमा दलतति–पल्लवविस्तारः। तथा साराः–उत्कृष्टास्तारकाः पुष्पाणि। अपरं चन्द्र इदं प्रत्यक्षं फलम्। हे राजेन्द्र ! अहमेवं मन्ये सर्वोऽयं त्वत्कीर्त्तिप्रसर इति ॥५३॥

(गुण०)—पाताल इति। हे राम ! हे राजेन्द्र ! अहमेवं मन्ये–विचारयामि यत्तव कीर्त्तिवल्लेः कीर्त्तिरूपा वल्लिः कीर्त्तिवल्लिः तस्याः कीर्त्तिवल्लेः पाताले फणिपतिः–शेषः मञ्जु–मनोहरं मूलं वर्तते अभितः–समन्तात्[1]। तथा यस्याः कीर्त्तिवल्लेः कैलाशशैलः–हराद्रिगिरिरेषा[2] स्थूणा-अवष्टम्भदायी स्तम्भः। तथा यस्याः कीर्त्तिवल्लेः गगनं–आकाशमुपरि महामण्डपः। तथा यस्याः कीर्त्तिवल्लेर्दन्तीन्द्रस्थूलदन्ताः दन्तीन्द्राणां–दिग्गजानां ये स्थूलदन्ताः दन्तीन्द्रस्थूलदन्ताः पाण्डुदण्डाः–श्वेतयष्टिकाः। तथा यस्याः कीर्त्तिवल्लेः शारदाभ्राणि शारदानि शरत्कालोद्भवानि यानि अभ्राणि–मेघाः शारदाभ्राणि, अतुला दलततिः अतुला–अनुपमा दलानां–पत्राणां ततिः–श्रेणिर्दलततिः। तथा यस्याः कीर्त्तिवल्लेः साराः–प्रधानाः ताराः पुष्पाणि–कुसुमानि *प्रधानशब्दस्याविष्टलिङ्गत्वे बहुलं वाच्यलिङ्गत्वेन दर्शनात् प्रधाना इत्यलेखि, अन्यथा प्रधानानि इत्येव स्यात्*। तथा यस्याः कीर्त्तिवल्लेश्चन्द्रः–कौमुदीपतिरिदं अमलं–निर्मलं फलं वर्तते इति फलितार्थः ॥५३॥

ब्रूमो निर्भयमद्य नास्ति विदुषां दोषो गिरामुद्गमे,
त्वादृग् देव न वीक्षितो भुवि परो निस्त्रिंशहस्तो नृपः।
दुर्वारप्रसरेण येन समरे प्रत्यर्थिपृथ्वीभृतां,
कीर्त्तिः कश्मलमेकमम्बरमपि द्राग् दूरतस्त्याजिता ॥५४॥

(कीका०)– ब्रूम इति। हे देव ! विजिगीषोऽद्य निर्भयं ब्रूमः। विदुषां–कवीनां गिरामुद्गमे–वाक्सन्दर्भे दोषो नास्ति, अविद्यमानमर्थमत्युक्त्या कवयो वर्णयन्तीति। दोषोऽद्य त्वयाऽपहृतः, यतो हे देव ! त्वादृक्–भवादृशो निस्त्रिंशहस्तः–खड्गकरः परः–अन्यो नृपो भुवि–पृथिव्यां न वीक्षितः–न दृष्टः। समरे–संग्रामे दुर्वारः–वारयितुमशक्यः प्रसरः–प्रवृत्तिर्यस्य तेन दुर्वारप्रसरेण येन त्वया प्रत्यर्थिपृथ्वीभृतां–शत्रुभूपानां कीर्त्तिः कश्मलं हा कष्टं एकमम्बरं–शून्यभूतमाकाशमपि द्राक्–शीघ्रं दूरतस्त्याजिता, शून्यदेशेऽपि तेषां कीर्त्तिः कुतः ? पुनः राजते

---

१. हं० सामस्त्येन। २. हं० हिमाद्रिरेषा।
– चिह्नान्तर्गतपाठो हं० प्रतौ न विद्यते।

इत्यर्थः । श्लेषे तु, अम्बरं एकं वस्त्रमपि स्त्रीजातिः शत्रुकीर्त्तिः हा पितेति नात्युक्त्या वर्णनीयमवशिष्यत इति भावः ॥५४॥

[पद्यस्यास्य टीका गुणविनयकृता नोपलभ्यते]

देव ! ब्रह्माण्डभाण्डे सदसि विकसितन्यायनान्दीनिनादै-
भूतेशप्रीतिहेतोर्भुवनधवलनं नाटकं नाटयन्त्याः ।
त्वत्कीर्त्तेर्मूर्त्तयोऽमी कुमुदकुमुदिनीकान्तकर्पूरकुन्द-
क्षीराब्धिक्षीरमुक्तामणिविबुधसरित्तारकाशेषशङ्खाः ॥५५॥

(कीका०)—देवेति । हे देव ! दीप्यमान ! ब्रह्माण्डभाण्डलक्षणे सदसि—सभायां विकसितन्यायनान्दीनिनादैः ब्रह्माण्डमेव भाण्डं—स्थलं तदेव सदस्तत्र विकसता[1]—प्रसृमरो यो न्यायस्तवादिस्तत्पूर्विका या नान्दी—नाटचारम्भे क्रियमाणो द्वादशविधतूर्यघोषः—वाद्यविशेषः तस्याः शब्दैः कृत्वा भूतेशप्रीतिहेतोः—महादेवप्रीणनाय भुवनधवलनं—ब्रह्माण्डस्य धवलीकरणलक्षणं नाटकं—नटकर्म नाटयन्त्याः—कुर्वाणायास्त्वत्कीर्त्तेरमी वक्ष्यमाणा मूर्त्तयः—रूपाणि । तान्येवाह—कुमुदेत्यादिना । कुमुदं—कैरवं कुमुदिनीकान्तः—चन्द्रः कर्पूरं—कदलीगर्भः कुन्दं—मुचुकुन्दकुसुमं क्षीरं—दुग्धमेव क्षीराब्धिः—क्षीरसागरः मुक्ता—मौक्तिकफलं मणिः—सूर्यकान्तादिः विबुधसरित्—देवगङ्गा तारकाः—अश्विन्याद्याः शेषः—नागः शंखाः—पाञ्चजन्यादयः एषां द्वन्द्वः । एतास्त्वत्कीर्त्तिमूर्त्तयो इति[2] भावः ॥५५॥

(गुण०)—देव ब्रह्माण्डभाण्डे इति । हे देव ! ब्रह्माण्डभाण्डे सदसि—सभायां न्यायनान्दीनिनादैः न्याय एव नान्दीनिनादाः—द्वादशतूर्यशब्दास्तैः कृत्वा भूतेशप्रीतिहेतोः भूतेशस्य—शम्भोः प्रीत्यर्थं भुवनधवलनं भुवनस्य—जगत्त्रयस्य श्वेतताकरणं नाम नाटकं नाटचन्त्यास्त्वत्कीर्त्तेः अमी वक्ष्यमाणाः पदार्थाः मूर्त्तयो जाताः । के ते इत्याह—कुमुदकुमुदिनीकान्तकर्पूरकुन्दक्षीराब्धिक्षीरमुक्तामणिविबुधसरित्तारकाशेषशंखाः कुमुदानि च कैरवाणि कुमुदिनीकान्तः—चन्द्रमाः कर्पूरश्च कुन्दश्च क्षीराब्धिश्च क्षीरं च—दुग्धं मुक्ताश्च मणयश्च—चन्द्रकान्ताद्याः विबुधसरिच्च—गङ्गा तारकाश्च[3] शेषश्च[4] शङ्खाश्च कुमुदकुमुदिनीकान्तकर्पूरकुन्दक्षीराब्धिक्षीरमुक्तामणिविबुधसरित्तारकाशेषशङ्खास्ते जाता इति । अन्यापि या नर्त्तकी नृत्यति सापि पृथक् पृथक् रूपाणि विधत्ते तथेयमपीति भावः । नाटचन्त्या इति 'णटण् अवस्पन्दने' चुरादौ शतृप्रत्यये रूपसिद्धिः ॥५५॥

---

१. ब. विकसिता । २. ब, धावल्यादिति । ३. हं० ताराश्च । ४. हं० 'शेषश्च' नास्ति ।

मनोभूर्मुग्धासु क्षिपति यदि बाणावलिमसौ,
कथं ताभिः क्षिप्तास्त्वयि नयनविक्षेपविशिखाः ।
अथ ज्ञातं ब्रूमः शृणु सुभग ! शृङ्गारनलिनी-
वनक्रीडाहंसं स्मरमिव विदुस्त्वां मृगदृशः ॥५६॥

(कीका०)—मनोभूरिति प्रक्षिप्तः । स च प्रतापवर्णनप्रकरणे शृङ्गारो नावकल्पत इति प्रत्युक्तत्वान्न व्याक्रियते ॥५६॥

इति कीर्त्तिवर्णनम् ।

(गुण०)—मनोभूर्मुग्धेति । हे राम ! असौ मनोभूः—कामः मुग्धासु—स्त्रीषु यदि बाणावलिं—मोहनादिशरश्रेणिं क्षिपति—मुञ्चति तर्हि ताभिर्मुग्धाभिः त्वयि रामे नयनविक्षेपविशिखाः नयनानां—नेत्राणां ये विक्षेपाः—विलासाः नयनविक्षेपास्त एव विशिखाः—बाणाः कथं क्षिप्ताः—मुक्ताः, यतोऽयं न्यायः किल लोके यत् स्वहन्ता हन्यते, तद्वतेन परमत्र विपर्यासोऽजनि, यत्कामेन स्वबाणैः कृत्वा स्त्रियो हतास्ताभिश्च स्ववैरनिर्यातनं[1] कुर्वतीभिः स्वचक्षुःकटाक्षबाणैस्त्वं हतः, अतोऽनुचितं कर्माचरितमिति । अथ ज्ञातं—अवगतमेतत् यन्न ताभिरन्यायः कृतः । कथं न कृत इत्याह—हे सुभग ! त्वं शृणु, वयं ब्रूमः । किं तत् ? यत् मृगदृशः स्त्रियः त्वां रामं स्मरमिव—काममिव विदुरवगच्छन्ति[2] । यथाऽयं न रामः किन्तु काम इति ताभिरज्ञायि, अतस्त्वां कामरूपं रामं स्वहन्तारमवगम्य ताः स्वनेत्रबाणान् चिक्षिपुः[3] । [4]अतस्ताभिः को न्यायविपर्यासो विदधे इति । किंविशिष्टं त्वां ? शृङ्गारनलिनीवनक्रीडाहंसं शृङ्गार एव नलिनीवनं—कमलिनीखण्डं तस्मिन् क्रीडाहंस इव—केलीहंस इव यः सः तं शृङ्गारनलिनीवनक्रीडाहंसम् ॥५६॥

नृपतिमुकुटरत्न त्वत्प्रयाणप्रशस्तिं,
प्लवगपदनमद्भूनिर्भराक्रान्तभोगः[5] ।
लिखति दशनटङ्कैरुन्नमद्भिर्नमद्भि-
र्जरठकमठभर्तुः कर्प्परे[6] सर्प्पराजः ॥५७॥

अथ प्रतापः

(कीका०)—नृपतीति । हे नृपतिमुकुटरत्न भूपालचक्रचूडामणे ! सर्पराजः—शेषाहिः त्वत्प्रयाणप्रशस्तिं तव रिपुवधार्थं यत्प्रयाणं—गमनं तत्र प्रशंसां उत्पतद्भिः-पतद्भिरुन्नमद्भिरवनमद्भिश्च दशनटंकैः दशनाः—दन्ता एव टंका—लेखिन्यग्राणि

---

१. हं० स्ववैरनिर्यातनम् । २. हं० अवगच्छन् । ३. हं० चिक्षेपुः । ४. हं० 'अतः' नास्ति । ५. कीकामते तु—प्लवगभरनिमज्जद्भूभराक्रान्तभोगः ६. कीकामते तु—लिखति दशनटङ्कैरुत्पतद्भिर्पतद्भिर्जठरकभर्तुः खर्परे ।

तैः कृत्वा जठरस्य–वृद्धतरस्य कमठभर्तुः–कूर्मस्य खर्परे–पृष्ठकपाले लिखति–अक्षरयति। किम्भूतः सर्पराज इति पतने हेतुगर्भं विशिनष्टि– प्लवगभरनिमज्जद्-भूभराक्रान्तभोगः इति प्लवगानां–वानराणां भरेण निमज्जन्ती–ब्रुडन्ती या भूस्तस्या भरेण आक्रान्तः–अवनमितो भोगः–कायः फणामण्डलं वा यस्य स तथा। 'भोगः सुखे स्त्र्यादिभूतावहेश्च फणकाययोः' इत्यमरः ॥५७॥

(गुण०)—नृपतीति। हे नृपतिमुकुटरत्न ! हे राम ! सर्पराजः–शेषः जरठकमठभर्तुः जरठः–कठोरो यः कमठभर्ता–कच्छपस्वामी तस्य कर्प्परे–कपाले उन्नमद्भिः–उच्चैर्गच्छद्भिः नमद्भिः–नीचैर्गच्छद्भिः दशनटङ्कैः–दन्तखनित्रैः कृत्वा त्वत्प्रयाणप्रशस्ति तव या प्रयाण-प्रशस्तिर्लङ्कापुरीं प्रति गमनप्रशस्तिर्यथा रामचन्द्र इत्थं कपिसेनासहायः समुद्रं तीर्त्वा लङ्कां जगाम, इत्थं च रावणो हत इत्यादिकां प्रशस्ति लिखति, तत्र कमठकर्प्परे उत्किरति। किं विशिष्टः सर्पराजः ? प्लवगपदनमद्भूनिर्भराक्रान्तभोगः प्लवगपदैः–वानरचरणैर्नमन्ती–अधो निमज्जन्ती या भूस्तस्या यो निर्भरः–नितरां अतिशयेन भरः–भारस्तेनाक्रान्तो भोगः–स्फटो-ऽहिकायो वा यस्येति। इत्यनेन उन्नमननमने प्रति हेतुताऽसूचि। अन्योऽपि यः प्रशस्ति लिखति सोऽपि लेखिन्या उन्नमननमनक्रियाविशिष्टयैवेति साम्यम् ॥५७॥

त्वं सर्वदा नृपतिचन्द्र ! जयश्रियोऽर्थी,
स्वप्नेऽपि न प्रणयिनी भवतोऽहमासम्।
इत्थं भिया कुपितयेव रिपून् व्रजन्त्या,
व्याजघ्निरे समरकेलिसुखानि तस्य ॥५८॥

(कीका०)—त्वं सर्वदेति। भिया–भीत्या कर्त्र्या तस्य श्रीरामदेवस्य समर-केलिसुखानि–संग्रामक्रीडाजन्यशर्माणि व्याजघ्निरे–व्याहतानि। व्याङ्पूर्वाद्धन्तेः कर्मणि लिट्। किं कुर्वन्त्या ? रिपून् व्रजन्त्या–शत्रूनाश्रयंत्या, उत्प्रेक्ष्यते—इत्थं इति कारणात् क्षुभितयेव[1]। इतीति किम् ? हे नृपतिचन्द्र ! त्वं सर्वदा जयश्रियो मत्सपत्न्या अर्थी अहं भीः पुनः स्वप्नेऽपि भवतः प्रणयिनीप्रेमपात्रं नासं–नाभूवम्, अतः कोपसम्भवः। यथा कस्यचिद् स्त्रीद्वये सति एका प्रिया तद्द्वेषादपरा चा-प्रिया न सुखायते किन्तु विपक्षेण संगत्य कृत्यादिविरुद्धानर्थानुत्पादयन्ती तस्य सुखानि व्याहन्ति, तद्वद् रामस्य जयश्रीर्नित्यं संनिहिताऽऽसीद् भीतिः पुनः शत्रूना-श्रितेति संग्रामाभावः ॥५८॥

१. ब. कुपितयेव।

(गुण०)—त्वं सर्वदेति । हे नृपतिचन्द्र ! श्रीराम ! त्वं सर्वदा जयश्रियः—जयलक्ष्म्या अर्थी—प्रार्थकः, अतः स्वप्नेऽपि भवतः—तव रामस्य अहं भीः न प्रणयिनी—न वल्लभा आसं—अभूवम् । यो जयार्थी भवति तस्य भीः स्वप्नेऽपि न स्यादास्तां जाग्रतः इत्थं कुपितया इव—कोपं प्राप्तया इव भिया कार्त्स्न्या रिपून् प्रति व्रजन्त्या—गच्छन्त्या तस्य रामस्य समरकेलि-सुखानि—रणक्रीडासौख्यानि व्याजघ्निरे—हतानि । यथा कस्यचित् स्त्रीयुग्मं भवति, तयोरेका स्त्री प्रिया स्यादन्यस्याः स्त्रियाः बहुमानं[1] यो भर्त्ता न प्रयच्छति स्वप्नेऽपि तां च न स्मरति सा ततः कुपिता सती स्वपतिवैरिणमन्यं युवानमाश्रयते, तद्भर्तुः रतसुखानि च निहन्ति, तथेयमपि भी रामेण परित्यक्ता सती वैरिहृदये विलासं विधत्ते । ततो भिया सर्वेऽपि वैरिणो रामचन्द्राऽदृष्टतया यातास्ततस्तदभावात् । कैः सह रामो रणं कुर्यादतस्तत्सुखान्यपि हतानीति । अनेनैतदसूचि यद्भी रिपुचेतस्येव वर्तते न तु रामचन्द्रचित्त इति भावः ॥५८॥

यो रामो न जघान वक्षसि रणे तं रावणं सायकै-
र्हृद्यस्य प्रतिवासरं वसति सा तस्यास्त्वहं राघवः ।
मय्यास्ते भुवनावलीपरिवृता द्वीपैः समं सप्तभिः,
स श्रेयो विदधातु वस्त्रिभुवनत्राणैकचिन्तापरः ॥५९॥

इह खण्डप्रशस्तित्वात् प्रतिपुस्तकं पाठविशेषाद्यथा दृष्टं व्याचक्ष्महे, तेन क्षिप्ताक्षिप्तश्लोकव्याख्यानाव्याख्यानयोरपि न नो दूषणमिति । मूलेऽनुपलब्धाः क्वचिद्भाषापञ्जिकायामुपलभ्यमानाः श्लोकाः विलिख्य व्याक्रियन्ते । तथाहि—

(कीका०)—स राघवो वः—युष्माकं श्रेयः—कल्याणं विदधातु—करोतु । स कः ? यो रामो रणे—संग्रामे सायकैर्वक्षसि तं रावणं न जघान—न हतवान् । यतोऽस्य रावणहृदि प्रतिवासरं—नित्यं सा सीता वसति, तस्याश्च हृद्यहं वसामि, मयि च विषये सप्तभिर्द्वीपैः समं परिवृता भुवनावली—चतुर्दशभुवनश्रेणिरास्ते, अतो मत्सायकेन भुवनावल्या अपि दाहो माभूदिति दशाननं न हृदि विव्याध । ननु भुवनावलीदाहे काऽस्य क्षतिरिति ? अतो विशिनष्टि—त्रिभुवनत्राणैक-चिन्तापर इति, पालने विमलसत्त्ववृत्तित्वात् स्वप्रतिज्ञाहानिर्महतीक्षतिरिति भावः ॥५९॥

(गुण०)—यो रामो न जघानेति । यः श्रीरामः तं सीतापहारकं—सीतापहर्तृकं रावणं रणे—संग्रामे सायकैः—बाणैः कृत्वा वक्षसि—हृदये न जघान—नाऽहिंसीत । तत्र हेतुमाह—हि-यतः अस्य रावणस्य हृदि प्रतिवासरं—प्रतिदिनं सा सीता वसति, यतस्तेन रावणेन हृदये

---

१. हृं० गौरवं बहुमानं ।

सीतेव स्मर्यतेऽहरहः, अतस्तस्य हृदि सीता वर्तते, एतावताऽपि न सृतं, यत् तस्याः सीतायाः हृदि अहं राघवः—रामो वसामि, यतस्तया सीतया अहर्निशमहमेव स्मर्येत, अतस्तद् हृदये अहं वर्त्ते। तथा मयि रामे सीताहृद्वर्त्तिनि सप्तभिः—सप्तसंख्यापरिमितैर्द्वीपैः समं—साकं भुवनावली—जगत्त्रयं वसति। यतः सर्वापि विष्टपत्रयी ममाधारे वर्तते, अतोऽहं यद्येनं रावणं वक्षसि सायकैर्हनिष्यामि तदा मा रावणवक्षोविदारणात् सीताविनाशो भवेत्, तद् विनाशे च मा तद्हृदयनिवासिनः—प्रवासिनः श्रीरामस्य मम विनाशो भवेत्, मद्विनाशे च सद्वीपा भुवनावली विनश्येदिति त्रिभुवनत्राणैकचिन्तापरः—जगत्त्रयपालनाऽद्वितीयचिन्तापरायणो यो रामो रावणं वक्षसि न जघान किन्तु शिरांस्येवाऽच्छिनत्। स श्रीरामः नः—अस्माकं श्रेयः—कल्याणं विदधातु—करोतु ॥५९॥

न तृणानि न तोयानि देवे दिग्विजयोद्यते।
विना त्वदरिवक्त्राणि तन्नारीनयनानि च ॥६०॥

(कीका०)—देवे—श्रीरामे दिग्विजयोद्यते सति तदरिवक्त्राणि विना न तृणानि सैन्यबाहुल्यात् तृणदौर्लभ्ये सति तच्छत्रुभिर्जीवनार्थं भक्ष्यमाणतृणानि केवलं व्यदृश्यन्त, एवं जलदौर्लभ्येऽपि तच्छत्रुसीमन्तिनीनेत्रेषु केवलं जलमदृश्यतेति भावः ॥६०॥

(गुण०)—न तृणानीति। देवे—श्रीरामचन्द्रे दिग्विजयोद्यते सति—दिग्यात्रां कर्त्तुमुद्यते सति तथाविधप्रबलचतुरङ्गबलबाहुल्यान्न तृणानि न तोयानि—*जलानि प्राप्यन्ते परं त्वदरिवक्त्राणि—त्वद्वैरिमुखानि विना तन्नारीनयनानि च तेषां त्वद्वैरिणां या नार्य्यस्तासां यानि नयनानि तानि विना न तृणानि न तोयानि* दृश्यन्ते। अत्राऽयं भावो यत् त्वद्वैरिभिः प्रणश्यमानैरात्मरक्षार्थं मुखेषु तृणान्युपाददिरे, अतस्तन्मुखेष्वेव तृणान्यवलोक्यन्ते, नान्यत्रेति। तदन्यस्थानस्थितानां तृणानामश्वादिभिर्भक्षितत्वादिति भावः। पुनस्त्वद्वैरिस्त्रीभिः स्वभर्तृ परासुभूयं श्रुत्वा लोचनेभ्यो रोदनादश्रुजलान्येव पातयाञ्चक्रिरे, अतस्तन्नेत्रेष्वेव अम्भांसि आप्यन्ते नान्यत्रेति, अन्यत्र स्थितस्याम्भसः सैनिकैः पीतत्वादिति। अत्रायं गर्भार्थः, यत् त्वया सर्वेऽप्यरयो हता अतस्तत्स्त्रियो निर्धवत्वाद् रुदन्तीति ॥६०॥

कोशान्गेहेष्वमुञ्चन् पथिकरितुरगात् बान्धवानर्द्धमार्गे,
दुर्गेष्वन्तः पुराणि प्रतिरवचकिताः पर्वतेभ्यो निवृत्ताः।
यस्योद्योगे भ्रमन्तः समसमयसमारम्भगम्भीरभेरी-
भाङ्कारा[1]कीर्णकर्णज्वरभरतरलाः प्रोज्झिताशाः क्षितीशाः ॥६१॥

*—*हं० प्रतौ नास्ति पाठ। १. कीकामते तु—०भाङ्काराक्रान्तिकीर्ण०।

(कीका०)—हे राम ! त्वच्छत्रवः क्षितीशाः यस्य तवोद्योगे—दिग्विजयाऽर्थोद्यमे सति भ्रमन्तः—पलायमानाः सन्तः कोशान्—निधीन् गृहेष्वमुञ्चन् त्वरया स्थानस्थितानेव तत्यजुः, पथि—मार्गे करितुरगान्—हस्त्यश्वं तत्यजुः, बान्धवान्—भ्रातृपुत्रादीन् अर्द्धमार्गे त्यक्तवन्तः, अन्तःपुराणि—स्त्रीवर्गं दुर्गेषु—पर्वतप्राकारादिष्वमुञ्चन्, प्रतिरवचकिताः—प्रतिशब्दभीताः सन्तः स्वयं पर्वतेभ्योऽपि निवृत्ताः—पलायिताः । कीदृशास्ते ? समसमयसमारम्भगम्भीरभेरीभांकाराक्रान्तिकीर्णज्वरभरतरलाः सन्तः प्रोज्झिताशाः, समसमयं—युगपदेव सम्यगारम्भो यस्य तादृशो गम्भीरो यो भेरीभांकारः—मृदङ्गपटहादिमहाध्वनिस्तस्या क्रान्त्या—व्याप्त्या कीर्णः सर्वाङ्गविक्षिप्तो यो ज्वरभरः—तापातिशयस्तेन चञ्चला, अत एव त्यक्तदिगन्ता इत्यर्थः ॥६१॥

(गुण०)—कोशान् गेहेष्विति । यस्य रामस्य उद्योगे—रणं प्रत्युद्यमे जाते क्षितीशाः—प्रत्यर्थिभूपतयः कोशान्—भाण्डागाराणि गेहेषु—स्वगृहेषु अमुञ्चन्—तत्यजुः । तथा त्वद्भीत्या करितुरगान्—हस्त्यश्वान् पथि—मार्गे अमुञ्चन्, न गृहीत्वा ययुरित्यर्थः । तथा बान्धवान्—स्वजनान् अर्द्धमार्गे एव-अर्द्धपथ एव अमुञ्चन् । तथा अन्तःपुराणि—अवरोधनानि त्वद्भीत्या दुर्गेषु—कोट्टेषु अमुञ्चन् । किंविशिष्टाः क्षितीशाः ? प्रतिरवचकिताः प्रतिरवः—त्वत्सेनाकोलाहलोत्पन्नः प्रतिशब्दस्तेन चकिताः—त्रस्ताः, अत एव पर्वतेभ्यो निवृत्ताः । पुनः किं विशिष्टाः ? भ्रमन्तः—इतस्ततो वनेषु भीत्या पर्यटन्तः । पुनः किंविशिष्टाः ? समसमयसमारम्भगम्भीरभेरीभाङ्काराकीर्णकर्णज्वरभरतरलाः समसमयसमारम्भेण—समकालवादनप्रवृत्त्या गम्भीरो यो भेर्या भाङ्कारस्तेन आकीर्णौ—व्याप्तौ यौ कर्णौ तयोर्भेरीभाङ्कारेणोत्पन्नो यो ज्वरभरस्तेन तरलाः—चपलाः । पुनः किंविशिष्टाः ? प्रोज्झिताशाः प्रोज्झिताः—त्यक्ता आशा—हस्त्यश्वादीनां वाञ्छा यैस्ते, अथवा प्रोज्झिताः—त्यक्ताः आशाः—दिशो यैस्ते ॥६१॥

संग्रामे रिपुभूभुजां मुखरुचिर्जीवश्च देवाङ्गना-
चक्षुःप्रोल्लसदस्रमांसनिवहैस्तन्मेदिनीमण्डलम् ।
त्वच्चापोद्गतबाणसंहतिरभूच्छ्रीराम ! भूमीपते !
जम्बूवज्जलबिन्दुवज्जलजवज्जम्बालवज्जालवत् ॥६२॥

(कीका०)—इयमन्तर्लापिका समस्या, ततोऽन्तिमपादं पदशो विभज्यान्वयः, तद्यथा-हे श्रीराम ! भूमीपते ! तव संग्रामे रिपुभूभुजां मुखरुचिर्जम्बूवत् श्यामवर्णा जातेत्यर्थः । तथा तेषामेव जीवो जलबिन्दुवदस्थिरोऽजनि । तदतिकौतुकं पश्यन्तीनां देवाङ्गनानां चक्षुर्जलजवद्विकस्वरमभूदित्यर्थः । तथा

प्रोल्लसदस्रमांसनिवहैस्तन्मेदिनीमण्डलं जम्बालवत्कर्दमयुक्तमासीत्। तथा [1]त्वच्चापोद्गतबाणसंहतिः–शरावली च जालवद् व्यापिका बभूवेत्यर्थः ॥६२॥

(गुण०)—संग्रामे रिपुभिवति। हे श्रीराम! भूमीपते! त्वं शृण्विति शेषः। संग्रामे त्वदारब्धे इत्यध्याहारः। रिपुभूभुजां–वैरिराजानां मुखरुचिः–आननदीप्तिर्जम्बूवदभूत्। यथा जम्बूफलस्य श्यामलत्वं तथा त्वद्वैरिणामपि मुखरुचिः संप्रति श्यामाऽभवदित्यर्थः। तथा रिपुभूभुजां[2] जीवः–प्राणाः जलबिन्दुवदभवत्[3], यथा जलबिन्दूनां क्षणक्षयित्वं तथा त्वद्वैरिप्राणा अपि क्षणक्षयिणो बभूवुरित्यर्थः। तथा संग्रामे कौतुकं पश्यन्तीनां देवाङ्गनानां चक्षुर्देवाङ्गनाचक्षुः–देवाङ्गनानां नेत्रं जलजवदभूत्, यथा जलजं–कमलं विकस्वरं सूर्योदये जायते तथा त्वत्प्रारब्धे संग्रामे सुरप्रतिपन्थिदैत्यविनाशात् अप्सरोनेत्रं अब्जवद्विकस्वरं ववृते। तथा तन्मेदिनीमण्डलं [4]प्रोल्लसदस्रमांसनिवहैः प्रोल्लसन्ति–उच्छलन्ति रामाहतवैरिक्षतेभ्यो यान्यस्राणि च–रुधिराणि मांसानि च तेषां निवहैः–समूहैः कृत्वा जम्बालवदभूत् जम्बालवत्–कर्दमयुक्तं अभूदित्यर्थः। तथा त्वत्प्रारब्धे संग्रामे त्वच्चापोद्गतबाणसंहतिः त्वच्चापात्–त्वद्धनुषः सकाशात् उद्गता–निःसृता ये बाणास्तेषां संहतिः–समूहः जालवदभूत्, यथा जालं मत्स्यानां बन्धनस्थानं अन्योन्यग्रन्थिभिर्ग्रन्थितं भवति तथा त्वन्मुक्तबाणसंहतिर्जालवज्जातेति भावः ॥६२॥

आकृष्टिः सुखसम्पदां सुमहतामुच्चाटनं चांहसा-
माचाण्डालममूकलोकसुलभं वश्यं विमुक्तेः स्त्रियाः।
नो दीक्षा न च दक्षिणा न च पुरश्चर्या मनाग्दृश्यते,[5]
मन्त्रोऽयं रसनास्पृगेव फलति श्रीरामनामात्मकः ॥६३॥

(कीका०)—श्रीरामनामात्मकोऽयं मन्त्रो रसनास्पृगेव–जिह्वां स्पृशन्नेव फलति–सर्वमनोरथात्मकं फलं जनयति सिद्ध एव, नत्वत्र कस्यचित्साध्यरिपुत्वादिसंभव इत्यर्थः। अत्र च मन्त्रे न दीक्षा, नाऽपि गुरुदक्षिणा, नाऽपि कश्चित् पुरश्चरणविधिर्दृश्यते, न कश्चिदिह श्रमोऽस्तीति भावः। किम्भूतो मन्त्रः? सुखसम्पदामाकृष्टिः–सौख्यानामाकर्षणं, सुमहतां ब्रह्महत्यादीनामपि अंहसां–पापानामुच्चाटनं, तथा विमुक्तेः स्त्रियाः वश्यं–वशीकरणं च। मन्त्रो हि लोके आकर्षणोच्चाटनवश्यस्तम्भनादिशक्तिमान् दृष्ट इति। ननु मुक्तौ ब्राह्मणस्यैवाधिकार इत्याशंक्य तद्वश्यं विशिनष्टि—आचाण्डालममूकलोकसुलभमिति, मूकव्यतिरेकेण सर्वेषां श्रीरामनामग्रहणेऽधिकार इत्यर्थः। अत एव स्मर्यते—

---

१. ब. त्वच्चापोदगता। २. हं० रिपुभूभुजां-शत्रुराज्ञां। ३. हं० अभूत्। ४. वैरिभूमण्डलं प्रोल्लस०। ५. कीकामते तु—पुनर्दृश्यते।

'किं जपन्मुच्यते जन्तुर्जन्मसंसारबन्धनात् ।'

इति, 'जन्तुर्जननधर्मे'ति व्याकृतवद्भिः श्रीशङ्कराचार्यैः सर्वेषामधिकारो बोधितः, अत एव विदुरधर्मव्याधसुलभादीनां स्त्रीशूद्राणां भुशुण्डादितिर्यग्योनीनां च तत्र तत्र मुक्तिः स्मर्यते, तन्निर्णयः शारीरिकमीमांसायां देवापशूद्राधिकरणे द्रष्टव्य इत्यलम् । प्रकरणार्थस्तु किं तत्प्रतापो वर्ण्यते यन्नाममहिमाऽपि वक्तुं न पार्यत इति ।।६३।।

(गुण०)—आकृष्टिरिति । श्रीरामनामाभिधः-श्रीरामनाम्नाऽभिधीयते-आख्यायते यः सः *श्रीराममन्त्रमुद्धरति अनन्त इत्यादिना अनन्त आकारः अग्न्यासनस्थः रेफस्थितः सेन्दुः बिन्दुयुक्तः ततः रां इति भवति रामायेति श्रीशारदातिलकवृत्तौ*, श्रीरामनामात्मकोऽयं मन्त्रो रसनास्पृगेव रसनां-जिह्वां स्पृशतीति रसनास्पृक् जिह्वायां गृहीत एवेत्यर्थः, फलति-फलं प्रयच्छतीति । अत्र रामनामरूपमन्त्रग्रहणे नो दीक्षा-न चरणप्रतिपत्तिः, तथा न च दक्षिणा-द्विजेभ्यो यज्ञे दानं प्रतिष्ठा वा, यदुक्तं अनेकार्थाभिधानकोपे—'दक्षिणादिक्प्रतिष्ठा यज्ञदानमिति' । तथा न च पुरश्चर्या-पुरश्चरणं मनाक्-तुच्छमपि दृश्यते, अन्यत्र मन्त्रग्रहणे तद्दीक्षाद्युपादीयते परमत्र न तदपेक्षेति भावः । किम्भूतो मन्त्रः ? सुखसम्पदामाकृष्टिः-आकर्षणं, तथा सुमहतामंहसां-पापानां उच्चाटनं-उद्वेगकृत्, तथा आचाण्डालं चण्डालाना-मर्यादीकृत्य[1] अमूकलोकसुलभं अमूकाः-वक्तारो ये लोकास्तेषां सुलभ-प्राप्तम्[2] । एतावता रामनामग्रहणे सर्वेषामप्यधिकारः । तथा विमुक्तेः स्त्रियाः-मोक्षरूपकामिन्या वश्यं-वशीकरणं । अमूकानि आविष्टलिंगानि ।।६३।।

श्रुतिपथि विचरामः सत्यगामुच्चरामः,
सुकृतमनुचरामः सज्जनानुद्धरामः ।
स्वरतिषु विहरामः संसृतेर्निस्तरामः,
सकलवचनसारं रामनाम स्मरामः ।।६४।।

(कीका०)—वयं श्रुतिपथि-वेदमार्गे विचरामः । 'ऋक्पूरब्धूः पथाम्' इति टजभावः, समासान्तविधेरनित्यत्वात् । अपरं सत्यगां-अवितथां वाचमुच्चरामः । अथ सुकृतमनुचरामः-पुण्यमेवाचरामः । सज्जनान्-साधुशिष्यांश्च उद्धरामः संसारात् । स्वरतिषु-सहजब्रह्मध्यानेषु विहरामः । संसृतेः-संसारान्निस्तरामः-परम्पारं पारयामः । सर्वस्याऽस्य हेतुमाह—यतः सकलवचनसारं-सर्ववाक्येभ्यः उत्कृष्टं रामनाम केवलं स्मराम इति ।।६४।।

[पद्यस्यास्य टीका गुणविनयकृता नोपलभ्यते]

- चिह्नान्तर्गत पाठो हं० प्रतौ नास्ति । १. हं० चण्डालमर्यादीकृत्य । २. हं० सुप्रापम् ।

अधाक्षीन्नो लङ्कामयमयमुदन्वन्तमतरत्,
सशल्यो सौमित्रावयमुपनिनायौषधिवरम् ।
इति स्मारं स्मारं त्वदरिनगरीभित्तिलिखितं,
हनूमन्तं दन्तैर्दशति कुपितो राक्षसगणः ॥६५॥

(कीका०)—कुपितः–क्रोधान्धो राक्षसः शून्ये त्वदरिपुरे विचरन्' इति स्मारं स्मारं–इत्थं स्मृत्वा स्मृत्वा त्वदरिनगरीभित्तिलिखितं–चित्रितं हनूमन्तं दन्तैः कृत्वा दशति, 'दंश दशने, दंशसञ्जस्वञ्जां शपि' इति कलोपः । इति किम् ? अयं हनूमान्नः–अस्माकं लङ्कामधाक्षीत्–ददाह । क्रोधवलेन प्रत्यक्षीकृत्याह—अयमिति । उदन्वन्तं–समुद्रं चायमेवाऽतरत्–तीर्णवान् । सौमित्रौ सशल्ये सति औषधिवरं द्रोणपर्वतं चायमेवोपनिनाय–सन्निधावानीतवान्, औषधिभिः–मृतसञ्जीविन्यादिभिर्वरः–श्रेष्ठस्तम् ॥६५॥

(गुण०)—अधाक्षीदिति । हे श्रीराम ! कुपितः–क्रुद्धो राक्षसगणः–पुण्यजननिकरः इति स्मारं स्मारं–स्मृत्वा स्मृत्वा त्वदरिनगरीभित्तिलिखितं तव येऽरयस्त्वदरयस्तेषां या नगर्य्यस्तासां भित्तिषु लिखितं–चित्रितं त्वदरिनगरीभित्तिलिखितं हनूमन्तं दन्तैः–दशनैः दशति–भक्षयति । इतीति किम् ? अयं हनूमान् नः–अस्माकं लङ्कामधाक्षीत्–दहति स्म । तथाऽयमस्मन्नगरीविनाशहेतोरुदन्वन्तं–समुद्रं अतरत्–तीर्णवान् । तथाऽयं हनूमान् सौमित्रेः–लक्ष्मणस्य शल्योद्धरणार्थं द्रोणगिरेरौषधिवरां–औषधिषु श्रेष्ठां विशल्यां उपनिनाय–ढौकयामासेत्यर्थः । इति पुनः पुनः स्मृत्वा दन्तैर्दशतीति ।* स्मारं स्मारमिति 'आभीक्ष्ये णमुल्वा' इति णमुल् नित्यवीप्सयोरिति द्वित्वम् ।

श्रीरामेण लङ्कां गतो दूतः पृष्टः, किं किं तत्रास्तीति प्राह—अधाक्षीन्नो० । दृषद्भित्युत्कीर्णा हनूमन्मूर्त्तिः नामस्थापनयोत्साहचर्याद् हनूमन्तमेव दशतो राक्षसगणस्य प्रत्युत दन्तभङ्गः प्रजायते । यदा त्वत्सेवकानां चित्रलिखितानामपीयती शक्तिस्तर्हि प्रत्यक्षतया क उपद्रोतुमर्हतीति कटाक्षितोऽर्थः । परमार्थतस्तु सदसि स्थितानां श्रोतॄणां पुरः श्रीरामप्रतापमाहात्म्यप्रकटनं श्रीशीलदेवसूरेरुक्तिरियम्* ॥६५॥

गाम्भीर्येण महोदयेन शरणत्राणेन मर्यादया,
सर्वाशापरिपूरणेन महता स्थैर्येण धैर्येण च ।
नाथ ! त्वामनुकर्त्तुमिच्छतितरां वारांनिधिः किंत्वसौ,
पीतो वानरलङ्घितः प्रमथितो बद्धः श्रिया त्याजितः ॥६६॥

---

*–*चिह्नान्तर्गतपाठो हं० प्रतौ नोपलभ्यते ।

(कीका०)—हे नाथ ! श्रीराम ! वारांनिधिः—समुद्र एतैः प्रकारैस्त्वामनुकर्त्तु मिच्छतितराम्—अतिशयेनेच्छति न त्वनुकरोतीत्यर्थः। केन केनेति तदाह—गाम्भीर्येण—गम्भीरतया महतां सूर्यादीनामुदयेन 'समुद्रे अस्तंगतः सूर्यः' इति केषाञ्चित् सिद्धान्तात् शरणागतरक्षणेन मर्यादया वेलानुल्लंघनेन—सत्पथानुल्लंघनेन च सर्वेषामाशापूरणेन शमः सर्वदिक्पूरणेन सिन्धुः। महता स्थैर्येण धैर्येण चेति समानमुभयत्र, किन्त्वसौ अगस्त्येन पीतः, कपिभिर्लंघितः, अमरैः प्रमथितः, सेतुना बद्धः, मथित्वा श्रियं त्याजित इति सर्वदोषविमुक्तेन त्वया सह दोषस्य समुद्रस्य कथं अनुकरणं सम्भवतीति भावः ॥६६॥

(गुण०)—गाम्भीर्येणेति। हे नाथ ! श्रीरामदेव ! वारांनिधिः—समुद्रस्त्वामनुकर्त्तुं—स्वस्य त्वत्साम्यमापादयितुं इच्छतितरां—अतिशयेन वाञ्छति एतैः प्रकारैः। केन केन इत्याह—गाम्भीर्येण—गम्भीरतया, तथा शरणत्राणेन[1]—शरणप्राप्तजनरक्षणेन, तथा मर्यादया—तथाविधविविधपूर्वाचारपरिपालनेन, अपरं सर्वाशापरिपूरणेन—सकलवाञ्छासमापनेन, तथा महता स्थैर्येण—स्थिरत्वेन, च पुनः धैर्येण—धीरतया। किन्त्वसौ समुद्रः अगस्त्येन पीतः सकलसलिलशोषणेन स्थलतां प्रापितः। अथ असौ सिन्धुर्वानरलंघितः वानरैः—कपिभिः स्वचरणैर्लंघितः—अतिक्रान्तः। तथा अमरैः—देवैः प्रमथितः। तथा सेतुरचनेन बद्धः। तथा देवैर्मथित्वा श्रियं—लक्ष्मीं त्याजितः। अतस्त्वया सह कथं समुद्रेण अनुक्रियते, त्वं तु सर्वदोषैर्विमुक्त इति ॥६६॥

देव श्रीनृपरामचन्द्र[2] भवतो दिग्जैत्रयात्रोत्सवे,
धावद्वीरतुरङ्गचञ्चलखुरक्षुण्णक्षमामण्डलात्।
वातोद्धूतरजोमिलत्सुरनदीसञ्जातपङ्कस्थली-
दूर्वाचुम्बनचञ्चवो हरिहयास्तेनैव वृद्धं दिनैः ॥६७॥

(कीका०)—हे देव ! हे श्रीनृपरामभद्र ! भवतः—तव दिग्जैत्रयात्रोत्सवे—दिग्विजयप्रस्थानमहोत्सवे धावद्धीरतुरंगचञ्चलखुरक्षुण्णक्षमामण्डलात् धावन्तः—शीघ्रं गच्छन्तो ये तुरङ्गास्तेषां चञ्चलैः खुरैः क्षुण्णान्महीतलात् सकाशाद् वातेनोद्धूतं यद्रजस्तेन मिलन्ती—संगच्छन्ती या सुरनदी—गङ्गा तस्यां सञ्जाता—उत्पन्ना या पंकस्थली—कर्दमभूमिका तस्यां संरूढदूर्वाङ्कुरचुम्बनभक्षणे चञ्चवः एकचित्ताः सूर्याश्वा अभूवन्, यतस्तेनैव सूर्याश्वकृतगमनविलम्बाद् दिनैर्वृद्धमेधितमिति भावे निष्ठा ॥६७॥

---

१. हं० शरणागतपरित्राणेन। २. कीकामते तु—श्रीनृपरामभद्र।

(गुण०)—देव श्रीनृपेति । हे देव ! श्रीनृपरामचन्द्र ! भवतः–तव दिग्जैत्रयात्रोत्सवे[1] *दिग्जैत्राणां–ककुब्जेतॄणां यात्रोत्सवः दिग्जैत्रयात्रोत्सवस्तस्मिन् दिग्जैत्रयात्रोत्सवे* दिग्विजयकर्तृयात्रामहोत्सवे धावद्वीरतुरङ्गचञ्चलखुरक्षुण्णक्ष्मामण्डलात् धावन्तः–वल्गनं कुर्वन्तो ये वीरतुरङ्गाः–शूराश्वास्तेषां चञ्चलखुरैः क्षुण्णं–विदारितं यत्भूमण्डलं तस्मात्, वातोद्धूतरजोमिलत्सुरनदीसंजातपंकस्थलीदूर्वाचुम्बनचञ्चवो हरिहया बभूवुः, वातेन उद्धूतं–उच्छलितं यद्रजः–पांशुस्तेन मिलन्ती–सम्पर्कमासादयन्ती या [2]सुरनदी–गङ्गा तस्यां सञ्जाता–समुत्पन्ना या पङ्कस्थली–कर्दमभूमिः, अत एव तस्यां प्ररूढा या दूर्वास्तासां चुम्बनेन–भक्षणेन ज्ञाताः वातोद्धूतरजोमिल[2]त्सुरनदीसञ्जातपङ्कस्थलीदूर्वाचुम्बनचञ्चवः सूर्याश्वा आसन् । अत्र 'तेन वित्तश्चञ्चुप्चणपौ इति चञ्चुप्प्रत्ययः । तेनैव कारणेन दिनैः–वासरैर्वृद्धं–वृद्धिः प्राप्ता । अत्राऽयंभावो—यत् ग्रीष्मर्त्तौ दिनानि वृद्धानि भवन्ति, तत्राऽयं हेतुर्यत् श्रीरामे दिग्यात्रायां कर्त्तुं प्रवृत्ते सति स्वसैनिकहयैः एतावद् रजो व्योम्नि विस्तारितं येन सुरसरिदपि पङ्कस्थली जाता, तस्यां च दूर्वाङ्कुराणां भवनेन रवेरश्वा अपि तद्दूर्वाग्रग्रासरसिकत्वेन अरुणेन प्रेरिता अपि न तूर्णं प्रयान्ति किन्तु शनैः शनैरेव द्यामाक्रामन्तीत्यतो दिनैर्वृद्धिराप्तेति भावः । [3]जैत्र इति जितैव जैत्रः 'तृन्नन्तात् प्रज्ञादित्वादण्' जेतुरयं वा फलतस्तुल्यार्थत्वमिति क्षीरस्वामिटीका[3] ॥६७॥

भूषारत्नं भुवनवलयस्याखिलाश्चर्यरत्नं,
लीलारत्नं जलधिदुहितुर्देवता मौलिरत्नम् ।
चिन्तारत्नं जगति भजतां सत्सरोजद्युरत्नं,
कौशल्याया भवतु भवतां भूतये पुत्ररत्नम् ॥६८॥

(कीका०)—अथ रामकीर्त्तनेन प्रकीर्णपद्यानि उपसंह्रियन्ते—

कौशल्यायाः पुत्ररत्नं भवतां भूतये–समृद्धये भवतु । कीदृशं तत् ? भुवनवलयस्य–भूमण्डलस्य भूषारत्नं–श्रेष्ठमाभरणमित्यर्थः । अपरमखिलानां आश्चर्याणां रत्नं अभूत् आश्चर्यभूतमित्यर्थः । तथा जलधिदुहितुः–लक्ष्म्याः लीलारत्नं–क्रीडनकमणिरित्यर्थः । देवतासु सर्वोपास्यगणपतिदुर्गादिषु मौलिरत्नं–चूडामणिः श्रेष्ठ इत्यर्थः । जगति भजतां भक्तानां चिन्तारत्नं–चिन्तितार्थप्रदः । तथा सत्सरोजद्युरत्नं सन्तः–सत्पुरुषा एव सरोजानि–कमलानि तेषां विकाशकत्वात् द्युरत्नमिव द्युरत्नं–द्युमणिः सूर्यरूप इत्यर्थः ॥६८॥

[पद्यस्यास्य गुणविनयकृता टीका नोपलभ्यते]

---

१. हं० दिग्यात्रया । *–*चिह्नान्तर्गतपाठो हं० प्रतौ नोपलभ्यते । २–२. हं० प्रतौ नास्ति पाठः । ३–३. हं० प्रतौ नास्ति पाठः ।

अस्माकं परमन्दिरस्य चरितं यद्यप्यवाच्यं भवेत्,
स्वामी त्वं कथयामि तेन भवतः किञ्चित्प्रियादूषणम् ।
श्रीमद्राम नृप ! त्वया रणमुखे पाणिग्रहः सादरं,
यस्याः साऽसिलता परस्य हृदये दृष्टा लुठन्ती मया ॥६९॥

अथ टीकायामदृष्टपद्यव्याक्रियामनुसरामः—

(कीका०)—अस्माकमिति । हे राम ! त्वद्भक्तानां अस्माकं यद्यपि परमन्दिरस्य—अन्यगृहस्य चरितं अवाच्यं—वक्तुमनर्हं भवेत् तथापि त्वं नः स्वामी—नाथस्तेन हेतुना भवतः किञ्चित् प्रियादूषणं कथयामि, तदेवाह—हे श्रीमद्राम ! रणमहे—संग्रामोत्सवे यस्याः असिलतायाः पाणिग्रहः—पाणौ ग्रहं[1] त्वया कृतं, सा कृतपाणिग्रहणाऽपि असिलता परस्य—शत्रोर्हृदये लुठन्ती—क्रीडन्ती मया दृष्टेति, श्लेषे परस्य—जारस्येत्यर्थः ॥६९॥

(गुण०)—अस्माकमिति । हे स्वामिन् ! हे श्रीराम ! यद्यपि परमन्दिरस्य—परगृहस्य तात्स्थ्यात् तद्व्यपदेश इति वचनात् गृहदारा इतिवत् परस्त्रिया यद्वा मंचाक्रोशंतीत्यादिवत् परमन्दिरस्थायाः स्त्रियाश्चरितं—कृत्यं अवाच्यं—वक्तुमनुचितं भवेत्, यतः सत्याः परस्त्रीवार्त्तामपि न शृण्वन्ति कथं पुनस्तत्कथां कथयन्तीत्येतद् यद्यप्यस्ति तथापि त्वं रामः अस्माकं स्वामी—विभुस्तेन भवतः—तव किञ्चिदनिर्वाच्यं प्रियादूषणं—स्त्रीदुर्लक्षणं कथयामि, यतः स्वामिश्लाघार्थिनो भवन्ति भक्ताः परं यदि स्वस्वामिस्त्रिया अपि किंचिद्दूषणमीक्षन्ते तदापि ते त्रपन्ते, अतस्तद्दूषणं भक्तत्वेनाऽहं वच्मि, त्वं शृणु । अथ तदेव दूषणं प्रादुःकुर्वन्नाह—हे श्रीमद्राम ! रणमुखे सकलस्वपरनरसुरसाक्षिकं यस्याः असिलतायाः—खड्गलतायाः त्वया—रामेण सादरं यथा स्यात्तथा पाणिग्रहः—विवाहः कृतः, सा—असिलता परस्य—शत्रोर्हृदये लुठन्ती—विलासं कुर्वन्ती मया दृष्टा—अदर्शि । अन्यापि या स्त्री सकलजनसाक्षिकं परिणीता भवति, सा चेत् परस्य यूनो हृदये विलासं कुर्यात्तदा महद्दूषणं असतीत्वलक्षणं तस्याः, तथा तवाप्यसिलताया इति । अत्रासिलतायाः स्त्रीलिङ्गशब्दत्वेन स्त्रिया सह साधर्म्यं तस्याश्च परहृदयलुठनेन तव सकलवैरिहन्तृत्वं द्योतितमिति ॥६९॥

आकृष्टे युधि कार्मुके रघुपते ! वामोऽब्रवीद्दक्षिणं,
पुण्ये[2] कर्मणि भोजने च भवतः प्रागल्भ्यमस्मिन्न किम् ।
वा मान्यः पुनरब्रवीन्न मम भीः पृच्छाम्यहं स्वामिनं,
छिन्द्यां रावणवक्त्रपंक्तिमथवेत्येकैकमादिश्यताम् ॥७०॥

---

१. ब. ग्रहणं । २. कीकामते तु—दाने ।

(कीका०)—आकृष्टे इति । युधि–संग्रामे कार्मुके–धनुषि आकृष्टे सति रघुपते वामः–सव्यः करो दक्षिणं प्रत्यब्रवीत्–वदति स्म । किमब्रवीदित्याह–दाने–तुलापुरुषादौ श्रौतस्मार्तहोमादिसत्कर्मणि भोजने च भवतः प्रागल्भ्यं—चातुरी दृष्टा, अस्मिन्संग्रामावसरे किमिति प्रागल्भ्यं न, यत्पश्चादपसृत्येव अवस्थीयत इति । तं च वामं प्रति अन्यो दक्षिणः पुनरब्रवीत् । किमिति तदाह—न मम भीः, अहो भ्रमोऽयं तव केवलो न तु मम भयमस्तीति शेषः । तर्हि किमित्यपसृतोसि, निजं स्वामिनं–रामं इतीममर्थं प्रष्टुं–वक्ष्यमाणार्थपिपृच्छिषया मे स्वाकर्णान्तगमनमिति भावः । तत् प्रष्टव्यं दर्शयति—छिन्द्यामिति । रावणवक्त्रपंक्ति स्वामिन् किं युगपत् छिन्द्यां अथवा किमेकैकं क्रमेण छिनद्मीति आदिश्यतां–आज्ञाप्यतामिति ।।७०।।

(गुण०)—आकृष्टे युधीति । हे रघुपते ! हे राम ! युधि–संग्रामे कार्मुके–धनुषि आकृष्टे–[1]कर्णातिथीकृतप्रत्यञ्चे[1] कृते सति त्वया इत्यध्याहारः, वामः करः दक्षिणं पाणिमब्रवीत्–उवाच । अथ किं अब्रवीत् ? तदाह—हे दक्षिणपाणे ! पुण्ये कर्मणि भवतः–तव प्रागल्भ्यं–स्फुटं कृत्यकारित्वं च–पुनर्भोजने-जेमने तव प्रागल्भ्यमस्ति । यतः सभ्यैर्दक्षिणेनैव पाणिना अर्थिभ्यो दानं दीयते, भोजनमपि तेनैव क्रियते, अतोऽन्यत्र सुकरे कृत्ये तव प्रवृत्तिरत्र च संग्रामलक्षणा[2] दुष्करे कृत्ये यत्पश्चाद् यासि, अहं च त्वत्पुरो वैरिमुखाभिमुखं प्रावर्तिषि[3] तत्किं भवतः अस्मिन्न[4] प्रागल्भ्यं ? इत्येवं वामेन प्रेरितो वामान्यः वामादन्यो वामान्यः–दक्षिणः पाणिः पुनरब्रवीत् वामं पाणिं प्रतीति यत् हे वामपाणे ! न मम भीः, यदहं पश्चाद्यामि तन्न भिया किन्तु स्वामिनं रामं अहं पृच्छामि, यतः स्वानुचराः स्वस्वामिनं पृष्ट्वैव कृत्यं कुर्वते, अतः स्वामिनं पृच्छामि, किमहं स्वामिन् ! एकेनैव बाणेन एकदैव रावणवक्त्रपंक्तिः रावणस्य या वक्त्रपंक्तिः–आननदशकं तां रावणवक्त्रपंक्ति छिन्द्यां–लुनीयाम् ? अथवाशब्दः पक्षान्तरद्योतकः, एकैकं-प्रत्येकं मुखं छिन्द्यामिति आदिश्यतां–आदेशो दीयतां भवतेति स्वाम्यादेशानुयायिकृत्यं प्रष्टुं पश्चाद् यामि न भियेति भावः ।।७०।।

स्थाणुः कूर्मोऽत्र यष्टिर्भुजगपतिरसौ भाजनं भूतधात्री,
तैलापूरः समुद्राः कनकगिरिरयं वृत्तवर्त्तिप्ररोहः ।
अर्चिश्चण्डांशुरोचिर्गगनमलिनिमा कज्जलं दह्यमाना,
शत्रुश्रेणीपतङ्गा जयति रघुपते ! त्वत्प्रतापप्रदीपः ।।७१।।

१–१. हं० प्रत्यंचिते । २. हं० ०लक्षणे । ३. हं० प्रावर्तित । ४. हं० 'न' नास्ति ।

(कीका०)—स्थाणुरिति । हे रघुपते ! त्वत्प्रतापप्रदीपो जयति–सर्वोत्कर्षेण वर्तते, दीपो हि स्थूणास्थयष्ट्याधारो लोके दृष्ट इति । तत्साम्यमाह—स्थाणुस्तु अत्र प्रदीपे[1] कूर्मः–महाकच्छप एव, तत्र निरवातादीपिका–यष्टिरसौ प्रसिद्धो भुजगपतिः–शेष एव, भूतधात्री–भूरेव भाजनं–पात्रं, समुद्राः सर्वेऽपि तैलापूरः–स्नेहसेकः, अयमिति योगिप्रत्यक्षो मेरुर्वृत्तवृत्तिप्ररोहः, चण्डांशुः–सूर्य एवोच्चैस्तरा अर्च्चिः, नभोनीलिमा–कज्जलं, दह्यमाना शत्रुपंक्तिरेव पतङ्गाः–शलभाः ॥७१॥

(गुण०)—स्थाणुः कूर्मोऽत्र यष्टीति । हे रघुपते ! त्वत्प्रतापप्रदीपः तव प्रताप एव प्रदीपस्त्वत्प्रतापप्रदीपो जयति–प्रकर्षेण वर्तते । अथ प्रदीपसाधर्म्यं प्रतापस्य[2] प्राह—अत्र प्रतापप्रदीपे कूर्मः–कमठः स्थाणुः–स्तम्भः अवष्टम्भहेतुः, यथा अन्योऽपि प्रदीपः स्तम्भस्योपरि राजते तथाऽयमपि तथा तत्रैव प्रतापप्रदीपे [3]असौ भुजगपतिः–शेषो यष्टिः स्थाणोरुपरि तदाश्रयाय तद्दण्डतुल्यः । तथा तत्र प्रतापप्रदीपे भूतधात्री–भूमिः भाजनं–तैलपात्रं । तथा तत्रैव प्रतापप्रदीपे[3] समुद्रास्तैलापूरः तैलैरापूरणं तैलापूरस्तैलप्रक्षेप इत्यर्थः । तथा यत्र प्रतापप्रदीपे अयं कनकगिरिः–कनकाचलः वृत्तवर्त्तिप्ररोहः–वर्त्तुलदशाङ्कुरोऽभूत् । तथा तत्र प्रतापप्रदीपे चण्डांशुरोचिः चण्डांशोः–सूर्यस्य यद्रोचिः–कान्तिस्तत् अर्च्चिः–ज्वाला अभूत् । तथा तत्र प्रतापप्रदीपे गगनमलिनिमा–नभोमालिन्यं कज्जलं–अञ्जनमभूत्, गगनस्य कृष्णत्वात् कज्जलसमानतेति । तथा तत्रोर्ध्वरोचिषि प्रतापप्रदीपे सञ्जाते दह्यमाना–भस्मीभवन्ती शत्रुश्रेणी–वैरिराजिः पतङ्गा अभूवन् ॥७१॥

अब्दैर्वारिजिघृक्षयाऽर्णवगतैः साकं व्रजन्ती मुहुः,
संसर्गाद्वडवानलस्य समभूदापन्नसत्वा तडित् ।
मन्ये राम ! तया क्रमेण जनितो युष्मत्प्रतापानलो,
येनारातिवधूविलोचनजलैः सिक्तोऽपि संवर्द्धते ॥७२॥

(कीका०)—अब्दैरिति । वारिणः–जलस्य जिघृक्षया–ग्रहीतुमिच्छया अर्णवगतैः–समुद्रगामिभिरब्दैः–मेघैः साकं व्रजन्ती–गच्छन्ती तडित्–विद्युन् मुहुः–वारं वारं वडवानलस्य संसर्गादापन्नसत्वा समभूत्–प्राप्तगर्भा सम्भूता । हे राम! अत्राऽहमेवं शंके तया विद्युता क्रमेण दशभिर्मासैः युष्मत्प्रतापानलो जनितः–उदपादि । कथमिदं प्रतीयते ! शृणु—येन हेतुना सत् 'प्रतापाग्निः अरातिवधूविलोचनजलैः सिक्तोऽपि संवर्द्धते तेनेदमनुमिमीवहे, वडवाग्नेः पुत्रोऽयं भवतीति ।

---

१. ब. प्रतापदीपे । २. हं० प्रदीपसाधनं प्रदीपस्य । ३–३. हं० नास्ति पाठः । ४. ब. स ।

'वाडवो वैद्युतश्चापि जलसेकाद् विवर्धते । कार्यकारणयोरैक्यादभेदमनुमीयते ।' ॥७२॥

(गुण०)—अब्दैरिति । अब्दैः–मेघैः साकं-सार्द्धं व्रजन्ती–गच्छन्ती तडित्–विद्युत् वडवानलस्य मुहुः–वारंवारं संसर्गात्–संयोगात् आपन्नसत्वा–गुर्विण्यभूत्–जाता । किंविशिष्टैरब्दैः ? वारिजिघृक्षया–पानीयग्रहणेच्छया अर्णवगतैः–समुद्रं[1] प्राप्तैः मेघा रिक्ताः सन्तः पानीयानयनार्थं समुद्रमवगाहन्त इति वृद्धाः । यदुक्तं सूक्तावल्याम्—

'दोषजालमवधूय मानसे, धारयन्ति गुणमेव सज्जनाः ।
क्षारभावमपनीय वारिधे-र्गृह्णते सलिलमेव वारिदाः ॥'

अथ गर्भफलमाह—हे राम ! अहमेवं मन्ये, तया तडिता क्रमेण युष्मत्प्रतापानलः–भवत्प्रतापाग्निः जनितः–समुत्पादितः, यतः स्वानुरूपमपत्यं जन्यते मात्रेत्यतोऽग्निनाऽग्निरेवोत्पादित इति भावः । अथ [2]तडिता त्वत्प्रतापाग्निरेव[2] जनित इति कथं ज्ञायते ? इत्याह—येन कारणेन युष्मत्प्रतापानलो अरातिवधूविलोचनजलैः अरातिवधूनां–वैरिस्त्रीणां विलोचनजलैः–नेत्राश्रुभिः सिक्तोऽपि संवर्द्धते । कोऽर्थः? वैरिस्त्रियः स्वभर्तृमरणाद् यथा यथा रुदन्ति तथा तथा तन्नेत्राम्बुभिस्त्वत्प्रतापाग्निः संवर्द्धते [3]त्वत्प्रतापोऽधिको भवतीत्यर्थः[3] । यतः स[4] प्रतापाग्निर्वडवानलात् पितुः तडितश्च मातुः समुत्पन्नस्तौ च पितरौ पानीययोगादेवोज्जृम्भेते । अतस्तत्पुत्रोऽपि त्वत्प्रतापो भवद्वैरिरमणीनेत्राम्बुभिः सिच्यमानो वृद्धिमाप्नोतीति एतदुचितमेवेति । अत्र वारिजिघृक्षयेति ग्रह उपादाने सति प्रत्यये अः प्रत्ययात् प्रत्ययान्तधातोर्भावादौ स्त्रियां अः स्यात् न क्तिन्निति ॥७२॥

चिन्तागम्भीरकूपादनवरतचलद्भूरिशोकारघट्ट-
व्याकृष्टं निःश्वसन्त्यः पृथुनयनघटीयन्त्रनिर्मुक्तधारम्[5] ।
नासावंशप्रणालीविषमपथपतद्बाष्पपानीयमेता
राम ! त्वद्वैरिनार्यः कुचकलशयुगेनान्वहं संवहन्ति ॥७३॥

(कीका०)—चिन्तेति । हे देव ! एतास्त्वद्वैरिनार्यो निश्वसन्त्यः सत्यो नासावंशप्रणालीविषमपथपतद्बाष्पपानीयं कुचकलशयुगेनान्वहं नित्यं संवहन्ति–प्रापयन्ति आहरन्तीति यावत् । कीदृशं जलम् ? चिन्तागम्भीरकूपात् चिन्तैवापारत्वाद् गम्भीरः कूपस्तस्मात् अनवरतं–अविरामं चलद्–वहद् भूरिमहच्छोक एव यदारघट्टघटीयन्त्रं तेन व्याकृष्टं ऊर्ध्वीनीतमित्यर्थः । पुनः कीदृशम् ? पृथु-

---

१. हं० समुद्रं । २. हं० तडित्वात् प्रतापादिरेव । ३--३. हं० नास्ति पाठः ।
४. हं० त्वत् । ५. कीकामते तु—०यन्त्रधारावमुक्तम् ।

नयनघटीयन्त्रधारावमुक्तं, श्लेषे तु, जलहार्यो [1]दास्यो महाकूपादारघटयन्त्रेणोन्नीतं-घटीभिर्न्नीचैर्मुक्तं जलं श्वसन्त्यः सत्यः कुल्यया विषमपथे पतितं वहन्तीति ।।७३।।

(गुण०)—चिन्तागंभीरेति । हे राम ! त्वद्वैरिनार्यः—तव वैरिस्त्रियः कुचकलशयुगेन कुचौ—स्तनौ तावेव कलशयुगं-घटद्वन्द्वं तेन नासावंशप्रणालीविषमपथपतद्बाष्पपानीयं नासा-वंश एव प्रणाली—जलमार्गः सैव विषमपथः- समोन्नतमार्गस्तस्मात् पतद् यद्बाष्पपानीयं—अश्रुजलं तत्, अन्वहं—प्रतिदिनं संवहन्ति—उद्वहन्ति । अन्यापि नारी या पानीयं वहति साऽपि कलशयुगेनेति, तथा इमा अपि वहन्तीति । किम्भूतास्त्वद्वैरिनार्यः ? निःश्वसन्त्यः निश्वासं मुञ्चन्त्यः । किंविशिष्टं बाष्पजलम् ? चिन्तागम्भीरकूपादनवरतचलद्भूरिशोकार-घट्टव्याकृष्टं चिन्ता—स्वभर्तृहननात् सञ्जातो यः पश्चात्तापः सैव गम्भीरः—अलब्धमध्यो यः कूपस्तस्मादनवरतं—निरन्तरं चलन् भूरिः—बहुलो यः शोक एवारघट्टस्तेन करणभूतेन व्याकृष्टं—निष्कासितम् । अन्ययाऽपि स्त्रिया पानीयं कूपादरघट्टद्वारा निःकास्यते तथेदमपि । पुनः किम्भूतम् ? पृथुनयनघटीयन्त्रनिर्मुक्तधारं पृथूनि—विस्तीर्णानि नयनान्येव घटीयन्त्रं तेन निर्मुक्ता धारा—जलप्रवाहो यस्मिन् तत् ।।७३।।

संग्रामो दिवसायते तव भुजः पूर्वाचलेन्द्रायते,
त्वत्क्रोधोऽप्यरुणायते तव लसच्छौर्यं प्रकाशायते ।
त्वद्वैरी तिमिरायते तदबलाहृत्सूर्यकान्तायते,
त्वत्कीर्त्तिः कमलायते रघुपते ! त्वत्खड्गचण्डद्युतेः ।।७४।।

(कीका०)—संग्राम इति । हे रघुपते ! त्वत्खड्गचण्डद्युतेः—तवाऽसिरेव चण्डद्युतिः—सूर्यस्तस्य एते पदार्थाः साधर्म्यं भजन्ते, तदेव विविच्याह—संग्रामो दिवसायत इति । सूर्योदये दिवसावश्यंभाववत् त्वत्खड्गोदये अवश्यं संग्राम इत्यर्थः । तव भुजः पुनः पूर्वाचलेन्द्रायते, यथा सूर्यः पूर्वाद्रावुदेति तथा खड्गस्य तव भुजे उदयदर्शनात् । त्वत्क्रोधोऽपि[2] अरुणायते, यथाऽस्य सारथिररुणस्तथा क्रोधोऽप्यारक्तो, यथा चाऽरुणात् परं सूर्योदयस्तथा क्रोधात् खड्गोद्यम इति साधर्म्यात् हे देव ! तव लसद्—देदीप्यमानं शौर्यमेव प्रकाशायते—प्रकाशस्थानी-भवति । तथा त्वद्वैरी—तव शत्रुस्तिमिरायते सूर्योदये तिमिरापगमवत् त्वत्कृ-पाणोदये वैरिणां पलायमानत्वात् । तदबलाहृत् तेषां शत्रूणां मानिनीहृदयं सूर्यकान्तायते—यथोदिते सवितरि सूर्यकान्तमणयोऽग्निमुद्गिरन्ति तथा खड्गोदये शत्रुवनिताहृदयं जाज्वलीति भावः । अथ त्वत्कीर्त्तिः कमलायते—कमलवदाच-

१. ब. जलाहार्यो । २. ब. अप्यत्र ।

रति यथा भास्वति–भास्वरे कमलिनी विकसति तथोद्यत्प्रतापे त्वत्खड्गे कीर्त्तिः प्रसरीसर्तीति भावः ।।७४।।

(गुण०)—संग्रामो दिवसायत इति । हे रघुपते !–हे राम ! त्वत्खड्गचण्डद्युतेः त्वत्खड्ग एव–करवाल एव चण्डद्युतिः–सूर्यः त्वत्खड्गचण्डद्युतिस्तस्य त्वत्खड्गचण्डद्युतेः संग्रामः दिवसायते दिवस इवाचरति दिवसायते, यथा दिवसे सूर्यः प्रभाप्रगल्भतामुपैति तथा त्वत्खड्गभानुरपि संग्रामे स्वस्पष्टतां[1] प्रकटयतीति । तथा त्वत्खड्गभानोः तव भुजः–बाहुः पूर्वाचलेन्द्रायते पूर्वस्यामचलेन्द्रः[2] पूर्वाचलेन्द्रः उदयाद्रिरित्यर्थः, स इवाचरति पूर्वाचलेन्द्रायते, यथा भानुरुदयाचले भासते तथा त्वत्खड्गभानुरपि त्वद्भुजे भासत इत्यर्थः । तथा त्वत्खड्गभानोः त्वत्क्रोधोऽपि तव क्रोधस्त्वत्क्रोधः–तव कोपोऽपि अरुणायते अरुण इव–सूरसूत इवाचरति अरुणायते, यतो भानोरपि सारथिररुणो रक्तो भवति तथा त्वत्करवालभानोरपि त्वत्कोपोऽरुणवद्भासते । तथा त्वत्खड्गभानोः तव लसच्छौर्य–भवतो देदीप्यमानशूरत्वं प्रकाशायते प्रकाश इव–उद्योत इव आचरति प्रकाशायते । तथा त्वत्खड्गभानोः त्वद्वैरी तिमिरायते तिमिरमिवाचरति तिमिरायते, यथा भानोरुदये तमांसि विनाशमासादयन्ति तथैव त्वत्खड्गभानोरुदये वैरिणः सर्वेऽपि दिगन्तगामिनो भवन्तीति भावः । तथा त्वत्खड्गभानोः तदबलाहृत् तेषामरीणां या अबलाः–स्त्रियस्तदबलास्तासां यत् हृत्–हृदयं तत् सूर्यकान्तायते सूर्यकान्त इव–सूर्यमणिरिवाचरति सूर्यकान्तायते, यथा सूर्यस्योदये[3] सूर्यकान्तमणिषु महांस्तापः संजायते तथा त्वत्खड्गभानोरुदये वैरिस्त्रीहृदयेऽपि महान्पश्चात्तापोऽजनीति । यतस्तद्भर्तारस्त्वत्खड्गेनाहता अतस्तदबलानां हृदये पश्चात्तापो घटत एवेति । तथा त्वत्खड्गभानोरुदये त्वत्कीर्त्तिः कमलायते कमलमिवाचरति कमलायते, यथा भानोरुल्लासे कमलानि विकस्वराणि भवन्ति तथा त्वत्खड्गभानोरुदये त्वत्कीर्त्तिविकाशमापेति[4] । अत्र दिवसायत इत्यादिषु सर्वत्र 'कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्च' उपमानाकर्तुः सुप् आचारार्थे क्यङ् स्यात् सलोपश्च 'अकृत्सार्वधातुके' इति दीर्घः ।।७४।।

गर्वावेशविशालरावणभुजप्रोद्यत्प्रतापानल-
ज्वालाजालनवाम्बुदः कथमसौ सीतापतिर्वर्ण्यते ।
यस्यारातिनृपाः कृपाणजलधौ मग्नाः पुरो गौरवा-
दत्युच्चैर्गतयो भवन्ति च पुनर्भित्त्वा रवेर्मण्डलम् ।।७५।।

(कीका०)—गर्वावेशेति । असौ सीतापतिः किं वर्ण्यते–कथं वर्णयितु शक्यः । कीदृशः ? गर्वावेशविशालरावणभुजप्रोद्यत्प्रतापानलज्वालाजालनवाम्बुदः अहंकारावेशेन विशाला–विस्तीर्णा ये रावणभुजास्तेभ्यः प्रसख्यः प्रतापानलस्तस्य

---

१. हं० 'स्व' नास्ति । २. हं० पूर्वयामचलेन्द्रा । ३. हं० भानोरुदये । ४. हं० उपैति ।

ज्वालाजाले नवाम्बुदः—वर्षुकाब्द इव शामक इत्यर्थः। किञ्च, यस्य रामस्य अरातिनृपाः—शत्रुभूभुजो गौरवाद्–गुरुत्वेनापभरेण [1]च कृपाणजलधौ–खड्गसमुद्रे मग्नाः–त्रुडिताः सन्तोऽपि रवेर्मण्डलं भित्त्वा पुनरुच्चैर्गतयो भवन्तीत्येतच्चित्रमशक्यवर्णनीयत्वमित्यर्थः। यदभिहितम्—

'द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च, रणे चाभिमुखो हतः॥१॥

इति॥७५॥

(गुण०)—गर्वविशेति। असौ सीतापतिः–रामः कथं वर्ण्यते–कथं स्तूयते। तत्र स्तवनाशक्यत्वे हेतुमाह—यस्य रामस्य पुरः–अग्रे अरातिनृपाः–वैरिराजाः कृपाणजलधौ कृपाण एव कृष्णाभत्वाज्जलधिः–समुद्रस्तस्मिन् गौरवात् इति वयं वीरसूरिति स्वमातुर्नामान्यथाकर्तुं भग्नमुखाः कथं पश्चात्पदं कुर्महे इति शौर्यान्मिग्नाः–त्रुडितास्तैः वैरिनृपाः पुना रवेर्मण्डलं–सूर्यमण्डलं भित्त्वा अत्युच्चैर्गतयो भवन्ति–स्वर्गयायिनो भवन्तीत्यर्थः। यदुक्तम्—

'द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदकौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाऽभिमुखो हतः॥'

अन्यो हि यो जलनिधौ निमग्नो भवति स च मज्जनात्कर्णाद्यन्तर्गतजलयोगान्नीचैर्गतिरेव भवेत् न तूच्चैर्गतिः[2], परं एते त्वत्कृपाणाम्बुधौ निमग्ना रिपव उच्चैर्गतयो भवन्ति, अतः असौ रामः कथं वर्ण्यते इत्युपालम्भोद्देशः। स्तुतिपक्षे तु, यो वैरिणामपि स्वः सम्पदः प्रदाता स महानुभावः कथं वर्ण्यः स्या दति। किं विशिष्टः रामः गर्वविशविशालरावणभुजप्रोद्यत्प्रतापानलज्वालाजालनवाम्बुदः गर्वविशेन–दर्पाटोपेन विशालौ–विस्तीर्णौ यौ रावणभुजौ ताभ्यां प्रोद्यंत्यः–देदीप्यमानायाः प्रतापानलज्वालाः–प्रतापाग्निशिखास्तासां यज्जालं–समूह–तत्र नवाम्बुद इव–नवमेघ इव यः सः। अन्योऽपि अनलोऽम्बुदेन शाम्यते तथा तत्प्रतापाग्निरपि रामेण शमित इति भावः॥७५॥

अत्युक्तौ यदि न प्रकुप्यसि मृषावादं न चेन्मन्यसे,
तद् ब्रूमोऽद्भुतवस्तुवर्णनविधौ व्यग्राः कवीनां गिरः।
राम! त्वत्तरुणप्रतापदहनज्वालावली शोषिताः,
सर्वे वारिधयस्तवारिवनितानेत्राम्बुभिः पूरिताः॥७६॥

(कीका०)—अत्युक्ताविति। हे राम! यद्यत्युक्तौ–अतिशयवचने त्वं न प्रकुप्यसि, यदि वा मृषावादं न मन्यसे, मृषा–असत्यो वादो यस्य तादृशं चेन्मां न

१. ब गुरुत्वेनाथ भारेण। २. हं० 'एवं भवेत न तूच्चैगतिः' नास्ति।

जानासि तर्त्तार्हि किञ्चिद् ब्रूमः । यतः कवीनां गिरः प्रायशोऽद्भुतवस्तुवर्णनविधौ–अभूतपूर्वचमत्काराधायकार्थवर्णने व्यग्राः–लालसा भवन्ति, किं तदित्युच्यते—हे राम ! त्वत्तरुणप्रतापतपनज्वालावलीशोषिताः सर्वे वारिधयस्तवारिवनितानेत्राम्बुभिः पूरिताः, तव तरुणः–क्रूरो यः प्रतापः स एव तपनः सूर्योऽस्य[1] ज्वालावलीभिः सकृच्छोषिताः, पुनस्त्वच्छत्रुकामिनीनयनाश्रुजलैः पूरिता इत्यभूताश्चर्यकृत्तव प्रताप इति भावः ॥७६॥

(गुण०)—अत्युक्ताविति । हे राम ! अत्युक्तौ–बहुभाषिते यदि न प्रकुप्यसि–न कोपं कुरुषे, तथा अत्युक्तौ मृषावादे–असत्यवचनं चेद् यदि न मन्यसे–न जानासि तर्हि तत् किमपि वयं ब्रूमः–वच्मः तत्किं ब्रूमः ? इत्याह—हे राम ! अद्भुतवस्तुवर्णनविधौ अद्भुतं–आश्चर्यकारि यद्वस्तु तस्य यद् वर्णनं–शुभवाग्विलासैः कथनं तस्य विधौ–विधाने कवीनां–मेधाविनां गिरः–वाण्यो व्यग्राः–व्याकुला बभूवुः, अन्यवस्तुवर्णनमनस्काः कवयोऽन्यदेव व्याचक्षतेत्यर्थः । ननु गिरां शब्दात्मकत्वेनाऽचेतनत्वात् कथं व्यग्रत्वमिति चेत् ? सत्यं, परमत्र कवीनामद्भुतस्तुतौ चेतो व्याकुलत्वेपि तदुद्भवत्वात्[2] तासामपि व्याकुलत्वमुपचर्यत इति न दोषः । अथ तत् किमद्भुतं वस्तु यस्य वर्णनविधौ कविगिरां व्यग्रमिति ? तदाह—हे स्वामिन् ! सर्वे वारिधयः–समुद्राः त्वत्तरुणप्रतापदहनज्वालावलीशोषिताः तव तरुणः–प्रत्यग्रो यः प्रतापः स एव दहनज्वालावल्यः–अग्निशिखाश्रेणयस्ताभिः शोषिताः–शोषः सञ्जात एषामिति शोषिताः–शोषं प्राप्ता इत्यर्थः । सर्वे [3]वारिधयस्तव अरिवनितानेत्राम्बुभिः–वैरिस्त्रीनयनाश्रुभिः पूरिताः–भृताः । इत्येतत् कथं घटते ? यदि ताः व्यग्राः न भवेयुस्तदा कथमित्थं वदेयुः[4] ? यत्प्रतापदहनज्वालावलीभिः प्राक् समुद्रा अशुष्यन् पश्चात् त्वद्वैरिस्त्रीनेत्रजलैः पूरिता इति । तस्मादद्भुतवस्तुवर्णने कविगिरो व्यग्रा इति । इत्यनेन त्वत्प्रतापस्योग्रत्वमसहमानानां असहनानां[5] नामशेषीभूतत्वात् तत्पत्नीनां रोदनमसूचीति ॥७६॥

राम[6] ! त्वत्तरुणप्रतापतपनत्रासादिव त्र्यम्बको,
नो गङ्गां विजहाति निःसरति न क्षीराम्बुधेर्माधवः ।
[7]ताम्यंस्तामरसान्तरालवसतिर्देवः स्वयम्भूरभूत् ,
पातालावधिपङ्कमग्नवपुषस्तिष्ठन्ति कूर्मादयः ॥७७॥

(कीका०)—देवेति । रामेति पाठे हे राम! त्वत्तरुणप्रतापतपनत्रासादिव तव तरुणः–नवोदितो यः प्रताप एव तपनः सूर्यस्तद्भयादिव त्र्यम्बकः–महेश्वरो न गङ्गां विजहाति–न त्यजति किन्तु शिरस्येव धत्ते । तथा माधवः–विष्णुरपि क्षीराम्बुधेः–

---

१. ब० सूर्यस्तस्य । २. हं० तदुद्भूतत्वात् । ३. हं० वारिधयः–समुद्राः । ४. हं० 'वदेयुः' नास्ति । ५. हं० 'असहनानां नाम' नास्ति । ६, कीकामते तु—देव । ७. कीकामते तु—ताम्यत्तामरसा० ।

क्षीरसागरान्न निस्सरति। देवः स्वयम्भूः—ब्रह्मा च ताम्यत्तामरसान्तरालवसतिरभूत् ताम्यत् संकुच्यमानमार्द्रं वा यत्तामरसं—कमलं शीतलत्वात् तन्मध्ये वसतिर्यस्येति तथा। अथ कूर्मादयो महान्तस्तु पातालावधिः—अन्तिमपातालपर्यन्तं पङ्कमग्नवपुषः—शीतलकर्दमब्रुडितशरीरास्तिष्ठन्ति। अत्र सर्वत्र त्वत्तत्प्रतापतपनत्रास एव कारणमित्यर्थः ॥७७॥

(गुण०)—राम त्वदिति। हे राम! त्र्यम्बकः—महेशः गङ्गां न विजहाति—न त्यजति। कस्मादिव? त्वत्तरुणप्रतापतपनत्रासादिव त्वदीयो यस्तरुणः—प्रत्यग्रो नवीनः[1] प्रताप एव तपनः—सूर्यस्तस्माद् यस्त्रासः—भयमाकस्मिकं तस्मादिव। यद्यपि निसर्गत एव भर्गः शिरसि सुरसरितमुद्वहते तथापि कविभिरुत्प्रेक्ष्यते—किं रामप्रतापतपनभयादिव शीतलत्वार्थिना हरेण गङ्गा शिरस्युह्यत इति। तथा माधवः—विष्णुः क्षीराम्बुधेः—क्षीरसमुद्रान्न निस्सरति। कस्मादिव? त्वत्प्रतापतपनत्रासादिव। तथा स्वयम्भूर्देवः—ब्रह्मा ताम्यंस्तामरसान्तरालवसतिः ताम्यन्—त्वत्प्रतापतपनान् म्लानिं प्राप्नुवन् अत एव तामरसान्तरालं—कमलमध्यं तत्र वसतिः—निवासोऽस्येति ईदृग्विधोऽभूत्। कस्मादिव? त्वत्प्रतापतपनत्रासादिव हरिनाभिकमलान्तरालस्यातिशीतलत्वात् तत्र निवसतीति भावः। तथा कूर्मादयः—कमठप्रमुखाः जलजन्तवः पातालावधिपङ्कमग्नवपुषः पातालमवधौ—पर्यन्ते यस्येति[2] पातालावधिः—पातालं यावत् यः पङ्कः—कर्दमस्तस्मिन् मग्नानि—ब्रुडितानि वपूंषि—शरीराणि येषां ते ईदृग्विधा अभूवन्। कस्मादिव? त्वत्प्रतापतपनत्रासादिवेति योज्यम् ॥७७॥

मग्ना ये रिपवो निपत्य भवतो निस्त्रिंशधाराजले,
तत्कान्ताः करुणापरेण भवता व्याकृष्य हृन्मण्डलात्।
श्रीमद्राम निवेशिता गुरुवियच्चक्रे भ्रमाभ्यासतो,
बाष्पोत्पूरमिषात् त्यजन्ति बहुशः श्रोत्रान्तरस्थं पयः ॥७८॥

(कीका०)—मग्ना इति। हे श्रीमद्राम! भवतो ये रिपवो निस्त्रिंशधाराजले—खड्गधारालक्षणे जले निपत्य—मग्नास्तत्कान्ताः—तेषां रिपूणां स्त्रियस्तु करुणापरेण—दयालुना भवता हृन्मण्डलाद्—हृदयप्रदेशाद् व्याकृष्य—आलोड्य गुरुवियच्चक्रे[3] निवेशिताः—स्थापिताः, अतो भ्रमाभ्यासतः—भ्रमणिकाभ्यासवशेन बाष्पोत्पूरमिषात्—अश्रुबाहुल्यच्छलेन श्रोत्रान्तरस्थं—कर्णादिच्छिद्रमध्यगं पयः—जलं बहुशो—बहुवार त्यजन्ति—उद्गिरन्ति। श्लेषे तु, जले निमज्जमानाः काश्चित्कृपालुनोद्धृत्य चक्रादियन्त्रेण भ्राम्यमाणाः कर्णमुखादिच्छिद्रेभ्यो यथा जलं स्रवन्तीति ॥७८॥

[पद्यस्यास्य टीका गुणविनयकृता नोपलभ्यते]

---

१. हं० 'नवीनः' नास्ति। २. हं० 'पातालमवधौ पर्यन्ते यस्येति' नास्ति। हं० प्रतौ मूले टीकायामपि च 'पातालाविधिः' च शब्दो वर्तते। ३. व० गुरुवैयच्चक्रे।

बङ्गाः केऽमी पतङ्गाः स्फुटकरटिघटाः किं कलिङ्गाः कुरङ्गा-
'स्तैलिङ्गास्त्यक्तलिङ्गास्त्वयि चलति रणक्षोणिमङ्गाः निरङ्गाः।
शङ्के लङ्केश्वरोऽपि त्वदुपचितचमूचंक्रमोद्धूतधूली-
धारां जानाति वारांनिधिनिहितमहासेतुमास्कन्दहेतुम् ॥७६॥

(कीका०)—बङ्गा इति। हे राम! त्वयि रणक्षोणिं–संग्रामभूमिं प्रति चलति–गच्छति सति अमी प्रसिद्धाः वङ्गाख्या जनपदाः, के पतङ्गाः–कीदृशाः शलभप्राया इत्यर्थः। जनपदशब्देन तद्राजानो लक्ष्यन्ते। कलिङ्गाः किं कुरङ्गाः–मृगवद्भीताः–पलायमानपरा इत्यर्थः। नन्वसाधना भविष्यन्ति नेति विशिनष्टि—स्फुटेति। 'करटः करिणां गण्डे' इत्यमरः। महागण्डाः–गजराजाः करटिनस्तेषां घटाः–समूहाः स्फुटाः–प्रकटाः करटिघटा येषु ते। तथा त्यक्तरङ्गाः–त्यक्तानन्दास्तैलिङ्गाः–देशविशेषाः के किम्बला इति पूर्वेणान्वयः। अङ्गाश्च प्रसिद्धाः जनपदा निरङ्गाः–अङ्गैर्युद्धोपकरणैर्हीना एवेत्यर्थः। किञ्च, अहमेवं शंके–संदिहानोऽस्मि, यल्लंकेश्वरोऽपि–रावणोऽपि त्वदुपचितचमूचंक्रमोद्धूतधूलीधारां त्वयोपचिता–वर्धिता या चमूस्तस्याश्चंक्रमेण–अतिशयपादविक्षेपेण उद्धूता–उड्डीना या धूलीधारा–रजः-सन्तानस्तां आस्कन्दहेतुं–लङ्कायाः शोषे कारणभूतं वारांनिधिनिहितमहासेतुं–समुद्रे सम्पादितबृहत्सेतुरूपेण जानाति, समुद्रोत्तितीर्षया कृतसेतुमाशंकत इति भावः ॥७६॥

(गुण०)—बङ्गाः केऽमी पतङ्गा इति। हे राम! त्वयि रणक्षोणिं–युद्धभूमिं चलति सति, अमी[2] बङ्गाः–बङ्गदेशोद्भवा राजानः किं किमो निन्दार्थत्वादकिञ्चित्करा इत्यर्थः, एवमग्रतोऽपि किमर्थोऽवसेयः। किंविशिष्टाः बङ्गाः? पतङ्गाः–शलभप्रायाः, भवद्भीत्या पतन्तः–नीचैर्भवन्तो गच्छन्तीति व्युत्पत्तेः। पुनः किंविशिष्टाः? स्फुटकरटिघटाः स्फुटाः–प्रकटाः करटिनां–हस्तिनां घटा येषां ते स्फुटकरटिघटाः। तथा कलिङ्गाः–कलिङ्गजनपदोद्भवा राजानः किम्? किंविशिष्टाः? कुरङ्गाः–हरिणप्रायाः, असमत्रासाश्रयत्वात्। तथा तैलिङ्गाः–तैलिङ्गदेशोद्भवाः नृपाः के? किंविशिष्टाः? त्यक्तलिङ्गाः–क्लीबाः। तथा अङ्गाः–अङ्गदेशोद्भवा राजानः के? किंविशिष्टाः? निरङ्गाः निर्गतानि अङ्गानि–राज्यसाधनानि[3] हस्त्यश्वादीनि येभ्यस्ते निरङ्गाः। अत्र सर्वत्र 'जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्' जनपदशब्दात् क्षत्रियवाचिनो अपत्ये अञ् स्यात्। पाञ्चालः वैदेहः आङ्गः वाङ्गः ते तद्राजाः ते अञादयस्तद्राजसंज्ञाः स्युः। बहुत्वे तु 'तद्राजस्ये'ति लुक्। पञ्चालाः विदेहाः अङ्गाः वङ्गाः इत्यादिवत् साधना विधेयेति। अहमेवं शंके, आसतामन्ये, राजानः लंकेश्वरोऽपि–रावणोऽपि

---

१. कीकामते तु—स्तैलिङ्गास्त्यक्तरङ्गा०। २. हं० 'अमी' नास्ति। ३. हं० 'राज्यसाधनानि' नास्ति।

त्वदुपचितचमूचंक्रमोद्धूतधूलीधारां तव उपचिता–पुष्टा या चमूः–सेना तस्याश्चंक्रमणेन[1] गमनेन उद्धूता–उच्छ्रिता या धूली तस्या या धारा–प्रवाहस्तां आस्कन्दहेतुं-धाटीनिदानं जानाति । यथा अन्येनापि राज्ञा वैरिराजं प्रत्यागच्छतां रात्रिवाहो दीयते, तथा त्वत्सेना-सम्मर्दोत्थितधूलिः आस्कन्दहेतुरिव वर्तते । किंविशिष्टां ? वारांनिधिनिहितमहासेतुं वारांनिधौ–समुद्रे निहितः–न्यस्तो महासेतुर्यया सा तां । यतस्त्वच्चमूचंक्रमेण एतावती धूलिरुत्थिता यया समुद्रेऽपि सेतुर्बद्ध[2] इति भावः ॥७९॥

देवे दिग्विजयोद्यते परिपतत्काम्बोजवाहावली-
वींखोल्लेखविसर्पिणि[3] क्षितिरजःपुञ्जे वियच्चुम्बति ।
भानोर्वाजिभिरङ्गभूषणरसानन्दः[4] समासादितो
लब्धः किं च नभःस्थलामरधुनीपङ्केरुहैरन्वयः ॥८०॥

(कीका०) –देवे इति । देवे विजिगीषौ रामे दिग्विजयोद्यते सति परिपतत्काम्बोजवाहावलीर्वीषोल्लेखविसर्पिणि क्षितिरजःपुञ्जे वियच्चुम्बति सति भानोर्वाजिभिरङ्गरूषणरसास्वादः समासादितः, परिपतन्तः–सर्वतो धावन्तो ये काम्बोजदेशीया वाहाः–अश्वास्तेषां आवली–पंक्तिस्तस्या या विशिष्टा इषा–गतिः 'इष गतौ' हि धातुस्तस्य वीषायाः–गतिविशेषस्य उत्प्लवनादेरुल्लेखः–अभिव्यक्तिस्तया विशेषेण सर्पितुं–चलितुं शीलमस्य तादृशे रेणुपटले व्योम-व्याप्नुवति[5] सति सूर्याश्वैरङ्गस्य–वपुषो यद् रूषणं–सिकतासु परिवर्तस्तत्सुख-मन्वभावि । किञ्च, नभस्थलामरधुनीपङ्केरुहैरन्वयो लब्धो यथार्थनामधेयता-धिगता । पङ्के–कर्दमे रुहन्तीति पंकेरुहाणि, वियद्गङ्गायां च स्वाभाविकपङ्का-भावाच्छ्रीरामप्रस्थाने चमूत्खातरजसा पङ्कसद्भाव उत्प्रेक्ष्यत इति भावः ॥८०॥

(गुण०)—देवेति । देवे–रामे दिग्विजयोद्यते–दिग्यात्रां कर्त्तुं प्रवृत्ते सति भानोः–सूर्यस्य वाजिभिः–अश्वैः अङ्गभूषणरसानन्दः अङ्गे भूषणमिव भूषणं–भूमिविलुठनलक्षणं तत्र[7] यो रसस्तदासक्तिस्तस्माद् य आनन्दः–आह्लादः स समासादितः–प्राप्तः, यतो वाजिनां भूमौ विलुठनं परमं भूषणं सुखावहं चातो रजःसंश्लेषे सूर्याश्वैर्भूविलुठनसुखं लब्धमिति भावः । 'अङ्गरूषणरसास्वादः' इति पाठान्तरं, तत्र अङ्गेन रूषणरसस्य–गुण्डनरसस्य आस्वादः प्राप्तः । किञ्चेति पुनः को विशेषोऽभवत् ? इत्याह—नभःस्थलामरधुनीपङ्केरुहैः नभः–स्थले–आकाशे या अमरधुनी–गङ्गा तस्यां यानि पङ्केरुहाणि तैरन्वयः–वंशः पङ्केरुहत्व-

१. हं० चंक्रमेण । २. हं० सेतुबद्ध । ३. कीकामते तु—भानोर्वाजिभिरङ्गरूषण-रसानन्दः । ४. कीकामते तु—वीषोल्लेखविसर्पिणि । ५. ब० तस्या । ६. ब० व्याप्नुवते । ७. हं० तस्य ।

लक्षणः सत्यनामत्वमिति यावत् 'स लब्धः समासादितः'[1] । कथं, यतो गङ्गायां रजोलेशोऽपि नास्ति ततस्तदभावे पङ्काभाव एव, अतो गङ्गाम्भोजानां पङ्केरुहत्वमित्यन्वयः । कुतस्त्यः परं पङ्केरुहैः पङ्के रुहन्ति जायन्त इति पङ्केरुहाणीत्यन्वयः । त्वयि दिग्विजयोद्यते सति लब्धः, यतस्त्वदश्वखुरक्षुण्णभूरजो नभःसरिति गतं, ततस्तत्र तद्रजः पानीययोगात्पङ्कत्वं प्राप । तत्र च पङ्के पद्मानि जातानीति पङ्केरुहैः पङ्केरुहत्वमित्यन्वयः प्राप्तः इति भावः । एतदेव सूत्रपदैरभिव्यनक्ति—क्व सति क्षितिरजःपुञ्जे–भूमिपांशुसमूहे वियत्–आकाशं चुम्बति सति–आश्लिष्यति सति । किंविशिष्टे क्षितिरजःपुञ्जे ? परिपतत्काम्बोजवाहावलीवींखोल्लेखविसर्पिणि परिपतन्तः–गच्छन्तो ये काम्बोजवाहाः–काम्बोजदेशोत्पन्ना अश्वास्तेषां या आवली–श्रेणिस्तस्या या वींखा–गतिभेदः, यदनेकार्थः—'वींखा तु शूकशिम्बायां गतिभेदे च नर्त्तने' इति । तस्या उल्लेखः–उद्गमो वाजिनां वल्गनादिक्रियाकरणमित्यर्थः, तेन विसर्पति–ऊर्ध्वं गच्छतीत्येवंशीलः परिपतत्काम्बोजवाहावलीवींखोल्लेखविसर्पस्तस्मिन् इति ॥८०॥

करकम्पितखड्गयष्टिभीमे, रणसन्नाहितरामनाथवीरे ।
अरिभूभृदमर्त्यसुन्दरीणा-मचलन् दक्षिणवामलोचनानि ॥८१॥

(कीका०)—करेति । रामनाथवीरे–जगत्स्वामिनि दाशरथिसुभटे करकम्पितखड्गयष्टिभीमे करेण–हस्तेन कम्पिता–आन्दोलिता खड्गयष्टिः–असिलता तया कृत्वा भीमे–भयङ्करे रणसन्नाहिनि–संग्रामोद्युक्ते सति अरिभूभृदमर्त्यसुन्दरीणां अरिभूता भूभृतः–राजान एव अमर्त्याः–देवाः 'ना विष्णुः पृथ्वीपतिः' इति स्मरणात्, तत्सुन्दरीणां दक्षिणवामलोचनान्यचलन् । उभयचक्षुःस्फुरणोक्त्या अपनिमित्तातिशयो ध्वन्यते ॥८१॥

(गुण०)—करकम्पितमिति । रणसन्नाहितरामनाथवीरे रणे–संग्रामे सन्नाहितः–कवचितो यो रामनाथवीरः–रामचन्द्रसुभटस्तस्मिन्, करकम्पितखड्गयष्टिभीमे करेण कम्पिता–इतस्ततो झात्कारं प्रापिता या खड्गयष्टिस्तया भीमे–रौद्रे जाते सति, अरिभूभृदमर्त्यसुन्दरीणां अरिभूभृतः–वैरिराजास्तथा अमर्त्याः–देवास्तेषां याः सुन्दर्यः–स्त्रियस्तासां अरिभूभृदमर्त्यसुन्दरीणां दक्षिणवामलोचनानि अचलन्–अस्फुरन् । वैरिराजस्त्रीणां दक्षिणेक्षणस्फुरणफलं यत्तद्भर्त्तारो रणे रामेण हताः । अथ अमर्त्यसुन्दरीणां वामेक्षणस्फुरणफलं यत्स्वभर्तृवैरिणो दैत्या हता इति भावः ॥८१॥

परिहरत पराङ्गनानुषङ्गं, बत यदि जीवितमस्ति वल्लभं वः ।
हरि हरि हरिणीदृशो निमित्तं, दश दशकन्धरमौलयो लुठन्ति ॥८२॥

(कीका०)—परिहरतेति । हे खिगयुवानो वः–युष्माकं यदि जीवितं

[1]–[1]. ह्वं० स समासादितः प्राप्तः ।

वल्लभमस्ति तर्हि पराङ्गनानुषंगं—परस्त्रीसंसर्गं परिहरत—त्यजत। बत इत्यनुकम्पायाम्, दयया केवलमिदं वच्मीति भावः। हरि हरि इत्यव्ययम्। दयामभिनयेन नाटयति, हरिणीदृशः सीतायाः निमित्तं तदर्थे इत्यर्थः। दशसंख्या अपि दशकन्धरमौलयः—रावणस्य मूर्धानो लुठन्ति—भूमौ इतस्ततः परिवर्तन्ते ॥८२॥

(गुण०)—परिहरतेति। हे जनाः! यदि चेत्, बत इति खेदे, वः—युष्माकं जीवितं—प्राणाः वल्लभमस्ति—प्रियं वर्तते तदा यूयं पराङ्गनानुषङ्गं परेषां—आत्मव्यतिरिक्तानां अङ्गनाः—स्त्रियः पराङ्गनास्तासु अनुषङ्गः पराङ्गनानुषङ्गस्तं परस्त्रीष्वनुरागं परिहरत—परित्यजत, यस्मात् परस्त्र्यभिलाषे दश—दशसंख्यकाः दशकन्धरमौलयः दशकन्धरस्य—रावणस्य मौलयो दशकन्धरमौलयः—रावणमस्तकानि हरि हरि इति खेदे हरिणीदृशः—स्त्रिया प्रस्तावात् सीतायाः निमित्तं लुठन्ति, यद्यसौ रावणः सीतानुषङ्गं नाकरिष्यत् तदा कथं रामस्तन्मस्तकानि तृणानीवालविष्यत् इति भावः ॥८२॥

अयि! खलु विषमः पुराकृतानां, विलगति जन्तुषु कर्मणां विपाकः।
हरशिरसि शिरांसि यानि रेजुर्हरि हरि तानि लुठन्ति गृध्रपादैः ॥८३॥

(कीका०)—अयि खल्विति। इह केचिदितिहासमाहुः। अयि खल्विति श्लोकार्द्धमुपलभ्य क्व जनकतनयेति, केचित्कवय उत्तरार्द्धं प्रचिक्षिपुस्तदनु सामुद्रे जले प्रयततः[1] आविर्भूताद्धनूमतः सीतायाः कर्मसम्बन्धमसहमानाद्धरशिरसीत्युत्तरार्द्धं लब्धवन्त इति। सार्द्धश्लोकग्रन्थः साम्प्रदायिकः क्व[2] नु कुलमिति प्रक्षिप्य कवित्वद्वयमामनन्ति, वागधिदेवताकृतं तु सर्वमिति व्याख्यायते—

अयीति कोमलामन्त्रणे। जन्तुषु—प्राणिषु विषये पुराकृतानां कर्मणां विषमः—वक्रो विपाक—परिणामः, तथा च दृष्टान्तः—यानि दशाननशिरांसि हरशिरसि रेजुः हराराधनसमये, हरि हरीति अयोग्यविपाकत्रासप्रकाशकमव्ययम्, तान्येव रावणशिरांसि गृध्रपादैर्भूमौ लुठन्ति—इतस्ततो लोष्ठवत् परिवर्तन्ते ॥८३॥

(गुण०)—अयि खलु विषमः पुराकृतानामिति। [3]अयि खल्विति पूर्वार्द्धपदद्वयी प्राग्वदेव व्याख्या[3]। यानि शिरांसि—मस्तकानि रावणस्येति शेषः, पूजार्थं न्यस्तानि, हरशिरसि—शम्भुमस्तके रेजुः—शुशुभिरे, तानि शिरांसि हरि हरीति खेदार्थेऽव्ययं, गृध्रपादैः—गृध्रचरणैर्लुठन्ति। को भावः? रामबाणेन रावणस्य छिन्नानि शिरांसि भूमौ निपेतुः, ततो गृध्रचरणैरितस्ततो लुठ्यन्त इति ॥८३॥

---

१. ब० प्रयतंतः। २. ब० अपरे पुनः क्व। ३—३. हं० पूर्वार्द्धव्याख्या प्राग्वदेव।

अयि ! खलु विषमः पुराकृतानां, विलगति जन्तुषु कर्मणां विपाकः।
क्व च ननु जनकाधिराजपुत्री, क्व च दशकन्धरमन्दिरे निवासः ॥८४॥
अयि ! खलु विषमः पुराकृतानां, विलगति जन्तुषु कर्मणां विपाकः।
क्व नु कुलमकलंकमायताक्ष्याः, क्व च रजनीचरसङ्गमापवादः ॥८५॥

(कीका०)—विषमविपाकत्वमेवाविष्कर्तुं माह—

क्व जनकतनयेति। महदन्तरद्योतकः क्वशब्दः, जनकतनयात्वमपि विशिष्टं-विशिष्टतरं च रामरामात्वमित्युभयत्र क्वशब्दः। जनक-पुत्र्याः श्रीरामपाणिगृहीतायाश्च रावणगृहे वास इत्यत्याश्चर्यः। कर्मविपाक इति, कर्मणां विषमविपाकत्वे एवाह—क्व नु कुलमिति। आयताक्ष्याः सीतायाः अकलङ्कं कुलं क्व ? नु शब्दान्तरैः स एवार्थः। रजनीचरसंगमापवादो रावण-सम्पर्कादपवादः क्वेति ।।८४–८५।।

(गुण०)—अयि खल्विति। अर्थं प्राग्व्याख्यातमेव। नन्विति वितर्के, जनकाधिराज-पुत्री-सीता क्व च[1], दशकन्धरमन्दिरे-रावणगृहे निवासः क्व च[2] ? [3]अत्र चशब्दः पक्षान्तरे[3] ।।८४।।

(गुण०)—अयि खलु विषमः इति। अयीति कोमलामन्त्रणे, खलु-निश्चितं, जन्तुषु-जीवेषु पुराकृतानां-पूर्वजन्म*विहितानां कर्मणामर्थादशुभानां विषमो विपाकः विलगति-भवति, उत्पद्यत इत्यर्थः। अथ पुराकृतकर्मणां विपाकमाविःकुर्वन्नाह—नु इति* वितर्के, आयताक्ष्याः आयते-विस्तीर्णे अक्षिणी-नेत्रे यस्याः सा आयताक्षी तस्याः सीतायाः 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्' इति षच्, 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इति ङीष्। अकलङ्कं-निःकलङ्कं विमलं कुलं क्व, च-पुना रजनीचरसङ्गमापवादः रजनीचरस्य-राक्षसस्य अर्थाद् रावणस्य यः सङ्गमः-संयोगस्तस्माद्[4] योऽपवादः-अश्लाघा स[5] क्व ? अत्र उभावपि क्वशब्दौ सीतायाः रावणसंगतेश्चात्यन्तासंगतिव्यञ्जकौ ज्ञेयौ इति ।।८५।।

श्रीमन्नायक ! रामभद्र ! भवतः पाणौ कृपाणं रणे,
दृष्ट्वा यद्यदभूदरिक्षितिभुजां तत्तत् समाकर्णय।
अङ्गे वेपथुरन्धता नयनयोर्वक्त्रे तृणं भूयसी,
भीतिश्चेतसि वाचि संस्तुतिकथा हस्तद्वयं मस्तके ॥८६॥

१, २. हं० 'च' नास्ति। ३. हं० 'अत्र चशब्दः पक्षान्तरे' नास्ति। ४. तस्य अपवाद। ५. हं० 'स' नास्ति। *–*एतच्चिह्नान्तर्गतपाठो नास्ति हं० प्रतौ।

(कीका०)—श्रीमन्निति। श्रीमन्! शोभावन्! हे नायकश्रेष्ठ! हे रामभद्र! कल्याणरूप! रणे—संग्रामे भवतः पाणौ कृपाणं—खड्गं दृष्ट्वा अरिक्षितिभुजां—शत्रुभूतराजां यत् यदभूत् तत्तत् त्वं समाकर्णय—शृणु। किमिति आकांक्षायामाह—अङ्गे वेपथुः—कम्प इत्यर्थः, नयनयोः—नेत्रयोरन्धता—व्यामोहाद् दर्शनाक्षमत्वम्, वक्त्रे—मुखे तृणं, रणत्रस्ता हि पुरुषास्तृणकवलं मुखे प्रक्षिप्यात्मनः पशुत्वख्यापनेन हिंसायाः सुभटमुपरमयन्ति, अवैधपशुहिंसायाः शास्त्रगर्हितत्वात्। तथा चेतसि—चित्ते भूयसी—बहुतरा भीतिः—भयातिशयः, वाचि संस्तुतिकथा, कदाचिद् बन्दिनमपि मां विज्ञाय न हन्यादिति हस्तद्वयं मस्तके इति प्रणामाञ्जलिना सर्वथाऽयं निवर्तिष्यत इत्येतदर्थम् ॥८६॥

(गुण०)—श्रीमन्नायकेति। हे श्रीमन्नायक! रामभद्र! रणे—संग्रामे भवतः पाणौ—हस्ते कृपाणं—खड्गं दृष्ट्वा अरिक्षितिभुजां—वैरिराजानां यद्यद् वस्तु अभूत् तत्तत् समाकर्णय—शृणु। अंगे वेपथुः—कम्पोऽभवत्। तथा नयनयोरन्धतां—आन्ध्यमभूत्, त्वत्करे कृपाणं दृष्ट्वा अन्धा इव जाता, न किञ्चिदवलोकयंति स्मेत्यर्थः। तथा वक्त्रे तृणमभूत्, यदा कातरैः शूराक्रान्तैर्मुखे तृणोपादानं क्रियते तदा ते गोवत् शूराणामवध्या भवन्तीति। तथा तेषां चेतसि—चित्ते भूयसी—बह्वी भीतिः—भयमभूत्। तथा तेषां वाचि—वाण्यां संस्तुतेः कथाऽभूत्, यथा च[1] हे रामचन्द्र! कृपालो! अस्मान् पाहि पाहीत्येवं स्तुतिमकार्षुः। तथा तेषां हस्तद्वयं प्रणामार्थं विरचितमुकुलितपाणियुगं मस्तकेऽभूदिति। सर्वे वैरिणस्त्वत्करे कृपाणं दृष्ट्वा त्यक्तमानाः शिरसि प्रणामाञ्जलिं विधाय त्वत्पदाम्बुजयोर्निपेतुरित्यर्थः ॥८६॥

आकृष्टे कवचादहीन्द्ररसनाकल्पे कृपाणे त्वया,
श्रीमन्नायक! रामचन्द्र[2]! भवतः प्रत्यर्थिनां वेश्मसु।
गाहन्ते सहसा लुलायचमरीशार्दूलशाखाचरी-
रक्षोयक्षशृगालकोलशलभृद्भल्लूकभिल्लादयः ॥८७॥

(कीका०)—आकृष्टे इति। हे श्रीमन्! लक्ष्मीयुक्त! हे नायक! विश्वनिर्वाहक! हे रामभद्र! कल्याणरमण! त्वया अहीन्द्ररसनाकल्पे—शेषनागजिह्वाप्राये कृपाणे—खड्गे कवचात्—तदालयाच्चर्मकोशादाकृष्टे—विकोशीकृतमात्रे सति भवतः प्रत्यर्थिनां—तव शत्रूणां वेश्मसु—गृहेषु सहसा—तत्कालं लुलायादयो गाहन्ते, 'गाहू विलोडने'। तद् गृहाणि वन्यमहिषादयो लोडयन्ति शून्यत्वादिति भावः। तत्र लुलायः—महिषः स च वन्य इति, लुलनक्रियाप्रकृतिकेन लुलायशब्दे-

१. हं० 'च' नास्ति। २. कीकामते तु—रामभद्र।

नैव सूच्यते । उत्तरत्र चमर्यादिवन्यसाहचर्यात् चमरी—गोविशेषः, शार्दूलः—सिंहः, शाखाचरी—वानरी स हि तस्याः स्वभावो यच्छाखां शाखां प्रति चरणं, रक्षांसि, यक्षाश्च, वसुविलुम्पकाः—धनदानुचरा देवयोनयः, शृगालाः—अरण्यश्वानः, कोलाः—शूकराः, शलभृत्—श्वव्वेधकः, भल्लूको नाम ऋक्षः, भिल्लाः—किराताः, आदिना—पक्षिसरीसृपादीनां संग्रहः ॥८७॥

(गुण०)—आकृष्टे कवचेति । हे श्रीमन्नायक ! रामचन्द्र[1] ! त्वया कवचात्—कोशात् अहीन्द्ररसनाकल्पे अहीन्द्रः—शेषस्तस्य या रसना—जिह्वा तत्कल्पे—तत्सदृशे कृपाणे आकृष्टे—निःकासिते सति भवतः—तव प्रत्यर्थिनां—वैरिणां वेश्मसु—गेहेषु सहसा—सद्यः लुलायचमरीशार्दूलशाखाचरीरक्षोयक्षभृगालकोलशलभृद्भल्लूकभिल्लादयः लुलायाश्च—महिषाः, चमर्यश्च, शार्दूलाश्च—चित्रकाः, शाखाचर्यश्च—वानर्यः, रक्षांसि च- राक्षसाः, यक्षाश्च, भृगालाश्च—क्रोष्टारः, कोलाश्च—शूकराः, शलभृतश्च—शल्यकाः, भल्लूकाश्च—ऋक्षाः, भिल्लाश्च—शबरास्ते लुलायचमरीशार्दूलशाखाचरीरक्षोयक्षभृगालकोलशलभृद्भल्लूकभिल्लास्तदादयः— तत्प्रभृतयः गाहन्ते—स्वेच्छया विलोडनं कुर्वते । 'गाहौङ् विलोडने' । तद्गृहाणां शून्यत्वेन[2] वनचरतिरश्चां तत्र प्रवेशस्याऽनिवार्यत्वादिति भावः ॥८७॥

गण्डौ पाण्डिमसात्तनूस्तनिमसात्पक्ष्मावली बाष्पसात्,
कीरः पञ्जरसान्मनोऽपि[3] हरसात्कण्ठोऽपि कैवल्यसात् ।
आसन् राम । चमूवरेण्य ! भवतः प्रत्यर्थिवामभ्रुवां,
कोदण्डे परिवेषभाजि विजयश्रीसाधने योधने[4] ॥८८॥

(कीका०)—गण्डाविति । हे चमूवरेण्य ! शूरोत्तम ! राम ! अयोधने अयो नाम आयसं शस्त्रं तदेव धनं धारकं यत्र सोऽयमयोधनः—संग्रामस्तस्मिन् विषये विजयश्रीसाधने—विजयलक्ष्मीप्राप्तिनिदानभूते भवतः कोदण्डे—तव खड्गे परिवेषभाजि—भ्रामणोत्तरकालं स्फुरत्किरणपरिधियुक्ते सति प्रत्यर्थिवाभभ्रुवां—शत्रुसुन्दरीणां गण्डादीन्येवमासन् । कथमित्याह—गण्डौ पाण्डिमसादिति । कृत्स्ने गल्लस्थले पाण्डुतामापन्नौ गल्लौ न स्तः किमयं पाण्डिमैव मूर्त्तिमान् भातीत्यभात् । ननु शरीरलतातनिमसात् तनोः—सूक्ष्मस्य भावस्तनिमा दधाना कार्श्यातिशयभागित्यर्थः । पक्ष्मणामक्षिप्रान्तरोम्णामावली तु बाष्पसात् कृष्णाऽपि बाष्पतया परिणतेत्यर्थः । अथ कीरः—शुकः पञ्जरसात्—पञ्जराधीन एवाऽजनि । सर्वेषां कामविलासानां विस्मरणात् मनस्तासां संकल्पकमेकादशमिन्द्रियं विरहसात्

१. ह्ं० रामभद्र । २. ह्ं० शून्यत्वाद् । ३. कीकामते तु—मनोविरहसात् । ४. कीकामते तु—विजयश्रीसाधनेऽयोधने ।

भर्तृविरहेण केवलं शोकाधीनमासीदित्यर्थः। कण्ठोऽपि कैवल्यसात् केवलशब्दः—शून्यवचनस्तद्भाव आभरणादिराहित्यं भर्तृस्पर्शराहित्यं वा तत्सा तदधीनोऽजनीत्यर्थः ॥८८॥

(गुण०)—गण्डाविति। हे राम ! हे चमूवरेण्य ! चमूषु—सेनासु वरेण्यः—प्रधानं चमूवरेण्यस्तत्सम्बुद्धौ हे चमूवरेण्य ! योधने—रणे भवतः—तव कोदण्डे—धनुषि परिवेषभाजि परिवेषः—मण्डलीकरणं धनुस्तं भजते यत्तत्[1] परिवेषभाक् तस्मिञ्जाते सति, आकर्णान्तिमाकर्षणेन कुण्डलतां प्राप्ते सतीत्यर्थः। प्रत्यर्थिवामभ्रुवां—वैरिस्त्रीणां गण्डौ पाण्डिमसात् आस्तां पाण्डोर्भावः पाण्डिमा कृष्णौ गण्डौ पाण्डिम्ना सम्पद्येते इति पाण्डिमसात्। तथा तासां तनूस्तनिमसादासीत् तनोः कृष्णस्य भावस्तनिमा—कृत्स्ना तनूः—शरीरं तनिम्ना—कृशत्वेन सम्पद्यते इति तनिमसात्। तथा तासां पक्ष्मावली पक्ष्माणि—नेत्ररोमाणि तेषामावली—श्रेणिर्बाष्पसादासीत् कृष्णा पक्ष्मावली बाष्पं—अश्रु सम्पद्यते इति बाष्पसात्। अत्र सर्वत्र 'विभाषा साति कात्स्न्यें च्विविषये सातिप्रत्ययो वा स्यात् साकल्य' इति। तथा तासां कीरः—शुकः पञ्जरसात्—पञ्जराधीन आसीत्। तथा तासां मनोऽपि हरसात्—हराधीनमासीत्, शम्भुः शम्भुरिति ध्यानमकार्षीदिति भावः। अत्र 'तदधीनवचने' तदधीनत्वार्थे सातिः स्यात् सम्पदा कृभ्वस्तिभिर्योगे। तथा तासां कण्ठः कैवल्यसात् आसीत् केवलस्य भावः कैवल्यं निराभरणत्वं कृत्स्नोऽपि कण्ठः कण्ठः कैवल्येन सम्पद्यत इति कैवल्यसात्। एते विशेषाः प्रत्यर्थिस्त्रीणामासन्निति बभूवुः। अत्राऽऽसन्निति बहुवचनं सर्वापेक्षया, अन्यथा एकवचनद्विवचनादिना तु अन्तर्गतगण्डाद्यपेक्षया यथोचितं सर्वत्र क्रियायोजना स्वयमेव विधेयेति। किंविशिष्टे योधने ? विजयश्रीसाधने विजयश्रियाः—विजयलक्ष्म्याः साधनं—कारणं तस्मिन्। *श्रीसाधने योधने इत्यत्र हैमामरकोषयोः समराभिधायां आङ्सहित एव योधनशब्दोऽस्ति तथापि महाकविप्रयोगात् 'बन्धुप्रियां बन्धुजनो जुहाव' इत्यादिवत् वर्णनाशाद्वा योधनशब्दप्रयोगोऽपि न दुष्टः* ॥८८॥

साधर्म्येण कथं गृणन्तु यमुनावेणीं कृपाणीं च ते,
श्रीमद्राम ! चमूवरेण्य भवतो वाग्ब्रह्मसिद्धान्तिनः।
नाकृष्टां हलिना न कालियवशात्क्रूरां न धाराजडां,
न च्छायाजनितां न वक्त्रबहुलां[2] न प्राप्तभङ्गां क्वचित् ॥८९॥

(कीका०)—साधर्म्येणेति। श्रीमद्राम ! लक्ष्मीसेवितरमणीयमूर्त्ते ! हे चमूवरेण्य ! शूरवर्य ! वाग्ब्रह्मसिद्धान्तिनः—कवयोऽतिगहनार्थातिविस्तीर्णसर्ववाणीषु निष्णाताः क्रान्ताः—क्रान्तदर्शिनः कालिदासादयः सर्वज्ञाः ते—तव कृपाणीं—

१. हं० यस्तत्। *—* एतच्चिह्नान्तर्गतपाठो हं० प्रतौ नोपलभ्यते। २. कीकामते तु—वक्रबहुलां।

तरवारिं यमुनावेणीं कालिन्दीकल्लोलग्रथ[?न]निचयसाधर्म्येण कथ गृणन्तु चाञ्चल्यादिसादृश्याश्रयेण किं कृत्वोपमिमतां, किन्तु नैवेत्यर्थः। साधर्म्याभावमेव स्पष्टयति— नाकृष्टां हलिनेति। यमुनावेणी किल हलिना—हलायुधेन बलदेवेनाकृष्टा—विलेखिता कौरवाहिप्रशमार्थमागतं बटुर्वचोभिरधिक्षिप्तवन्त इति स्मर्यते, नेयं पुना रामतरवारिः। केनचिद् हलोपजीविना कर्षुकेणाकृष्टेति महाननयोर्भेदः। तथा यमुनावेणी कालियसर्पस्य विषेण क्रूरा—भयकरी, न च रामतरवारिः, कदाचित् कालकूटादिविषेण लिप्तपूर्वेति महान्विशेषः, कूटयोधिनो हि शस्त्रा विषेण लिम्पन्ति, न पुना रामसदृशधर्मयोद्धारः। तथा यमुनावेणी धाराकृतिजलं यस्यां तादृशी, डलयोरभेदः, तरवारिस्तु न कदापि धारायां जडा—कुण्ठता। तथा यमुना तु त्वष्टसुतायाश्छायोत्पन्ना, तत्रेतिहासमाचक्षते – 'त्वाष्ट्रीरण्यूविवस्वत आदित्यमौ मिथुनौ जनयाञ्चकार, सा सवर्णामन्यां प्रतिनिधयोऽश्वं रूपं कृत्वा प्रादुद्राव, स विवस्वानादित्य आश्वमेव रूपं कृत्वा तामनुसृत्य सम्बभूव, ततोऽश्विनौ जज्ञाते, सर्वायां मनुरि'ति। असम्यक्शिक्षिते शिल्पिना व त्वन्तरपर्यालोचनेन घटितशिल्पं छायाजनितमुच्यते, नेयं तरवारिस्तथा सम्यक्शिक्षितशिल्पिनिर्मितत्वात्। यमुना च वक्रभंगुरं बहुलं यस्यां तादृशी वक्राभावातिशयवती, नेयं तरवारिस्तथा प्रान्ते एव किञ्चिद् वक्रत्वभाजित्वात्। अथ च यमुना सर्वतः प्राप्तभंगा पर्वतादिषु पर्यस्तत्वात्, नेयं रामतरवारिः क्वचिद् भङ्ग—खण्डतां पराजयं वा प्राप्तचरीति सर्वेप्यसाधर्म्याभाव इत्यर्थः ॥८६॥

(गुण०)—साधर्म्येणेति। हे श्रीमद्राम! हे चमूवरेण्य! भवतः—तव कृपाणीं—खड्गं यमुनावेणीं च—यमुनाप्रवाहं च साधर्म्येण—साम्येन ते वाग्ब्रह्मसिद्धान्तिनः—पण्डिताः कथं गृणन्तु—कथं कथयन्तु। यतो यमुनावेणीं हलिना—बलभद्रेण आकृष्टां, भवतः कृपाणीं तु हलिना—कार्षकेण प्रकृतिजनेनाकृष्टां, अतः क्व साम्यं तयोः। तथा यमुनावेणीं तु कालियवशात् कालियः—नागविशेषस्तद्वशात् क्रूरां—उग्रां, भवतः कृपाणीं तु कालियवशान्न क्रूरां किन्तु स्वभावत एव क्रूरां। तथा यमुनावेणीं तु धाराजडां धारायां—जलप्रवाहे जलं यस्याः सा धाराजला तां, डलयोरैक्यात्, पक्षे भवतः कृपाणीं तु न धाराजडां धारायां अस्यग्रे जडा—कुण्ठा धाराजडा तां न, यतस्तीक्ष्णधाराधरत्वात्[१] त्वत्कृपाण्या इति। यदुक्तमनेकार्थाभिधानकोषे[२]—

धारोत्कर्षे खड्गाद्यग्रे सैन्याग्रे वाजिनां गतौ।
जलादिपाते सन्तत्याम्"

१. हं० 'त्वत्' नास्ति। २. हं० यदुक्तमनेकार्थे।

इति। तथा यमुनावेणीं तु छायाजनितां छाया–सूर्यभार्या तया जनिता छायाजनिता तां, भवतः कृपाणीं तु न छायाजनितां छाया–लोहमलस्तया जनिता–उत्पादिता छायाजनिता तां, न, किन्तु सारगिरिसारनिर्मितामित्यर्थः। तथा यमुनावेणीं तु वक्त्रबहुलां वक्त्राणि–पानीयवाहास्तैर्बहुलां, भवतः कृपाणीं तु न वक्त्रबहुलां, एकमुखीमित्यर्थः। तथा यमुनावेणीं तु प्राप्तभङ्गां पर्वतादौ विषमस्थले प्राप्तो भंगो यया सा तां, भवतः कृपाणीं तु न क्वचित् प्राप्तभङ्गां सर्वत्र जयिनीमित्यर्थः। अतो यमुनावेणीकृपाण्योः कथं साम्यं गृणन्त्विति ॥८९।

वर्षासु भीतिमवशांह्रियुगं भुजङ्गं,
भेकं निगृह्य शिरसि स्थितमञ्जनाभम्।
शून्ये तवारिनगरे शबरी सशङ्क-
मादित्सते कनकमुष्टिकृपाणलोभात् ॥९०॥

(कीका०)—वर्षास्विति। हे राम! शून्ये–निर्मनुजे तवारिनगरे शबरी–किराती कनकमुष्टिकृपाणलोभात् कनकं–सुवर्णं तन्मयो मुष्टिरस्य स चासौ कृपाणः–खड्गश्च तल्लिप्सया शंकासाहित्येनेव[1] भुजङ्गं–सर्पमादित्सते–जिघृक्षति 'सनि मीमाघुरभलभशकपतपदामच इस्'। सर्पं खड्गभ्रमजनकत्वे विशिनष्टि— भेकं निगृह्येति. भेकं–मण्डूकं शिरसि निगृह्य[2] स्थितं। तावता कः खड्गभ्रमः सिद्ध इति भेकं विशिनष्टि—अवशांह्रियुगमिति, सर्पविषान्तत्वादवशाः प्रसारिता अंह्रि–भुजा अस्य स तम्। किमिति? सचेतनो भेकः सर्पमुखे पतित इति पुनर्विशिनष्टि—वर्षासु भीतमिति, वृष्टिबाहुल्याद् वित्रस्तो बिलं कामयमानः सर्पमुखं दैवादासादितवानित्यर्थः। कोशसाम्याय पुनः सर्वं विशिनष्टि—अञ्जनाभमिति, अज्यते नेत्रमनेन इत्यञ्जनं मसृणकज्जलं तस्येव आभा–कान्तिरस्य स। तथा श्यामसर्पः खड्गोपमान, शिरसि प्रसारितकरचरणे भेको मुष्टिग्राह्यप्रदेशोपमानं, फणास्थितमणितेजःप्ररोहाः सुवर्णभ्रमं[3] जनका इति भावः ॥९०॥

[पद्यस्यास्य गुणविनयकृता टीका नोपलभ्यते]

अम्भः कर्दमतामुपैति सहसा पङ्कः पुनः पांसुतां,
रेणुर्वारणकर्णतालयुगलैर्दिक्प्रान्तनीहारताम्।
निम्नत्वं गिरयः समं विषमतां शून्यं जनाकीर्णतां,
निर्याते त्वयि रामचन्द्रनृपते[4]! त्यक्तस्वरूपं जगत् ॥९१॥

---

१. ब० शंकामाहिन्येनेव। २. ब० निगूह्य। ३. ब० सुवर्णसुवर्णभ्रमं। ४. कीकामते तु—रामभद्रनृपते।

(कीका०)—अम्भ इति। हे रामभद्र! त्वयि निर्याति–प्रस्थिते सति जगत्–विश्वमपीदं त्यक्तस्वरूपं–विपर्यस्तस्वभावं भवति। कथं कथमित्याकांक्षायामाह—अम्भः–मार्गागतनद्यादिजलं कर्दमतामुपैति, सेनाबाहुल्याज्जलं कर्दमत्वेन विपर्यस्यति। सहसा–तत्क्षणमेव पङ्कः पुनः पश्चात् सैनिकैः क्षुण्णः पांसुतां–रेणुत्वं प्राप्नोति। सोऽपि रेणुः पुनर्वारणकर्णतालयुगलैः–हस्तिनां श्रवणतूर्यैः[1] प्रतायमानो दिक्प्रान्तनीहारतां–दिगन्तावस्थितनीहारवत् सूक्ष्मतामापद्यत इत्यर्थः। गिरयः–मार्गपर्वताः अश्वखुरक्षुण्णाः निम्नत्वं–खाततामुपयन्तीत्यर्थवशाद् विभक्ति परिणामः, सम स्थलं विषमतामुपैति हस्त्यश्वखुरादिभि। तथा शून्यं–वनादि जनाकीर्णतां–मनुष्यादिसंकीर्णत्वमुपैति। एवं त्वत्प्रस्थाने विश्वस्वभावविपर्यास इति भावः ॥६१॥

(गुण०)—अम्भः कर्दमतेति। हे रामचन्द्रनृपते! त्वयि निर्याति–दिग्यात्रायां प्रति प्रवृत्ते सति जगत्त्यक्तस्वरूपं त्यक्तं स्वं–निजं रूपं–स्वरूपं येन तत्त्यक्तस्वरूपं जातम्। रूपं स्वभावे सौन्दर्ये नाणके पशुशब्दयोः' इत्यनेकार्थकृत्। कथ जगता स्वस्वरूपपरित्यागः[2] कृत इत्याह—अम्भः–पानीय सहसा–सपदि कर्दमतामुपैति–प्राप्नोति, यतः किलाम्भसो द्रवद्रव्यतास्वरूपमस्ति परं त्वयि रणार्थं प्रवृत्ते सति तादृग् रजः समुद्भूतं येन सर्वस्याप्यम्भसः कर्दमता जातेति। तथा पुनः पङ्कः पांसुतां–रेणुतामुपैति। तथा रेणुः वारणकर्णतालयुगलैः वारणानां–हस्तिनां यानि कर्णतालयुगलानि तैर्दिक्प्रान्तनीहारतां दिक्प्रान्ते–दिक्पर्यन्ते नीहारतां–हिमतामुपैति। यतः किल दिक्प्रान्ते समुद्रजलानि वर्तन्त एव, अतस्तेषु त्वद्वारणश्रवणतालयुगलप्रेरितो रेणूनां निपातो हिमतां प्राप्नोतीति भावः। तथा गिरयः निम्नत्वं–नीचैस्त्वं उपयन्ति, अयं भावस्त्वयि चलिते अश्वखुरैः क्षुण्णाः पर्वता नीचैस्त्वमासादयन्तीति। तथा समं स्थानं विषमतामुपैति। तथा शून्यं स्थानं[3] जनाकीर्णतामुपैति, अतो जगत्त्यक्तस्वरूपं जज्ञे इति ॥६१॥

देव! त्वद्भुजदण्डचण्डिमचमत्कारिप्रतापानल-
ज्वालाजालभयादिवाभिविशति क्षीराम्बुधिं माधवः।
भर्गः स्वर्गधुनीं दधाति शिरसा त्यक्तत्रिलोकीकृति-
र्वेधाः किन्तु मुहु कमण्डलुजलैरात्मानमासिञ्चति ॥६२॥

(कीका०)—देवेति। हे देव! स्वस्वरूपक्रीडातृप्त! त्वद्भुजदण्डचण्डिमचमत्कारिप्रतापानलज्वालाजालभयादिव तव भुजः–त्वद्भुजः स एव दण्डस्तस्य

१. ब० श्रवणसूर्पैः। २. हं० कथं स्वरूपा परित्यागः। ३. हं० 'स्थानं नास्ति'।

यश्चण्डिमा–चण्डत्वं क्रौर्यमिति यावत् 'चमु अदने' तत्कारणं चमत्कारः–अनुभवोत्थरसाविष्करणं तद्वांश्चमत्कारीत्युच्यते त्वद्भुजदण्डचण्डिम्नश्चमत्कारी योऽसौ प्रतापानलः–तीक्ष्णः प्रतापस्तस्य यज्ज्वालाजालं–शिखासमूहस्तद्भीतेरिव हेतोर्माधवो मायाः–लक्ष्म्याः धवः–पतिः, सदा स्त्रीकामुकत्वेन संग्रामोपरतो विष्णुः क्षीराम्बुधिमभिविशति, शिशिरं समुद्रमध्यं कदापि नोज्झतीति भावः। तथा त्वत्प्रतापतापितो भर्गः–रुद्रोऽपि शिरसा–मूर्ध्ना स्वर्गधुनीं शिशिरतरां दधाति यथा तापोपशमः कदा चमराणां[1] बाह्योऽपि स्यादिति। तथा किन्त्विति वितर्काशये वेधाः–स्रष्टापि तापपरायत्तत्वेनोद्विग्नस्त्यक्तत्रिलोकीकृतिः–सृष्टिव्यापारादुपरतो भूत्वा मुहुः–अत्यर्थं वारं वारं वा कमण्डलुजलैः कृत्वा स्वात्मानमासिञ्चति–सर्वतः समुक्षति। ब्रह्मविष्णुरुद्रास्त्रयोऽपि रामप्रतापोद्विग्नाः शीतोपचारं शीलयन्तस्त्यक्तस्वकार्या आसन्निति समस्तार्थः ॥९२॥

(गुण०)—देव त्वद्भुजेति। हे देव! त्वद्भुजदण्डचण्डिमचमत्कारिप्रतापानलज्वालाजालभयादिव त्वदीयौ यौ भुजदण्डौ त्वद्भुजदण्डौ तयोर्यश्चण्डिमा–चण्डत्वं उग्रत्वमित्यर्थः, तेन चमत्कारी–आश्चर्यकारी[2] यः प्रतापः स एव अनलज्वालाजालं–अग्निशिखासमूहस्तद्भयादिव माधवः–कृष्णः क्षीराम्बुधिं–क्षीरसमुद्रं अभिविशति–प्रविशति। अन्योपि यः अग्निज्वालाजालाभिभूतो भवति सोऽपि जलान्तःप्रविशति तथायमपि प्रविशतीति[3]। तथा त्वत्प्रतापाग्निभयादिव भर्गः–शम्भुः स्वर्गधुनीं–गङ्गां शिरसा दधाति स्ववपुः शीतलकरणायेति। तथा वेधा–ब्रह्मा त्यक्तत्रिलोकीकृतिः त्यक्ता त्रिलोक्याः कृतिः–करणं येन स ईदृग्विधो जातः। ननु यदि वेधसा त्वत्प्रतापाग्निभयात्[4] त्रिलोकीकृतिः परित्यक्ता तर्हि किं कुरुत इत्याह—किन्तु मुहुः–वारं वारं कमण्डलुजलैः आत्मानमासिञ्चतीति, त्वत्प्रतापाग्निभयादिवेति योज्यम् ॥९२॥

कान्ताऽस्मद्दैवगत्या स्फुटमपि गलितान्यन्तराले सुपक्वा-
न्युड्डीयोड्डीय भूयस्तरुशिखरशिखामेव तान्याश्रयन्ते।
इत्थं त्वद्वैरिनारी गिरिषु रघुपते! जम्बुलुम्बीकदम्ब[5]-
भ्रान्त्या भर्त्तुर्बुभुक्षो कथयति पुरतश्चेष्टितं षट्पदानाम् ॥९३॥

(कीका०)—कान्तेति। हे रघुपते! रघूणां नायक! त्वद्वैरिनारी–त्वदीयशत्रुस्त्री गिरिषु–पर्वतादिगह्वरादिषु निलीयावस्थिता सती बुभुक्षोः–क्षुधाक्रान्तस्य भर्तुः पुरतः जम्बुलम्बतकदम्बभ्रान्त्या जम्बुवृक्षस्तत्र लम्बन्तीति

---

१. ब० भ्रमराणा। २. हं० आश्चर्यी। ३. हं० 'तथायमपि प्रविशतीति' नास्ति। ४. हं० भयादिव। ५. कीकामते तु—जम्बुलम्बतकदम्ब०।

जम्बुलम्बन्तस्ते च ते कदम्बाः–फलस्तबकास्तेषां भ्रान्त्या–भ्रमेण षट्पदानां–भ्रमराणां चेष्टितमित्थं कथयति। कथमित्याकांक्षायामाह—हे कान्त ! पश्य अस्मद्दैवगत्या–अस्माकं दुरदुष्टवैचित्र्यबलात्तानि शीतलत्वेन प्रसिद्धानि क्षुधापहर्तृणि जम्बूफलानि श्यामत्वात् सुतरां–अतिशयेन पक्वानि, अथ त एव स्फुटं–स्पष्टमन्तराले गलितानि–वृन्ताद् भ्रष्टान्यपि सन्ति, भूयः पुनरुड्डीयोड्डीय 'डीङ् विहायसां गतौ' व्योमगत्या पुनस्तरुशिखरशिखां–वृक्षोर्ध्वप्रान्तशाखामेवाश्रयन्ते, वृन्तस्थपक्वजम्बूफलानामुड्डीयापयानमस्मद्दुरदुष्टकृतमिति भावः। स्वभावतो भ्रमद्भ्रमरदर्शनेन मुग्धानां मोहातिशयोपन्यासः ॥९३॥

(गुण०)—कान्तास्मद्दैवगत्येति। हे रघुपते ! हे राम ! गिरिषु–पर्वतेषु त्वद्वैरिनारी बुभुक्षोः भोक्तुमिच्छुर्बुभुक्षुस्तस्य बुभुक्षोः–क्षुधितस्य भर्तुः–पतेः पुरतः–अग्रे जम्बुलुम्बीकदम्बभ्रान्त्या जम्ब्वाः फलानि जम्बूनि तेषां या लुम्बी–गुच्छो जम्बुलुम्बी, तथा कदम्बस्य–नीपस्य फलानि कदम्बानि ततो द्वन्द्वः, तेषां भ्रान्त्या–भ्रमेण षट्पदानां–भ्रमराणां चेष्टितं–चरितं कथयति। अथ तत्किं चेष्टितमलीनां यत्तद्भ्रान्त्या कथयतीत्याह—हे कान्त ! हे रमण ! अस्मद्दैवगत्या–अस्मत्कर्मयोगेन स्फुटमपि–प्रकटमपि गलितानि–पतितानि अन्तराले–वृक्षाणां विचाले सुपक्वानि तानि जम्बुलुम्बीकदम्बफलानि उड्डीय उड्डीय भूयः[१] पुनस्तरुशिखरशिखामेवाश्रयन्ते। अत्रायं भावः, यथा ताभिरवगतं, यथा चैतानि फलान्येव वर्तन्ते न[२] षट्पदाः, निसर्गतस्तु ते षट्पदा एव परं भ्रान्त्या ताभिः फलान्येवावगतानि, ततस्तद्धर्मोऽपि उड्डयनलक्षणः फलेषु कल्पितः, कथं ? यथा च हे कान्त ! एकस्मात्तरोरन्तराले अस्मद्भाग्येन पतित्वापि तानि फलानि पुनरुड्डीय उड्डीय अन्यतरुशिखरेषु लगन्तीति, यतः कर्मयोगात् करप्राप्तमपि वस्तु अप्राप्तमिव स्यादिति, इत्थं तत्फलभ्रान्त्या षट्पदानां चेष्टितं वक्तीति भावः। जम्बु इति 'ओरञ्' उवर्णादञ् स्याद्विकारादौ तस्य फले लुक्। जम्ब्वाः फलं जम्बु इति नपुंसकत्वाद् ह्रस्वत्वं[३]। कदम्बमिति फले लुक्, विकारावयवप्रत्ययस्य फले वाच्ये लुक् स्यात्, [४]इत्यण्प्रत्ययस्य लुक्। 'जमु अदने' औणादिकः क्तूप्रत्ययः, बुगागमः। जम्बूर्वृक्षविशेषः। चन्द्रव्याकरणे तु जम्बुरिति ह्रस्वान्तो दर्शितः। तथा च भारविः—परिणतजम्बुफलोपभोगहृष्टा' इति[४] ॥९३॥

संवृत्ते रणतूर्यभैरवरवे कार्ये न ते कञ्चुको,
युद्धप्रोद्घुषिते[५] मर्मो नं तदमुं सेहे कृपाणः क्वचित्।
स्वं कोशस्थलमत्यजद्दलितवान् दृष्टं परेषां च तं,
देव ! स्वौकसि हन्त तद्युवतयस्त्वौज्झन्[६] प्रवृत्त्या तया ॥९४॥

१. हं० पुनः। २. हं० 'न' नास्ति। ३. हं० 'नपुंसकत्वाद् ह्रस्वत्वं' नास्ति। ४–४. हं० प्रतौ नास्ति पाठः। ५. कीकामते तु—हर्षप्रोद्घुषिते। ६. कीकामते तु—स्वोज्झन्।

(कीका०)—प्रकृतनायकप्रतापाणां भयानके शब्दे संवृते सति हर्षोद्घुषिते शौर्यातिशयाद् हर्षभरप्रफुल्ले ते–तव काये कञ्चुकः–वारणो यन्न ममौ–परिधातुं न शक्यते स्मेत्यभिप्रायः। तत्तत्र अमुं कञ्चुकं कृपाणः–खड्गः क्वचिच्छत्रुविषये न सेहे–न सोढवान्। असहनमेव विशदयति—स्वं कोशस्थल*मिति, निजं चर्मकोशं त्यक्तवान्–उद्घाटित इत्यर्थः। अन्योऽपि परोत्कर्षमसहमानो निजं कोशं-निधिं त्यजति, यशःकामनया परस्मै प्रतिपादयतीत्यर्थः। परेषां शत्रूणां च काये दृष्टं तं कञ्चुकं दलितवान् वैरानुबन्धाच्चूर्णीचकार। हन्तेति खेदे, स्वौकसि तया प्रवृत्त्या तदोकः–स्वं निवासस्थानं युवतयः स्वोज्झन्–सुतरां शीघ्रमेवोज्झन्–त्यक्तवन्त्यः। यः किल परोत्कर्षासहिष्णुतया संन्यस्य स्वगृहमपि त्यजति स परान् गृहं त्याजयतीति किमु वक्तव्यमित्यभिप्रायः। रणोद्योगे हि नीति-विशारदाः स्त्र्यादीन् सुगुप्तस्थले स्थापयन्तीति व्यवहारः ॥९४॥

(गुण०)—संवृत्तं रणेति। हे राम ! रणतूर्यभैरवरवे रणे–संग्रामे यस्तूर्यस्य भैरवः–रौद्रो रवः–शब्दो रणतूर्यभैरवरवस्तस्मिन्, संवृत्ते सति–जाते सति ते–तव काये–शरीरे युद्धप्रोद्घुषिते–रणार्थमुच्छ्वसिते यत्कञ्चुकः–वारबाणो न ममौ–न माति स्म। 'माल् माने' इति धातोः प्रयोगः, यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धात् तदिति तत्तस्माद्धेतोरमुं कञ्चुकं स कृपाणः[1] न क्वचित् सेहे–न क्वचिच्चक्षमे। अथ तत्रासहनफलमाह—स कृपाणः इत्यमर्षात् स्वं कोशस्थलं–निजं प्रत्याकारस्थानं अत्यजत्–तत्याज। च–पुनः परेषां–शत्रूणां दृष्टं तं कञ्चुकं दलितवान्–विदारितवान्। तु पुनः हे देव ! हन्त इति खेदे, तद्युवतयः तेषां शत्रूणां युवतयः स्त्रियः स्वौकसि–स्ववासभवने तया प्रवृत्त्या इति। यथा च रामेण प्राक् स्वकञ्चुकः[2] परित्यक्तः, ततस्तदमर्षात् रामकृपाणोऽपि स्वं कोशमत्यजत्, ततोऽप्यस्मद्भर्त्तारः, अनेन रामकृपाणेन कञ्चुकं परित्याजितास्तर्हि वयं पतिव्रतात्वात्कथं कञ्चुकं अङ्गीकुर्मः ? इति तया प्रवृत्त्या गतानुगतरूपया तं कञ्चुकं औज्झन्–तत्यजुः। 'औज्झश् त्यागे' इति धातोः[3] प्रयोगः ॥९४॥

देव ! त्वद्गजवाजिपत्रपटलप्रोद्भूतधूलीभरै[4]-
राकाशं वसुधायते खरकरः सोमायते निःप्रभः।
किञ्चाऽधोभरकुञ्चितः[5] फणवतां नाथः स कूर्मायते,
कूर्मो भोगिपतीयते किमपरं रात्रीयते वासरः ॥९५॥

---

१. हं० कृपाणः। २. ह० कञ्चुकः। ३. हं० धातुः

*–*चिह्नान्तर्गतपाठः ९४ पद्यसंख्यकटीकायां 'लमिति' इत्यतः प्रारभ्य ९६ पद्यटीकायां 'कणभिरणवि' पर्यन्तं पाठो ब प्रतौ पत्राभावान् नोपलभ्यते।

४. कीकामते तु—त्वद्गजवाजिपत्तिपटलप्रोद्भूत०। ५. कीकामते तु—किञ्चाधोभरकुण्ठितः।

(कीका०)—देवेति । हे देव ! विजिगीषो त्वद्गजवाजिपत्तिपटलप्रोद्भूत-धूलीभरैराकाशं वसुधायते, गजाश्च वाजिनश्च पत्तयश्च त्वत्सम्बन्धिनो ये हस्त्यश्वपदातयस्तेषां पटलैः—समूहैः संचारकाले प्रोद्भूता—उत्पन्ना ये धूलीनां भराः—रजसां समूहास्तैः कृत्वा स्वभावशून्यमपि व्योम पृथिव्याकृति भातीत्यर्थः। तथा निःप्रभः—प्रभाशून्यः खरकरः—तीक्ष्णकिरणः सूर्योऽपि सोमायते—चन्द्रप्रायो भासते । किञ्चान्यदपि अधः—पाताले स प्रसिद्धमहत्त्वोऽपि फणभृतां—सर्पाणां नाथः शेषोऽपि भरकुण्ठितः—सेनाबाहुल्यकृतभारवहनाक्षमः सन् कूर्मायते—कुण्डलीभवतीत्येतत्, कुण्डलीभूतो हि सर्पः कूर्माकृतिर्विभाव्यत इति भावः । स च कूर्मो भोगिपतीयते धरां धारयितुमुद्यतः शेषनागायते—लम्बीभवतीत्यर्थः । किमपरं बहुतरं वर्ण्यते विपर्यस्तं सान्द्ररजसा वासरो रात्रीयते—दिवसस्तमिस्रायत इत्यर्थः ॥९५॥

(गुण०)—देव त्वद्गजेति । हे देव ! त्वद्गजवाजिपत्रपटलप्रोद्भूतधूलीभरैः त्वदीया ये गजाश्च वाजिनश्च—अश्वाः पत्राणि च—वाहनानि तेषां यत्पटलं—समूहस्तस्मात्प्रोद्भूताः—जाता ये धूलीभराः—पांसुसमूहाः तैराकाशं—नभः वसुधायते वसुधा इव आचरति वसुधायते, यतस्त्वद्गजवाज्यादिभ्यो रजस्तावदुत्थितं येन आकाशमपि वसुधात्वं प्राप । तथा खरकरः—सूर्यः निःप्रभः—निस्तेजाः सोमायते सोम इव आचरति सोमायते । तथा किञ्च स फणवतां—सर्पाणां नाथः—स्वामी शेषनागः अधोभरकुञ्चितः अधोभरेण—भूभारेण[1] कुञ्चितः—संकोचं प्राप्तः सन् कूर्मायते कूर्म इवाचरति कूर्मायते, यथा कूर्मस्य संकोचितशरीरत्वं[2] तथा शेषोऽपि त्वद्वाहिनीभारेण संकुचितः । तथा कूर्मः भोगिपतीयते भोगिपतिः—शेषः स इवाचरति भोगिपतीयते, त्वद्वाहिनीभारेण संकुचितशरीरोऽपि कूर्मः प्रलम्बकायः शेषवज्जात इत्यर्थः । अपरं—अन्यत् किं वासरः—दिनं रात्रीयते रात्रिरिवाचरति रात्रीयते, यतस्तादृक् त्वद्वाहिन्या धूलीपटलं समुच्छालितं येन दिनमप्यन्धकारयोगात् रात्रिरभवदिति भावः । अत्र वसुधायते इत्यादिषु सर्वत्र 'कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्च' उपमानात्कर्त्तुः सुपः आचाराऽर्थे क्यङ् स्यात् सान्ते सलोपश्च 'अकृत्सार्वधातुके' इति दीर्घः ॥९५॥

आत्ते सीमन्तचिह्ने मरकतनिहते हेमताटङ्कपत्रे,
लुप्तायां मेखलायां झटिति मणितुलाकोटियुग्मे गृहीते ।
शोणं बिम्बोष्ठकान्त्या त्वदरिमृगदृशामित्वरीणामरण्ये,
राजन् गुञ्जाफलानां स्रज इति शबरा नैव हारं हरन्ति ॥९६॥

---

१. हं० 'भूभारेण' नास्ति ।

(कीका०)—आत्ते इति । हे राजन् ! व्योमान्तप्रपञ्चविलयेऽपि राजमान हे राम ! तव भयान्निलीय अरण्ये गहने वने इत्वरीणां—पलायमानानां त्वदरि-मृगदृशां—युष्मच्छत्रुस्त्रीणां सीमन्तचिह्नादिसर्वाभरणानि अपहरन्तोऽपि शबराः—चौरा इति कारणात् हारं—मुक्तादाम नैव हरन्ति—नैव गृह्णन्तीत्येव । इतीति किम् ? प्राय एते गुञ्जाफलानां रक्तिकानां स्रज इति मन्वानाः कथं मुक्तासु तादृशरक्तिमेत्याकांक्षायां विशिनष्टि—शोणं बिम्बोष्ठकान्त्येति, पक्वबिम्बी-फलारुणिताधरभासां प्रतिफलितत्वादारक्तेति भावः । कानि कानि आभरणा-नीति प्रपञ्चयति—आत्ते सीमन्तचिह्ने इति, सीमन्तचिह्नं स्वर्णमणिमयो लम्ब-वक्रः सीमन्त एव गूर्जरी प्रसिद्धः, मरकतः—इन्द्रनीलमणिस्तन्निहतं—तत्खचितं हेम्नस्ताटङ्कपत्रं-कर्णाभरण विशेषो द्राविडी प्रसिद्धः, तस्मिन्नपात्ते—गृहीते सतीत्य-न्वयः, मेखला—कटिबन्धः सर्वराजप्रसिद्धः झटितीति शैघ्र्यार्थमव्ययं, शैघ्र्यं च रामो रक्षकोऽस्तीति तेषामपि भयावेशं गमयति । तुलाकोटियुग्मं—मञ्जीरद्वयं नूपुरयुगलं तच्च नानाविधमणिभिः खचितत्वान्मणिमयं भवति । एतान्या-भरणानि लुठन्तोऽपि रक्ताधरभासारुणितं मुक्ताहारं गुञ्जाभ्रांत्या[1] नापजह्नु-रिति । सम्भ्रमातिशयालङ्कारः ॥९६॥

[पद्यस्यास्य टीका गुणविनयकृता नोपलभ्यते]

क्रामन्त्यः क्षतकोमलाङ्गुलिगलद्रक्तैः सदर्भाः स्थलीः,
पादैः कल्पितयावकैरिव पतद्बाष्पाम्बुधौताननाः ।
भीता भर्तृकरावलम्बितकरा त्वच्छत्रुनार्योऽधुना,
दावाग्निं परितो भ्रमन्ति पुनरप्युद्यद्विवाहा इव ॥९७॥

(कीका०)—क्रामन्त्य इति । हे रघुवीर ! अधुना—सम्प्रति त्वदीयरणो-द्योगसमये त्वच्छत्रुनार्यो दावाग्निं परितो भ्रमन्ति, सर्वतो भ्रमणोक्त्या दिङ्-मोहो ध्वन्यते । उत्प्रेक्षते, पुनरपि उद्यद्विवाहा इव भूयोऽपि किन्तु विवाह्यन्ते । कथमिवेति प्रपञ्चयति—क्रामन्त्य इति, पादैः सदर्भाः—सशूकाः स्थलीः क्रामन्त्यः। कीदृशैः पादैः ? क्षतकोमलाङ्गुलिगलद्रक्तैः क्षता—ईषच्छिन्ना याः कोमलाङ्-गुलयस्ताभ्यो गलद्—विस्रवद् रक्तं—रुधिरं येषु ते तादृशैः । उत्प्रेक्षते, कल्पित-यावकैरिव—रचितालक्तकैः । किमु ताश्च पतद्बाष्पाम्बुधौताननाः दुःखातिशया-त्स्रवदश्रुप्रक्षालिताऽऽस्याः, अपि च यतो भीता अत एव भर्तृकरावलम्बितकराः

[1] अ. गुञ्जाभ्रांत्या ।

साध्वसपरिहाराय पतिभिर्हस्ते धृताः । याश्च विवाह्यन्ते ता अपि सालक्तकैः पादैरास्तीर्णं बर्हिषं चतुष्कभूमिं क्रामन्त्यः आचारधूम्रग्रहणाद् बाष्पाकुलितमुखाः[1] सात्विकभावभीता भर्तृकरावलम्बितकराः साक्ष्ये स्थापितमग्निं प्रदक्षिणीकुर्वन्तीत्युक्तिलेशः ॥९७॥

(गुण०)—क्रामन्त्य इति । हे राम ! त्वच्छत्रुनार्यः–त्वद्वैरिस्त्रियः पुनरप्युद्यद्विवाहा इव–प्रत्यग्रजायमानपाणिपीडना इव अधुना परितः–समन्तात् दावाग्निं परिभ्रमन्ति[2] । यथा[3] स्त्रियो विवाहं कुर्वन्त्यः अग्निं प्रदक्षिणीकृत्य भ्रमन्ति तथेमा अपि । पुर्नविवाहसाधर्म्यं विशेषणैः प्राह—किं कुर्वन्त्य[4]स्त्वच्छत्रुनार्यः ? पादैः–चरणैः कृत्वा सदर्भाः स्थलीः क्रामन्त्यः–लंघमानाः । किंविशिष्टैः पादैः ? क्षतकोमलांगुलिगलद्रक्तैः क्षतात्–दर्भाग्रसंयोगोत्पन्नव्रणात् कोमलांगुलिषु गलत्–क्षरत् रक्तं–रुधिरं येषु ते तथा तैः । उत्प्रेक्ष्यते, पादैः, किंविशिष्टैरिव ? कल्पितयावकैरिव कल्पितः–रचितो यावकः–अलक्तको येषु ते तैः । अन्या अपि कन्याः विवाहं विदधत्यः पादेषु कल्पितयावका भवन्ति तथा इमा अपि । किंविशिष्टाः त्वच्छत्रुनार्यः ? पतद्बाष्पाम्बुधौताननाः पतन्ति–निर्गच्छन्ति विरहयोगात् यानि बाष्पाम्बूनि–अश्रुजलानि तैर्धौतं-क्षालितं आननं–मुखं याभिस्ताः, अन्या अपि विवाहं कुर्वन्त्यः आननं पानीयेन क्षालयन्ति तथा इमा अपि । पुनः किंविशिष्टाः ? भीताः–त्रस्ताः[5] सत्यः भर्तृकरावलम्बितकराः भर्तृकराः–स्वपतिपाणयः अवलम्बिताः–आश्रिताः करैः कृत्वा याभिस्ताः, अन्या अपि विवाहं विदधानाः स्वपाणिभिः कृत्वा भर्तृपाणीन् अवलम्बन्ते, तथा त्रस्ताः इमा अपि स्वभर्तृपाणिषु लग्ना इत्यर्थः ॥९७॥

स्नाताः प्रावृषि वारिवाहसलिलैः संरूढदूर्वाङ्कुर-
व्याजेनात्तकुशाः प्रणालसलिलैर्दत्वा निवापाञ्जलीन् ।
प्रासादास्तव विद्विषां परिपतत्कुड्यस्थपिण्डच्छलात्,
कुर्वन्ति प्रतिवासरं निजपतिप्रेताय पिण्डक्रियाम् ॥९८॥

(कीका०)—स्नाता इति । हे रघुपते ! तव विद्विषां–शत्रूणां शून्याः प्रासादाः–उच्चहर्म्याणि परितत्कुड्यस्थपिण्डच्छलात् सर्वतः प्रभ्रंसिभित्तिस्थितलोष्टाकृतिपिण्डव्याजेन प्रतिवासरं–नित्यं निजपतिप्रेताय–स्वामिलक्षणाय परलोकनवप्रवासिने पिण्डक्रियां-ऊर्ध्वदैहिकं कुर्वन्ति, कर्त्रन्तरानवशेषादिति भावः। पिण्डनिर्वपणं किल तीर्थस्नातैः क्रियत इत्यत आह—स्नाता इति, प्रावृषि–वर्षासु

१. ब. वाष्पाकलितमुखाः । २. हं० भ्रमति । ३. हं० यथा च । ४. प० किं कुर्वत्या । ५. हं० त्रासन्त्यः ।

वारिवाहसलिलैः[1] कृतस्नानाः—आत्मानुरूपं स्नाताः कुशादानं सम्पादयन्ति[2]। संरूढदूर्वांकुरव्याजेन—निबिडोत्पन्नदूर्वाग्रमिषादात्तकुशाः—गृहीतदर्भाः, न हि दर्भान्न धृत्वा पिण्डो निरूप्यते। उदकदानसम्पत्तिमाह—प्रणालसलिलैरिति प्रणालः—[3]मेघवहनसरणिस्तत्र वहद्भिर्जलैर्निवापाञ्जलीञ्च दत्वा, 'पितृदानं निवापः स्यात्' इत्यमरः। प्रेतानां हि दाहाञ्जलिपूर्वाः क्रियाः प्रवर्तन्त इति क्त्वाप्रत्ययेन पूर्वकालवाचिना प्रेतकल्पाद्याचारशास्त्रमनुगृहीतम् ॥९८॥

(गुण०)—स्नाताः इति। हे राम ! तव विद्विषां—वैरिणां प्रासादाः—गृहाणि प्रतिवासरं—प्रतिदिनं निजपतिप्रेताय निजः—स्वकीयो यः पतिः—स्वामी स एव प्रेतः—प्रेतीभूतः तस्मै तत्पते रामेण हतत्वात्, अतः [4]परासुभूयं प्राप्तायेत्यर्थः, पिण्डक्रियां—पिण्डप्रदानं कुर्वन्ति। कस्मात्? परिपतत्कुडयस्थपिण्डच्छलात् परिपतन्तः कुडयस्था—भित्तिस्था ये पिण्डाः—सौधादिकास्तेषां छलात्—मिषात् परिपतत्कुडयस्थपिण्डच्छलात्। अन्ये हि द्विजाः स्वपितृभ्यः प्रेतीभूतेभ्यः प्रतिवत्सरं श्राद्धेषु पिण्डक्रियां कुर्वन्ति, इमे प्रासादास्तु प्रतिदिनं पिण्डप्रदानं कुर्वन्ति इति विशेषः। किं कृत्वा? प्रणालसलिलैर्निवापाञ्जलीन् दत्वा निवापः—पितृतर्पणं, द्विजा अपि निवापाञ्जलीन् दत्वा पिण्डं प्रयच्छन्ति पितृभ्यः तथा अमी अपि। किंविशिष्टाः? प्रावृषि—वर्षाकाले, वारिवाहसलिलैः—मेघपानीयैः स्नाताः। पुनः किंविशिष्टाः? संरूढदूर्वाङ्कुरव्याजेनात्तकुशाः संरूढाः—प्रत्यग्रोत्पन्ना ये दूर्वाङ्कुरास्तेषां व्याजेन—छलेन आत्तकुशाः—करे गृहीतदर्भाः, अन्येऽपि द्विजाः श्राद्धे प्राक् स्नानं कृत्वा पश्चात् पाणौ गृहीतदर्भाः पिण्डक्रियां कुर्वन्ति तथाऽमी इति भावः ॥९८॥

एतस्मिन्विजने वनेऽतनुतरुच्छन्नावकाशे[5] सुखं,
तिष्ठामीति तव द्विषामधिपतिर्यावद्विधत्ते धृतिम्।
तावत्तत्र निपातितं भुवि भवन्नामाङ्कसेल्लाहतं,
दृष्ट्वा केसरिणः करङ्कमसमत्रासो मुहुर्मूर्च्छति ॥९९॥

(कीका०)—एतस्मिन्निति। हे रघुवीर ! तव द्विषामधिपतिः—विशिष्टश्शत्रुः एतस्मिन् विजने वने—निर्मनुष्ये पल्लीगहने तरूणां तनुः—अल्पोऽपि छन्नः अवकाशो यस्मिन् तादृशे सुखं रामबाणान्निर्भयस्तिष्ठामीति यावद्धैर्यमवलम्बते तावदेव भवन्नामाङ्कसेल्लाहतं भवतो नाम दाशरथिरिति अङ्कः—चिह्नं यस्यां सा चासौ सेल्ला—अल्पकुन्तो नाराचविशेषस्तत् आहतं, अत एव भुवि निपातितं—शायितं

---

१. ब० मेघवान्तसलिलैः। २. ब० सम्पादयति। ३. ब० मेघसलिलवहनसरणिः। ४. हं० पराशुभूयत्वं प्राप्तयेत्यर्थः। ५. कीकामते तु—वने तनुतरुच्छन्नावकाशे।

केसरिणः–सिंहस्य करङ्कं–शुष्कमृतकं दृष्ट्वा असमत्रासः–बहुतरभयाविष्टः सन् मुहुरत्यर्थं मूर्छति, पूर्वतरमृगयायां व्यापादितचरसिंहकबन्धे रामकुन्तं दृष्ट्वा ततोऽपि पलायितुमारेभे इत्यर्थः ।।९९।।

(गुण०)—एतस्मिन्निति । हे राम ! तव द्विषामधिपतिः–वैरिराजः एतस्मिन् *विजने–जनरहिते अतनुतरुच्छन्नावकाशे अतनवः–अक्षुद्रा ये तरवः–वृक्षास्तैः छन्नः–आच्छादितः अवकाशः–दिग्विदिशोरन्तरं यस्मिन् तत्तस्मिन्* वने सुखं यथा स्यात्तथा यावत्तिष्ठामि इति स्थास्यामि, यथा चैतावन्तं कालं रामवैरिव्याहतस्तापाभिभूति[1] प्राप । अथैतस्मिन्वने खिन्नाः सन् तरुतले[2] सुखं कालं गमयिष्यामीति धृति–सन्तोषं विधत्ते तावत् दैवात् तत्र वने भुवि–पृथिव्यां निपातितं भवन्नामाङ्कसेल्लाहतं–रामनामाङ्कितशस्त्रविशेषव्याहतं केसरिणः–सिंहस्य करङ्कं–अस्थिपञ्जरं दृष्ट्वा असमत्रासः[3] असमः–अतुलस्त्रासः[4]–भयं यस्य स ईदृग्विधः सन् मुहुः–वारंवारं मूर्छति–मूर्छां प्राप्नोतीति । अत्र 'यावत्पुरा निपातयोर्लट्' आभ्यां निपाताभ्यां योगे भविष्यत्काले धातोर्लृट् स्यादिति यावद्योगे स्थास्यामीत्यर्थे तिष्ठामीति लृट्रूपम ।।९९।।

एत्य द्वारि ततो निवृत्य सहसा भूयः समालोकय-
अर्द्धोल्लंघितदेहलीतरलितः कोणे तु दत्वा दृशम् ।
गत्वा किञ्चिदथाग्रतो बहिरथ स्थित्वा चलत्कन्धरो,
विस्रब्धस्तव वैरिवासभवने शेते शृगालः सुखम् ।।१००।।

(कीका०)—एत्येति । हे रघुवंश ! तव वैरिवासभवने शून्यत्वाद् विस्रब्धः–विस्रस्तः[5] शृगालः–अरण्यश्वा सुखं अविक्षुब्धः सन् शेते–स्वपिति । तत्स्वभावमाह–एत्येति, द्वारि–अन्तर्गृहद्वारे एत्य ततः सहसा–शीघ्रं निवारयिष्यतीति भयान्निवर्त्य भूयः–पुनः समालोकयन्–पश्यन् निवारयितास्ति न वा इति निश्चिन्वन् अर्धोल्लंघितदेहलीतरलितः अर्धमुल्लघितासौ देहली–द्वाराधःकाष्ठं च तत्र तरलितः–चञ्चलचित्तवृत्तिः सन् कोणेषु किञ्चित्तमोव्याप्तगृहान्तर्देशेषु[6] दृशं-दृष्टिं दत्वा, अथ तदनु किञ्चिदग्रतो गत्वा, अथ पश्चाद् बहिः स्थित्वा चलन्ती कन्धरा–ग्रीवा यस्य तादृशः सन् सुखं शेते इति गतोऽन्वयः ।।१००।।

---

*–*हं० प्रतौ नास्ति पंक्तिरियम् ।

१. हं० अभिभूतम् । २ हं० तरुस्तले । ३. हं० असमस्त्रासः । ४. हं० 'असमः अतुलस्त्रासः' नास्ति । ५ ब० विश्वस्तः । ६. अ० गृहान्तर्देशेषु ।

(गुण०)—एत्य द्वारीति। हे राम! तव वैरिवासभवने शृगालः-क्रोष्टा विस्रब्धः-विश्वस्तः सन् सुखं यथा स्यात्तथा शेते-स्वपिति। किं कृत्वा किं कुर्वन्? द्वारि-वासगृहस्य द्वारे एत्य-आगत्य ततः पश्चात् सहसा-सपदि निवृत्य-पश्चाद्वलित्वा भूयः-पुनः सिंहावलोकन-न्यायेन द्वारं समालोकयन् ततो द्वारमवलोक्य अन्तःप्रविष्टः सन्, अर्द्धोल्लंघितदेहलीतरलितः अर्द्धा उल्लंघिता-अतिक्रान्ता या देहली तस्यां तरलितः-कम्पितो मा कश्चिदितो निर्गत्य मां हन्यादिति त्रस्तमनस्कः। ततोऽपि किं कृत्वा? तु पुनः[1] कोणे गृहस्य अस्ने[2] दृशं दृष्टिं दत्वा। पुनः किं कृत्वा? अथेत्यानन्तर्ये अग्रतः गृहस्य मध्ये किञ्चिद् गत्वा, अथ ततोऽपि भीत्या बहिः स्थित्वा गृहाद्बहिर्गमनेन किञ्चित्कालं कमपि प्रतीक्षमाण[3] इवावस्थाय चलत्कन्धरः चलन्ती कन्धरा-ग्रीवा अस्येति चलत्कन्धरः तत्र विद्यमानं मानुषं कमपि अनवलोक्य हर्षोत्कर्षेण चालितग्रीवः[4]। इत्थं गतागतप्रयोगेण विस्रब्धः सन् सुखं तवारिसदने शृगालः शेते इति ॥१००॥

यातीतः पान्थ पन्था व्रजति ननु कथं स्थावरं वर्त्म मुग्धे,
मार्गं पृच्छामि पृच्छ स्थितमिदमिह ते विस्मितं वीक्ष्य नेत्रे।
अध्वानं ब्रूह्यपेतध्वनि भवति वचश्चित्रमित्थं वचोभि-
र्हस्यन्ते दावमुग्धाः पथि पथिकविटैस्त्वद्द्विषां देव नार्यः ॥१०१॥

(कीका०)—यातीत इति। हे देव! आत्मक्रीड! त्वद्द्विषां नार्यः पथि-मार्गे दावानलवशाद् व्यामूढाः सत्यः पथिकविटैरध्वनिर्मखिगैः[5] इत्थं-वक्ष्यमाणप्रकारकैर्वचनैश्चित्रं-आश्चर्यं यथा भवति तथोपहस्यन्ते। तं प्रकारमेव स्पष्टयति—यातीत इति, हे पान्थ! पथिक! इतोऽस्मिन्प्रदेशे पन्था याति, अस्मज्जिगमिषितनगरादिमार्गोऽयं भवतीति प्रश्नाभिप्रायः। वक्रोक्त्या प्रत्युत्तरयति—नन्विति, ननु-वितर्के, हे मुग्धे! कामैकसुखज्ञे! स्थावरं-स्थास्नु वर्त्म कथं व्रजति, व्रजनस्य चरधर्मत्वात्। सैवं विप्रलब्धापि[6] स्वयमृजुत्वाकूतानुरूपं[7] वाक्यार्थं स्पष्टयति—मार्गं पृच्छामीति, च पुनरेव प्रत्युत्तरयति—स्थितमिदमिति, इदं वर्त्म हे मुग्धे! इह ते-तव नेत्रे स्थितं, न हि नेत्रगोचरं[8]वस्तुपृच्छामर्हतीति भावः। सा किञ्चिदवबुद्धापि स्त्रीस्वभावात् पुनरपि स्वाभिप्रायं विवृणोति—विस्मितं वीक्ष्येति, साश्चर्यमिव वीक्ष्येत्यनेन भावितत्वं तस्या ध्वन्यते। तदुक्तमलङ्कारविद्भिस्तथाहि—

---

१. हं० 'तु पुनः' नास्ति। २. हं० अश्वे। ३. हं० प्रतीक्ष्यमाणः। ४. हं० चलितग्रीवः। ५. ब० अध्वनीनखिगैः। ६. अ० विप्रलब्धाधि। ७. ब० स्वयमृजुत्वात्स्वाकूतानुरूपं। ८. ब० वस्तुप्रच्छां।

'चित्तस्याविकृतिः सत्त्वं विकृतेः कारणे सति ।
ततोऽल्पा विकृतिर्भावो बीजस्यादिविकारवत् ॥'

इति । ततो भाविता सा विस्मितमिव दृष्ट्वा पुनरपि वक्तीति शेषः, वचनमाह—अध्वानं ब्रूहीति, अध्वशब्दो मार्गवचनोऽभिप्रेत., सोल्लुण्ठं पुनः पुनः खिगोऽर्थान्तरतां व्याचष्टे—अपेतध्वनीति, अपेतो ध्वनिर्यस्माद् वचसस्तदपेतध्वनिः. ध्वनिरहितं वचनं नाम विद्यते येन तादृशमपगतध्वानं ब्रूहीति मां नियुनक्षीति । अनेन स्थानभ्रष्टास्त्वद्वैरिवनिताश्चौरैरप्यभुक्ता इति प्रतापातिशये पर्यवसानमिति भावः ॥१०१॥

(गुण०)—यातीतः पान्थेति । हे देव ! त्वद्द्विषां–त्वद्वैरिणां नार्यः–स्त्रियः पथि–मार्गे पथिकविटैः–पान्थपल्लवकैः इत्थं–अमुना प्रकारेण वचोभिः–छलवाग्भिर्हस्यन्ते । किंविशिष्टा नार्यः ? दावमुग्धाः दावे–वने मुग्धाः दावमुग्धाः मार्गानवगन्त्र्यः । अथ ताः कथं तैर्हस्यन्त इति तदाह—हे पान्थ ! पथिक ! इतः स्थलात्–इतः स्थानात् अयं पन्थाः–मार्गो याति, अमुकं ग्राममित्यध्याहारः । इति ताभिः पृष्टे सति पथिकः प्राह—हे मुग्धे ! ननु इति वितर्के, स्थावरं वर्त्म–मार्गः कथं व्रजति ? यतस्त्वयोक्तं इतः पन्थाः याति, तत्र स्थावरत्वात् पथो गमनं कथं घटते ? पुनराह—मुग्धानामान्तरेण रे पान्थ ! नाऽहं त्वां प्रतिपन्थानं पृच्छामि किन्तु मार्गं पृच्छामि, इत्युक्ते [१]पुनराह पथिक—हे मृगे ![१] पृच्छ, इह वने ते–तव नेत्रे वीक्ष्य–दृष्ट्वा विस्मितं इदं मार्गं मृगाणां समूहो मार्गं वर्तते । ततः किं पृच्छसीत्येवं वाक्छलेन व्याहता पुनराह मुग्धा—हे पान्थ ! नाऽहं मार्गं पृच्छामि किन्तु अध्वानं पृच्छामि, तर्हि ब्रूहि–वद, चित्रं–आश्चर्यमेतद् यत् अपेतध्वनि वचो भवति, यतोऽध्वानः शब्दस्तद्विरहितं अध्वानं वचः कथं स्यादिति । इत्थं वचोभिः पथि पथिकविटैः त्वद्वैरिस्त्रियो हस्यन्त इति ॥१०१॥

श्रीमद्राम ! त्वदीयाः प्रतिनरपतयस्त्वत्प्रतापज्वरेण,
क्रान्ताः तापं भजन्तः सपदि विदधतो वारिधेर्लंघनं ते ।
भूयः कोष्णं पिबन्तो जलमवनिगताः संलुठन्तोऽनुवेलं,
स्वेदार्द्राः पर्यटन्ते प्रतिनगमचिरादोषधीः सेवमानाः ॥१०२॥

(कीका०)—श्रीमद्रामेति । प्रक्षिप्तः परं व्याक्रियते । हे श्रीराम ! शोभावत्तया भक्तमनोरमण ! त्वदीयाः प्रतिनरपतयः–तव शत्रुभूतभूपालस्त्वत्प्रतापज्वरेण क्रान्ताः–व्याप्तसर्वाङ्गाः, अत एव तापं भजन्तः–परितापभाजः सपदि–तत्कालं वारिधीनां लंघनं विदधतो भयात् समुद्रमुत्तीर्णः भूयः–बहुतरं कोष्णं–किञ्चिदुष्णं जलं पिबन्तोऽवनिगताः–पृथ्वीस्थाः संलुठन्तः–भूमौ पर्या-

१–१. हं० पथिकः प्राह—हे मुग्धे ।

वर्त्तमानाः शैत्यकामनया अनुवेलं–वारं वारं स्वेदार्द्राः–प्रस्विन्नाः सन्तः प्रतिनगं–पर्वते पर्वते पर्यटन्ते–सर्वतो भ्रमन्ति, तापाधिक्येनैकत्रावस्थानासम्भवात् अचिरादोषधीः सेवमाना रूक्षाऽन्नेन पुनः क्षुधितत्वाद् वार वारं भोजनपरा इत्यर्थः। अन्योऽपि किल तापकपित्तज्वराक्रान्तः सपदि लंघनं उपोषणं कुर्वन् भूयः कोष्णं जलं पिबन् अवनिगतः सम्यक् भुवं संस्पृश्य लुठन्ननुवेलं ज्वरापगम-समये स्वेदार्द्रः सन् प्रतिनगं न गच्छतीति नगः कुट्टिमः सुधाबाधोच्चतराट्टा-लिकां प्रत्येकां तस्यां पर्यटते, एकत्रावस्थातुमशक्नुवन्नेव, सोऽप्यचिराद् वारं वारं ओषधीः–क्वाथादिसंहताः सेवमानो भवतीत्युक्तिलेशः। सर्वोप्ययं अस्मदादि संसारतापतप्तकांदिशीकजनमनोविनोदोपायार्थोऽर्थवादो वस्तुतो निर्धर्मकप्राय-परमेश्वराभिन्नस्य दाशरथेरजातशत्रुत्वात्। अत एव श्रूयते– मा येत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाटिचशत्रुं ननु पुनरायुयुत्से इति ।।१०२।।

[पद्यस्यास्य टीका गुणविनयकृता नोपलभ्यते]

द्वारं खड्गिभिरावृतं बहिरपि प्रक्लिन्नगल्लैर्गजै-
रन्तः कञ्चुकिभिः स्फुरन्मणिशिखैरध्यासिता भूमयः।
आक्रान्तं महिषीभिरेव शयनं त्वद्विद्विषां मन्दिरे,
राजन्! सैव चिरन्तनप्रणयिभिः शून्येऽपि चाद्या स्थितिः ।।१०३।।

[पद्यस्यास्य टीका कीकाकृता नोपलभ्यते]

(गुण०)—द्वारमिति। हे राजन्! हे राम! शून्येऽपि त्वद्विद्विषां–त्वद्वैरिणां मन्दिरे सैवाऽऽद्या–प्रथमा स्थितिः या अव्यसनावस्थायामासीत् सैव स्थितिर्व्यसनावस्थायामपि वर्तते। कैः कृत्वा? चिरन्तनप्रणयिभिः चिरन्तनः–चिरकालीनः प्रणयः–स्नेहो विद्यते येषां ते चिर-प्रणयिनस्तैः खड्ग्यादिभिः कृत्वेत्युपहासवाक्यं। अथ तानेव वाक्यश्लेषोक्त्या चिरन्तनप्रण-यिनः प्राह—यस्य मन्दिरस्य द्वारं खड्गिभिः–खड्गयुक्तैः सुभटैः पुरा आवृतमासीत्, तदेव द्वारं साम्प्रतमपि चिरप्रणयित्वेन खड्गिभिः–गण्डकैः (गेंडा) आवृतं वर्तते। तथा मन्दिरस्य बहिरपि प्रक्लिन्नगल्लैः प्रक्लिन्ना–मदार्द्रा गल्ला येषां ते तैर्गजैरावृतं, पुरा त्वालानस्तम्भ-निबद्धैर्गजैरावृतमासीत्, साम्प्रतं तु तद्गृहाणां शून्यत्वात् स्कन्धकण्डूयनार्थमुपागतैर्गजैरावृतं वर्तते। तथा मन्दिरस्य अन्तः–मध्ये कञ्चुकिभिः–अन्तःपुररक्षकैरध्यासिता–आश्रिता भूमयः पुरा आसन्, साम्प्रतं तु कञ्चुकिभिः–सर्पैरध्यासिता भूमयः सन्ति। किंविशिष्टैः सर्पैः? स्फुरन्मणिशिखैः स्फुरन्तः–देदीप्यमाना मणयः शिखासु येषां ते तैः। तथा त्वद्द्विषां मन्दिरे पुरा महिषीभिः–राजपत्नीभिरेव[1] इत्यवधारणे शयनं–शय्या आक्रान्तमासीत्, साम्प्रतं तु महिषीभिः–सैरिभीभिराक्रान्तं[2], तच्छयनं [3]शून्यत्वेन अवारि आच्छादितं तत्प्रसरत्वा-दिति ।।१०३।।

---

१. हं० 'एव इत्यवधारणे' नास्ति। २. हं० 'तिर्यग्विशेषस्वरूपाभिराक्रान्तं' इत्यधिकः पाठः। ३. ह० शून्यत्वाद् वारि तत्प्रसरत्वादिति।

राजन् ! राजसुता न पाठयति मां देव्योऽपि तूष्णीं स्थिताः,
कुब्जे भोजय मां कुमार कुशलं नाद्याऽपि किं भुज्यते ।
इत्थं केलिशुकस्तवारिसदने मुक्तोऽध्वगैः पञ्जरा-
च्चित्रस्थानथ वीक्ष्य शून्यवलभावेकैकमाभाषते ॥१०४॥

[अस्मात् पद्याद्रामावतारावधिपद्यपर्य्यन्तानां पद्यानां नोपलभ्यते कीकाकृता टीका]

(गुण०)—राजन्निति । हे राजन् ! हे राम ! तवारिसदने–तव वैरिमन्दिरे अध्वगैः–पान्थैः पञ्जरान्मुक्तः केलिशुकः केलेः–क्रीडायाः शुकः–कीरः केलिशुकः शून्यवलभौ–शून्यगृह-वेदिकायां चित्रस्थान्- चित्रकारचित्रितराजसुतादीन्, अथ वीक्ष्य–दृष्ट्वा एकैकं–प्रत्येकं राज-सुतादिकमित्थमाभाषते- आ समन्तात् ब्रूते । किमाभाषत इत्याह—हे राजन् ! राजसुता–राजपुत्री मां केलिशुकं न पाठयति–चत्वरे चत्वरे राम इति पाठ्यं न भाणयति, तथा देव्योऽपि–राजमहिष्योऽपि तूष्णीं स्थिताः–मौनमाश्रिता न मां पाठयन्तीत्यर्थः ।* तथा हे कुब्जे ! मां भोजय । तथा हे कुमार ! कुशलं वर्तते* । तथा हे कुमार ! अद्यापि किं न भुज्यते भवता । इत्थं केलिशुकश्चित्रस्थानेकैकमाभाषत इत्यर्थः ॥१०४॥

धाराधीर ! धरामहीशगणने कौतूहलीयानसौ,
धाता त्वद्गणने चकार खटिकाखण्डेन रेखां दिवि ।
सेयं स्वर्गतरङ्गिणी समभवत्त्वत्तुल्यभूमीधवा-
भावात्त्वां त्यजति स्म सोयमवनीपीठे तुषाराचलः ॥१०५॥

(गुण०)—धाराधीरेति । हे धाराधीर ! धारायां–असिधारायां धीरः–शूरो धाराधीरस्तत्सम्बुद्धौ[1] हे धाराधीर ! धरामहीशगणने धरायां–पृथिव्यां ये महीशाः–राजानस्तेषां गणनं–संख्याकरणे कौतूहलीयान्–कौतुकी असौ धाता–ब्रह्मा त्वद्गणने–तव रामस्य गणने दिवि–आकाशे खटिकाखण्डेन–खटिनीशकलेन रेखां चकार । यथा च विधेरेतत्[2] कौतुकमजनि तथैतस्यां[3] भुवि कियन्तः परमैश्वर्याः काष्ठां प्राप्ता राजानः सन्तीति तद्गणनायां क्रियमाणायां त्वं रामचन्द्रः खटिकाखण्डेनैको रेखां प्रापितः । ततः सा इयं रेखा स्वर्गतरंगिणी समभवत्–जाता । ततस्त्वत्तुल्यभूमीधवाभावात् तव रामस्य तुल्यः–समानो यो भूमीधवस्तस्याभावात् । चेदन्योऽपि राजा त्वत्समः स्यात्तदा तमपि रेखाकर्षणेन गणयेद्विधिः, परं तदभावात्तां खटिकां त्यजति स्म–तत्याज । अथ कथमवगम्यते सा खटिका तेन विधिना अत्याजीदित्याह—सोऽयं[4] प्रत्यक्षोपलभ्यमानः तुषाराचलः–हिमाद्रिरवनीपीठे—भूमण्डले वर्तते, स च हिमाद्रिर्विधिमुक्ता खटिकैवेति ॥१०५॥

– चिन्हान्तर्गतपाठो नास्ति हं० प्रतौ ।

१. हं० तस्य सम्बुद्धौ । २. हं० विधिरेतत् । ३. हं० यथैतस्याम् । ४. हं० स्वयम् ।

एक एव महान् दोषो भवतां विमले कुले।
लुम्पन्ति पूर्वजां कीर्तिं जाता जाता गुणाधिकाः ॥१०६॥

(गुण०)—एक एव महानिति। हे स्वामिन्! भवतां–युष्माकं विमले–निर्मले कुले–वंशे एक एव महान्–गुरुर्दोषः–कलङ्को यज्जाताः–समुत्पन्नाः जाताः–पुत्राः पूर्वजां–पूर्वे समुत्पन्ना ये राजानस्तेभ्यो जायत इति पूर्वजातानां कीर्ति लुम्पंति–परिमृजन्ति। अयं भावः–यतो भवतां कुले न कोऽपि न्यूनगुणो जातः, यः[1] समुत्पन्नः पूर्वभूपतीनां गुणाधिकानां स्मारयति, किन्तु सर्वेऽप्येतद्वंशसमुत्पन्ना अनुजाताः पूर्वेभ्योऽपि गुणाधिका जाताः, अतः पूर्वजानां राज्ञां न स्मारयन्तीत्यर्थः[2]। ['अधीगर्थदयेशां कर्मणि' एषां कर्मणि शेषत्वेन विवक्षिते षष्ठी स्यात्, अधीगर्था स्मृत्यर्थाः, मातुरध्येति मातुः स्मरतीति कौमुदीप्रक्रियायाम्।] यतो लोकेऽपि इयमेव व्यवस्था प्रवर्तते। यदुत केनचिज्जनेन सामान्यं वस्तु लब्ध्वा अधिकं वस्तु यदा दैवादाप्यते तदा प्राथमिकं सामान्यं वस्तु तेन न स्मृतिगोचरीक्रियते, समधिकगुणवस्तुविशेषलाभात् तथा इमेऽपीति भावः ॥१०६॥

रामः किं कुरुते न किञ्चिदपि च प्राप्तः पयोधेस्तटं,
कस्मात्साम्प्रतमेवमेव तदहो बद्धः किमम्भोनिधिः।
क्रीडाभिः किमसौ न वेत्ति पुरतो लङ्कापतिर्वर्तते,
जानात्येव विभीषणोऽस्य निकटे लङ्कापदे स्थापितः ॥१०७॥

(गुण०)—रामः किमिति। रावणः अङ्गदं प्रत्याह—हे अङ्गद! रामः किं कुरुते? इत्युक्ते अङ्गदः प्राह—न किञ्चिदपि–न किमपि कृत्यं–कार्यं[3] कुरुते इत्यर्थः। च–पुनः पयोधेस्तटं कस्मात् कारणात् साम्प्रतं प्राप्तः? इत्युक्ते एवमेवेति–इत्थमेव प्राप्तः। पुनराह रावणः—अहो इति आश्चर्ये, तत्किं अम्भोनिधिः–समुद्रो बद्धः, केन कारणेन रामेण सेतुबन्धनेन[4] समुद्रो बद्धः? इत्युक्ते अङ्गदः प्राह—क्रीडाभिः–केलीभिर्बद्धः। पुनराह रावणः—असौ रामः किं न वेत्ति–किं न जानाति यत्पुरतः–अग्रे लङ्कापतिः–रावणो वर्तते। इत्युक्ते अङ्गदः प्राह—जानात्येव, यदस्य रावणस्य निकटे–समीपे लङ्कापदे–लङ्काराज्ये स्थापितः–विभीषणो वर्तत इति। अयमर्थस्त्वां असन्तमिव जानाति, त्वत्पदे च व्यवस्थापितं विभीषणमेव लङ्काधिपतिं जानातीति भावः ॥१०७॥

---

१. हं० 'यः' नास्ति। २. हं० स्मारयतीत्यर्थः।
[ ] एतच्चिह्नान्तर्गतपाठः प. प्रतौ नोपलभ्यते।
३. हं० 'कार्यं' नास्ति। ४. हं० सेतुबद्धेन।

योऽद्धायोद्धाऽवधीत्तान् सपदि पलभुजः सम्पराये परा ये,
येनाऽयेनाऽऽश्रितानां स्तुतिरवनमितेशानचापेन चाऽऽपे।
लङ्काऽलङ्कारहर्त्ता ककुभि ककुभि यः कान्तया सीतयाऽऽसी-
दूनो दूनोऽथ हृष्टं स त्रिभुरवतु वः स्वःसभार्यः सभार्यः १०८॥

(गुण०)—योद्धायोद्धावधीतानिति। यः श्रीरामः सपदि–शीघ्रं तान् पलभुजः [1]पलं–मांसं भुञ्जते इति पलभुजः अर्थात्[1] राक्षसान् अवधीत्–जघान। तान् कान्? ये पलभुजः सम्पराये–संग्रामे पराः–दर्पिष्ठाः। किम्भूतः श्रीरामः? अद्धायोद्धा–[2]प्रस्तावविज्ञः सुभटः, अथवा अद्धा–निश्चितं योद्धा। तथा येन भगवता अयेन–भाग्येन आश्रितानां स्तुतिः–प्रशंसा-वचः आपे–प्राप्ता। किम्भूतेन येन? अवनमितेशानचापेन अवनमितः–नम्रीकृतः ईशानस्य–ईश्वरस्य चापः–धनुर्येन स तेन। किंविशिष्टो रामः! लङ्कालङ्कारहर्त्ता लङ्काया अलङ्कार-भूतो यो रावणस्तस्य हर्त्ता विघातकः। तथा यः सीतया कान्तया ऊनः–विरहितः सन् ककुभि ककुभि–दिशि दिशि दून आसीत्। अथ यः सभार्यः–सीतासहितः हृष्टः–तुष्ट आसीत्, स विभुः-रामो वः–युष्मान् अवतु–रक्षतु। किंविशिष्टः? स्वःसभार्यः–स्वर्गसभापूज्यः ॥१०८॥

खण्डक्षोदमृदि स्थले मधुपयःकादम्बिनीतर्पणात्,
कृष्टे रोहति दोहदेन पयसां पिण्डेन चेत् पुण्ड्रकः।
स द्राक्षाद्रवसेचनैर्यदि फलं धत्ते तदा त्वद्गिरा-
मुद्देशाय ततोऽप्युदेति मधुराधारस्तमट्प्रत्ययः ॥१०९॥

(गुण०)—खण्डेति! हे श्रीराम! चेद् यदि पुण्ड्रकः–इक्षुदण्डः खण्डक्षोदमृदि स्थले खण्डस्य–मधुधूलेः यः क्षोदः–चूर्णं स एव मृन्मृत्तिका [3]सा विद्यते यस्मिन् तत्तस्मिन्[3] खण्ड-क्षोदमृदि स्थले [4]भूमिविशेषे कृष्टे[4] हलोल्लेखिते[5] मधुपयःकादम्बिनीतर्पणात् मधु–मृष्टं यत्पयः–दुग्धं तस्य या कादम्बिनी–मेघमाला [6]तस्यास्तर्पणात्–सेचनात्[7], तथा पयसां–दुग्धानां पिण्डेन–घनीभूतदुग्धेनैव[8] दोहदेन–श्रद्धया रोहति–जायते। तथा स पुण्ड्रकः यदि द्राक्षाद्रवसेचनैः फलमपि धत्ते तदा [9]ततोऽप्यनन्तरं एतादृक्कारणविशेषोत्पन्नपुण्ड्रकफलादपि

१–१. हं० पाठो नास्ति। २. हं० साक्षात् प्रस्तावविज्ञः। ३–३. हं० तस्यां। ४. हं० भूमौ कृष्टे सति। ५. हं० 'हलोल्लेखिते' नास्ति। ६. हं० तया। ७. हं० 'सेचनात्' नास्ति। ८. हं० 'घनीभूतदुग्धेनैव' नास्ति। ९–९. हं० त्वद्गिरा त्वद्वाणीनां उद्देशाय साम्याय ततो अनन्तरं एतादृक् कारणविशेषोत्पन्नः पुण्ड्रकः, हि निश्चितं मधुराधार-स्तमट्प्रत्यय उदेति, मधुरशब्दः आधार आश्रयो यस्य तमट्प्रत्ययस्य मधुराधारः मधुरतम इत्यर्थः, उदेति। अत्रायं भावः—यद्येतावत्यः क्रमेणोत्पन्नः पुण्ड्रको मधुरतरः स्याद् तदा त्वद्वाणीसाम्यं प्राप्नुयान्नान्यथेति ॥१४२॥

मधुराधारः–मधुरशब्दः आधारः–आश्रयो यस्य स मधुराधार ईदृशस्तमृट्प्रत्ययः । त्वद्गिरां त्वद्वाणीनां उद्देशाय–कथनाय उदेति[९] । मधुरो मधुरतरो मधुरतम इति तिस्रः कक्षाः । अत्रायं भावः—पुण्ड्रकफलं मधुरतरं भवति, तदपेक्षया त्वद्वचनेषु मधुरतमशब्दः प्रवर्तते, 'अतिशायने तमबिष्टनावि'ति तमप् ।।१०९।।

मुरारातिर्लक्ष्मीं त्रिपुरविजयी चामृतकरं,
करीन्द्रं पौलोमीपतिरपि च लेभे जलनिधेः ।
त्वया किञ्चिल्लब्धं कथय मथितो मन्दरगिरे,
शरण्यः शैलानां यदयमदयं रत्ननिलयः ॥११०॥

(गुण०)—मुरारातिर्लक्ष्मीमिति । श्रीरामः मन्दरगिरिं पृच्छति, यथा हे मन्दरगिरे ! मेरो ! त्वं कथय–वद यदयं जलनिधिः अदयं–निर्दयं यथा स्यात्तथा रत्ननिलयः–रत्नाकरः शैलानां–पर्वतानां शरण्यो मथितः, तव किञ्चित् त्वया समुद्रमथनाद् लब्धं–प्राप्तं, यतो अन्यैर्जलधेः–समुद्रात् किञ्चित्प्राप्यमपि, यथा मुरारातिः–कृष्णः लक्ष्मीं–श्रियं लेभे–प्राप, तथा च–पुनः त्रिपुरविजयी–महेशः अमृतकरं चन्द्रं लेभे, तथाऽपि च पौलोमीपतिः–इन्द्रः करीन्द्रं ऐरावणं लेभे, परं त्वया हे मेरो ! समुद्रो मुधैव मथितः, यत् त्वया न किञ्चित्फलं प्राप्तमित्यर्थः ।।११०।।

यस्तीर्थानामुपास्त्या गलितमलभरं मन्यते स्म स्वमेवं,
नाज्ञासीज्जज्ञिरे यन्मम चरणरजःपातपूतान्यमूनि ।
पादस्पर्शेन कुर्वन् झटिति विघटितग्रावभावामहिल्यां,
कौशल्यासूनुरूनं व्यपनयतु स वः श्रेयसा च श्रिया च ॥१११॥

(गुण०)—यस्तीर्थानामिति । स कौशल्यासूनुः–श्रीरामदेवः वः–युष्माकं श्रेयसा च–कल्याणेन श्रिया च–लक्ष्म्या 'ऊनमिति निर्देशस्य भावप्रधानत्वादूनत्वं तद्विरहितत्वमित्यर्थः, तद्भावोऽपनयतु–स्फेटयतु' । स इति कः ? यस्तीर्थानामुपास्त्या–सेवनया स्वं–आत्मानं गलितमलभरं गलितः–क्षरितो मलभरः–पापभरो यस्य स तम्, एवमिति तीर्थस्नानेन पवित्रमात्मानं मन्यते स्म अज्ञासीत्, परं देव इति नाज्ञासीत् यन्मम चरणरजःपातपूतानि चरणरजःपातेन पदपांशुक्षरणेन पूतानि–पवित्राण्यमूनि तीर्थानीति न विवेद । किं कुर्वन् ? पादस्पर्शेनाऽहिल्यां विघटितग्रावभावां विघटितः–स्फेटितो ग्रावभावः–पाषाणत्वं यस्याः सा तां झटिति–शीघ्रं कुर्वन्, शिलामयीं–गौतमवधूं स्वचरणस्पर्शेन निजदेहां प्रापितवानित्यर्थः ।।१११।।

इति श्रीगुणविनयविरचितायां खण्डप्रशस्तिवृत्तौ रामावतारहरिवर्णने व्याख्या समाप्ता ।

१–१. ऊनामेति ऊनत्वं अत्र भावप्रधानो निर्देशोऽतस्त्वद्विरहित त्वय्यपनयतु ।

उन्मीलद्गुडपाकतन्दुलतया रज्वा भ्रमीरर्जयन्,
दानान्तश्रुतशर्कराचलमथास्तेनामृतान्धस्मरः ।
नव्यामिक्षुरसोदधेर्यदि सुधामुत्थापयंत्या भव-
ज्जिह्वायाः कृतिमाह्वयेत परमां मत्कर्णयोः पारणाम् ॥११२॥[1]

उत्तीर्णस्तूर्णमब्धिः क्षितिदुहितुरभिज्ञानमानीतवान् यः,
रक्षोनाथस्य भग्नं वनमनलभयं लम्भिता येन लङ्का ।
सौमित्रिः शस्त्रभिन्नः पुनरधिगमितं प्राणितं तत्कपेः किं,
दत्वा तस्यानृणः स्यामिति हरिरधुना गूढचिन्तोऽवताद्वः ॥११३॥

सर्वैर्माङ्गल्यनादैरमरपतिपुरी वीतशङ्का नितान्तं,
सातङ्का यस्य लङ्का जननसमयतो वीरवीरस्य जाता ।
दुष्टैश्चक्रे पलायामखिलजनमनःकल्पनाकल्पवृक्षो,
रक्षोविक्षोभहेतू रचयतु स महत्पावनं पापनिघ्नः ॥११४॥[2]



१. पद्यमिदं १९६२ क्रमाङ्किते ग्रन्थ एवास्ति । २. पद्यद्वयी (११३-११४) विनय-सागरसंग्रहीयपुस्तक एव दृश्यते ।

८. कृष्णावतारः

कौन्तेयस्य सहायतां करुणया गत्वा विनीतात्मनो,
येनोल्लंघितसत्पथः कुरुपतिश्चक्रे कृतान्तातिथिः ।
त्रैलोक्यस्थितिसूत्रधारतिलको देवः स वः सम्पदे,
साधूनामसुराधिनाथमथनः स्ताद् देवकीनन्दनः ॥१॥

(कीका०)—एवं सविस्तरं श्रीदाशरथिप्रतापवर्णनं समाप्य क्रमप्राप्तं श्रीमत्कृष्णवर्णनमुपक्षिपंस्तदाविर्भावप्रयोजनं तु प्रधानं भूभारहरणमेवेत्यध्यवसाययन्नाह—

कौन्तेयस्येति । स गोवर्द्धनोद्धरणादिलीलावत्त्वेन प्रसिद्धो योगिहृत् कमलप्रसिद्धो वा देवकीनन्दनः—देवकीं पुत्रापदेशेनानन्दयन् श्रीकृष्णो देवः—आत्मक्रीडः परमेश्वरः साधूनां—सन्मार्गाभिरतानां वः—युष्माकं सम्पदे—समृद्धयतिशयसम्पादनाय स्तात्—अस्तु । असाधुभ्य आच्छिद्य साधूनां सम्पत्तिहेतुकर्तृत्वेन विशिनष्टि—असुराधिनाथमथन इति, असुराधिनाथाः—कंसकालियवनमागधादयस्तान् मथ्नाति—नाशयतीति । तथा असुरा हि सतां सम्पत्प्रतिपक्षीभूता अतस्तन्मथने युक्तं सत्सम्पत्तिहेतुत्वमिति भावः । भूभारहरणं मुखं अवतारप्रयोजनं प्रपञ्चयति—कौन्तेयस्येति, करुणया पार्थस्य साहाय्यं प्रतिपद्य उल्लंघितसत्पथः—त्यक्तसदाचारः कुरुपतिः—दुर्योधनो येन कृतान्तातिथिश्चक्रे—यमसदनं नीतः, भारतयुद्धव्यपदेशेन अष्टादशाक्षौहिणिकं भूभारं संजहारेत्यर्थः । कुन्त्या अपत्यं कौन्तेयः 'स्त्रीभ्यो ढक्' तस्येयादेशः । नामान्तरपरित्यागेन देवकीनन्दनः कौन्तेयस्येति उभयत्र [1]मातृसम्बन्धनामप्रयोगादुपकर्त्तव्यपितृस्वसृसम्बन्धं द्योतयति, अत एव करुणयेति कारुण्यं सत्स्विति प्रतीयते अर्जुने पुनः साम्बन्धिकोपाधेर्वर्णितत्वात् । कुरुपतौ उल्लंघितसत्पथत्वं यथा कृतान्तातिथित्वे हेतुरुपन्यस्तः, तथा फाल्गुनं साहाय्यप्रतिपत्तियोग्यत्वेन विशिनष्टि—विनीतात्मन इति, विनीतः—शिक्षितविनय आत्मान्तःकरणं यस्य स तथा । पुरा किलोद्योगसमये सहैवार्जुनदुर्योधनौ द्वारकां साहाय्ये कृष्णं वरीतुं प्रविष्टौ तद्विज्ञाय श्रीकृष्णो योगनिद्रामाश्रयन्, तदा राजाऽहमित्यहंकारेण दुर्योधनः शिरस्युपविष्टो, अर्जुनो भक्तत्वाच्चरणाधः,

---

१, अ. मातृसम्बन्ध० ।

अथाभ्युत्थाने पूर्वमर्जुनं दृष्ट्वा योगनिद्रां तत्कृपामृतेन संस्नाप्य रिक्तदृशाथ दुर्योधनेन संजगाम ह तदन्वयुद्ध्यमानोऽप्ययमर्जुनेन वृतः, कृतवर्मयादवनेतृका-क्षौहिणी तु दुर्योधनेन वृता, इत्येषौद्योगिकी कथा। विनीतात्मन इत्यनेन सूच्यते, विनयो नाम अनौद्धत्यं तदर्जुनगतमस्यां कथायां पर्यवसितमिति। अयुद्ध्यमानोऽप्ययं सर्वार्थसम्पादक इति विशिनष्टि—त्रैलोक्यस्थितिसूत्रधारतिलक इति, त्रैलोक्या-वस्थानस्य सूत्रधाराः-त्रिलोकीनिर्मातारो ये हिरण्यगर्भादयस्तेषु तिलक इव तिलको मुख्य इत्यर्थः। सृष्टिस्थितिसंहारकर्त्ताऽपि अयमेवेत्युक्तं भवति, तस्माद् युद्धलीलामदर्शयन्नपि श्रीकृष्णः किं न साधयतीति भावः ॥१॥

(गुण०)—अथ श्रीकृष्णस्तुतिव्याख्या प्रारभ्यते—

कौन्तेयस्येति। स देवः-कृष्णः वः-युष्माकं साधूनां-सतां सम्पदे-लक्ष्म्यै स्तात्-भवतु। स इति कः? येन कृष्णेन करुणया-कृपया कौन्तेयस्य-युधिष्ठिरस्य सहायतां गत्वा-प्राप्य सहायीभूयेत्यर्थः, कुरुपतिः-दुर्योधनः कृतान्तातिथिः-यमातिथिश्चक्रे कृतः-मारितः इत्यर्थः। किंविशिष्टस्य कौन्तेयस्य? विनीतात्मनः विनीतः-विनयाढ्यः आत्मा यस्य स तस्य। किंविशिष्टः कुरुपतिः? उल्लंघितसत्पथः उल्लंघितः-अतिक्रान्तः सत्पथः-सन्मार्गो येन स। किंविशिष्टो देवः? त्रैलोक्यस्थितिसूत्रधारतिलकः त्रैलोक्यस्य त्रिभुव-नस्य या स्थितिः-करणव्यवस्थितिस्तस्यां सूत्रधारतिलक इव यः सः त्रैलोक्यस्थितिसूत्रधार-तिलकः जगत्त्रयस्य निर्मापकत्वात्। पुनः किंविशिष्टः? असुराधिनाथमथनः असुराधिनाथं मथ्नातीति असुराधिनाथमथनः। पुनः किंविशिष्टो देवः? देवकीनन्दनः देवक्या नन्दनः-पुत्रो देवकीनन्दनः ॥१॥

भ्राम्यन्मन्दरकन्दरोदरदरीव्यावृत्तिभिर्वारिधेः,
कल्लोलैरलमाकुलं कलयतो लक्ष्म्या मुखाम्भोरुहम्।
औत्सुक्यात्तरलाः स्मराद्विकसिता भीत्या समाकुञ्चिताः,
क्रोधेनाज्वलिता[1] मदान्मुकुलिताः शौरेर्दृशः पान्तु वः ॥२॥

(कीका०)—भ्राम्यन्मन्दरेति। कूर्मावतारे नायकानन्वितमिदं पद्यं प्रक्षिप्त-शंकयोपेक्षितमिह प्राकरणिकनायकसंगतार्थत्वात् व्याख्यायते। शौरेः-श्रीकृष्ण-दृशो नामबाहुल्यात् कटाक्षवीक्षणानि वः-युष्मान् पान्तु। हे भक्ताः! कृपाकटाक्ष-भावुकाः! इत्यर्थात् प्रतीयते। कटाक्षेषु भावविशेषाधानाय शौरिर्विशिनष्टि—लक्ष्म्या मुखाम्भोरुहं कलयत इति, समुद्रोन्मन्थनं समकालं वीचिविक्षोभादाविर्भूत-

---

१. कीकामते तु—क्रोधेन ज्वलिता।

लक्ष्मीवक्त्रकमलं दृष्टवत इत्यर्थः। तावताऽपि तादृशधीरस्य कथं भावोद्गम इति मुखाम्भोरुहं विशिनष्टि—भ्राम्यन्मन्दरेति, 'भ्रमु अनवस्थाने' 'शमामष्टानां दीर्घः श्यन्' इति दीर्घः। मन्थनकाले भ्राम्यन्–अवस्थितो यो मन्दरपर्वतस्तस्य कन्दराः–गहनदेशगह्वराणि तेषामुदरे–मध्ये या दर्य्यः–गुहास्तासु व्यावृत्तयः–जलप्रवेशनिस्सारलक्ष्मणा[1] विशिष्टा आवृत्तयः–परिभ्रमणानि येषां तादृशैर्वारिधेः कल्लोलैरलं–अत्यर्थं आकुलं–व्यग्रमित्यर्थः। जलेन हि विशेषाकुलीभावः सुतरां च स्त्रीजातेः। इत्थं भावकारणं निरूप्य तान्भावान्दर्शयितुं दृशो विशिनष्टि—औत्सुक्यात्तरला इति, सुरासुरसंसदि विद्यमानायां कथमिवानया संगमो भावीत्यौत्सुक्यं तस्माच्चञ्चला इत्यर्थः। अनेन बीजस्यादिविकारवत् प्रथमा चिन्ताख्यावस्था प्रतिपादिता, अथारूढकामत्वं प्रपञ्चयति—स्मरादिति, स्मर्यत इति स्मरः, संकल्पजन्मा कामस्तस्माद् विकासभाजः फुल्ला इत्यर्थः। लज्जाख्यं भावं दर्शयति—भीत्या समाकुञ्चित इति, सुरासुराः कामिनं मां ज्ञास्यन्तीति लज्जाभीतिस्तया सम्यगाकुंचिताः–प्रतिसंहृता इत्यर्थः। कामकाष्ठामाह—क्रोधेन ज्वलिता इति, केनचिन्निमित्तेन प्रतिहतः काम एव क्रोधी भवति तेन क्रोधावस्थेन काष्ठां गतेन कामेन ज्वलिता ज्वाला अग्निशिखाः सञ्जाता आसु तास्तथा। अथ कामस्य कुम्भनावस्थामाह—मदान्मुकुलिता इति क्रोधदशां यावदाविर्भूताः, कामः कुम्भितोद्धृतः सन् मदं जनयतीति, तेन कुम्भिकामेन मुकुलिता मुकुलं–कुड्मलं सञ्जातं यासु ता मुकुलिता–अर्धविकसितारुणकमलाकृतय इत्यर्थः। अनेनालङ्कारविदां सम्मततरो धैर्यलक्षणो नायकगुणो वर्णितः। २।

(गुण०)—भ्राम्यन्मन्दरेति। लक्ष्म्या मुखाम्भोरुहं–मुखपद्मं कलयतः–पश्यतः[२] शौरेः–हरेः दृशः–नेत्राणि वः–युष्मान् पान्तु–रक्षन्तु। किंविशिष्टं मुखाम्भोरुहं ? वारिधेः–समुद्रस्य कल्लोलैः–वीचिभिरलं–अत्यर्थं आकुलं–त्रस्तं। किंविशिष्टैः कल्लोलैः ? भ्राम्यन्मन्दरकन्दरोदरदरीव्यावृत्तिभिः भ्राम्यन् योऽसौ मन्दरः–मेरुस्तस्य याः कन्दरोदरदर्यः तासु संघट्टतो व्यावृत्तिः परावर्तनं[४] येषां ते तैः।* अत्र कन्दरोदरदर्योरयं विशेषः, कन्दरः–गुहा तस्योदरं–मध्यं, यदनेकार्थः—'कन्दरोऽङ्कुशे विवरे च गुहायां' चेति, दरी तु गिरिगर्त्त इति*। किंविशिष्टाः दृशः ? औत्सुक्याद् उत्सुकतायोगात्तरलाः–चपलाः, तथा स्मरात्–कामाद् विकसिताः–विकस्वराः, तथा भीत्या अदत्तपरपुत्रिका प्रार्थकत्वेन समाकुञ्चिताः–ईषन्मुकुलीकृताः, तथा क्रोधेनाज्वालिता आ–ईषल्लोहिताः, तथा मदान्मुकुलिताः दृशः पान्त्विति ॥२॥

[४]इति श्रीगुणविनयविरचितायां खण्डप्रशस्तिवृत्तौ कृष्णस्तुतिव्याख्या[४]।

। ६ ।

---

१. हं० 'पश्यतः' नास्ति। २. हं० 'परावर्तनं नास्ति।*–*चिह्नागतपाठो हं० प्रतौ नोपलभ्यते। ४–४ हं० इति श्रीकृष्णस्तुतिव्याख्या।

हत्वा तान् रङ्गवाटे बहुलबलयुतान् केशचाणूरमुख्यान्,
दत्ताशीर्देववृन्दैर्हसितसितकरैर्द्योतयन् दिग्विभागम् ।
तत्रोत्प्लुत्योच्चमञ्चान् धृतकचविधुरं यस्तु कंसं जघान,
शौरिः सीरिद्वितीयः[1] स भवतु भवतां भूतये बालकायः[2] ॥३॥

(कीका०)—अथ शौर्यातिशयलक्षणं नायकगुणं वर्णयितुमाह—

हत्वेति । स बालकायः शरीरमात्रेण बालः शौरिः स्वयं तु पुराणपुरुषो भवतां भक्तानां भूतये–विभूतिदानायाऽस्तु । स कः ? योऽयं शौरिः रङ्गवाटे–मल्लयुद्धार्थक्लृप्तभूमौ नातुलोच्छ्रायप्रसिद्धान्बहुलबलयुतान्नागायुतप्राणान् केशिचाणूरादीन् मल्लमुख्यान् हत्वा–विगतप्राणान् कृत्वा दिग्विभागं द्योतयन्–स्वतेजसा प्रकाशीकुर्वन्, अत एव हसितसितकरैः हास्येन सर्वं श्वेतीकुर्वद्भिर्देववृन्दैर्हिरण्यगर्भादिभिर्दत्ताशीर्जय विजयस्वेत्येवं प्रयुक्ताशंसनः सन् तत्र रङ्गवाटे एवोत्पत्य लघिमाश्रयणेन योगीश्वरो हरिः । किञ्च, स नित्य[प?]दोद्विग्नधिया तमीश्वरं पिबन्न दत्वा विचरन् स्वपन् स्वसन् ददर्श चक्रायुधाग्रतो[3] यत्कंसावस्थानमञ्चमुच्चैस्तरमप्यारुह्य तस्मादुच्चमञ्चाद्–अट्टालिकाविशेषाद् धृतकचविधुरं–केशग्रहणातुरं कंसं कालनमिनामकं[4] पूर्वशत्रुं जघन्वान्–निहतवान्, भूमौ निपात्य गतासुं[5] विचकर्षेत्यर्थः । मल्लयुद्धे पुनः शोभार्थं बलदेवसाहित्यमाह सीरिद्वितीयं[6] इति, सीरं–हलं नामायुधं अस्यास्तीति सीरी–हलधरः स एव, नान्यो द्वितीयोऽस्य स तथा । तु शब्देन अस्य कंसस्य भयावेशवशाच्छ्रीभागवतादिपुराणप्रसिद्धो विशेषो भेदः सर्वजीवमरणेभ्यः सूच्यते । यदुक्तम्—

'आसीनः संविशस्तिष्ठन् भुञ्जानः पर्यटन्महीम् ।
चिन्तमानो हृषीकेशमपश्यत्तन्मय जगत् ॥'

इति । तदेव रूपं दुरवापमापेति । अपि च—

'मन्येऽसुरान् भागवतास्त्र्यधीशे, संरम्भमार्गाभिनिविष्टचित्तान् ।
ये संयुगेऽचक्षत तार्क्ष्यपुत्र–मंसेसु नाभायुधमापतन्तम् ।'

इति ॥३॥

---

१. वि. प्रतौ-सीरीसहायः । २. वि. प्रतौ बालमूर्त्तिः । ३. ब. चक्रायुधमग्रतो । ४. ब. कालनिमिनामकं । ५. अ. गतासु । ६ ब. द्वितीय ।

आगस्कारिणि कैटभप्रमथने तत्ताडनार्थे रुषा,
नाभीपङ्कजमस्त्रतां गमयितुं जाते प्रयत्ने श्रियः ।
स्वावासोन्मथनोपपादितभियस्त्रस्तात्मनः[1] शङ्कया,
या ब्रह्मण्यपराः पुरातनमुनेर्वाग्वृत्तयः[2] पान्तु वः ॥४॥

(कीका०)—कृष्णस्तु भगवान् स्वयमिति शास्त्रमनुगृह्णन् जलशायिलीलामाह—

आगस्कारिणीति । आगो नाम रतिगोत्रस्खलिताद्यपराधस्तत्कर्त्तरि कैटभप्रमथने—कैटभवधार्थमाविर्भूते आदिनारायणात्मनि श्रीकृष्णदेवे सञ्जातगोत्रस्खलिते सति रुषा—तत्प्रयुक्तक्रोधेन श्रियः—हिरण्यगर्भशङ्करमहेन्द्रादिभिरपि श्रयणीया या लक्ष्मीस्तत्ताडनार्थे तस्य कृष्णस्य लीलाप्रहरणप्रयोजननिमित्तं नाभीपङ्कजं—श्रीनारायणनाभ्यामेवोद्भूतं यत्कमलं तदेवास्त्रतां गमयितुं प्रहरणसाधनत्वं सम्पादयितुं प्रयत्ने—उद्यमे जाते सति स्वावासोन्मथनोपपादितभियः—स्वगृहभंगदर्शनोत्पन्नभयस्य, अत एव त्रस्तात्मनः—उद्विग्नान्तःकरणस्य ब्रह्मणोऽपि—पाद्मस्यापि पुरातनमुनेर्गन्धमादने चिरन्तपःसक्तस्यादिनारायणस्य उद्देशेनाब्रह्मण्यपराः—अश्लीलोत्तराः रे ! रे ! शठ ! त्वं मा माऽस्मद्गृहभगं कार्षीः, भोगामुकवरास्त्रेण श्रेष्ठसदाभोगलम्पटतरकामासक्त्यैव माऽस्मद्गृहानुन्मूलय इत्याद्या वाग्वृत्तयः—क्रोधप्रयुक्तवाग्भंग्यो वः—युष्मान् गोपीजनवल्लभचरणारविन्दमधुपायमानान् भक्तवरान् पान्तु, संसारहेतुप्रपञ्चबीजस्मरणं यथा न भवति तथा कृत्वा रक्षन्त्वित्यर्थः । ब्रह्मवेदमर्हतीति [3]ब्राह्मणास्तदन्या लौकिकालापसम्बद्धा इत्यर्थः । ब्रह्मणोऽप्यब्रह्मण्यपरा गिर इति विरोधाभासोऽलङ्कारः । पुरातनमुनेरपि येन तादृक् कामोद्रेक इति स शृङ्गारो रसः[4], नायको कवीनामालम्बनीभूताः साहित्यसारत्वेन व्यज्यते ॥४॥

अर्द्धोदञ्चितमाननेन्दुमुदधौ दृष्ट्वा श्रियः शार्ङ्गिणा,
नीते तत्प्रतिघातकातरधिया निस्पन्दतां मन्दरे ।
दैत्यानां च दिवौकसां च निविडव्रीडाननानां मिथो
मिथ्यापीडितपन्नगेन्द्रवलयव्याकृष्टयः पान्तु वः ॥५॥

(कीका०)—अर्द्धोदञ्चितमिति । गोवर्द्धनोद्धरणादिविचित्रलीलाम्बुदस्य

---

१. वि. प्रतौ०भयभ्रान्तात्मनः । २. वि. प्रतौ व्यावृत्तयः । ३. ब. ब्रह्मण्या । ४. ब नायको रसः ।

क्षीरसागरमन्थनादिलीलावर्णनेनाऽपि पुनरस्य पुराणपुरुषत्वमेवाध्यवसाययन्नाह—

अर्द्धोदञ्चितं—अर्द्धमुद्गतं सामिप्रादुर्भूतमुदधौ—क्षीरसागरे श्रियः—लक्ष्म्या आननमिन्दुरिव इत्याननेन्दुः 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्ये' इति समासस्तं मुखचन्द्रं दृष्ट्वा तत्प्रतिघातकातरधिया तस्य मुखेन्दोः प्रतिघातेन—दर्शनाभाव-शंकया कातरा—खिन्ना धीर्यस्य तादृशेन शार्ङ्गिणा—श्रीकृष्णेन मन्दराचले निःस्पन्दतां—निश्चलत्वं नीते—प्रापिते सति परस्परं यततामपि तन्निश्चलीभाव-दर्शनादतिलज्जाभरस्तब्धीकृतानां सुरासुराणां मिथ्यापीडितपन्नगेन्द्रव्याकृष्टयः—व्यर्थमाकृष्टवासुकिनागनेत्रव्याकर्षणानि वः—युष्मान् गोविन्दपादाब्जरजःप्राप्ति-समुत्सुकाभ्यां तु संसारसारतामवगमयन्तु, यथा कृष्णेन स्तम्भितं मन्दरमजानतां सुरासुराणां वासुकिनेत्राकर्षणं व्यर्थं, इत्थं अस्माकमपि शुक्तिरज्जुगगनमृग-तृष्णासु रजतसर्पतलजलानीव प्रपञ्चे धावनमिति भावः, परमार्थतस्तद्भानं रक्षणमभिप्रेयते इत्यर्थः ।।५।।

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्त्तिमान्,
गोपानां स्वजनः[1] सतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः ।
मृत्युर्भोजपतेर्विराण्यविदुषां तत्त्वं परं योगिनां,
वृष्णीनां परदेवतेति भगवान् रङ्गं प्रविष्टो हरिः ।।६।।

(कीका०)—मल्लानामशनिरिति । श्रीभागवतदशमस्कन्धपद्यं केचिदधीयते श्रीधराचार्येण तद्व्याख्यातमिति, परकीयं चेत्युपेक्ष्यते, परमपि पद्यं 'मल्लैः शैलेन्द्र-कल्प' इति तदर्थकमेव स्पष्टमिति, तदपि उपेक्षत[2] एव ।।६।।

[श्रीकृष्णावतारे ३-४-५ पद्यानां गुणविनयकृता नोपलभ्यते टीका]

---

१. अ. प्रतौ 'स्वजनो' । २. बी. उपेक्ष्यत ।

९. बुद्धावतारः

षट्चक्रक्रमभावनापरिगतं हृत्पद्ममध्यस्थितं,
सम्पश्यन् शिवरूपिणं लयवशादात्मानमध्याश्रितः[1] ।
युष्माकं मधुसूदनो बुधवपुर्द्धारी स भूयान्मुदे,
यस्तिष्ठेत् कमलासने कृतरुचिः बुद्धैकलिङ्गाकृतिः ॥१॥

(कीका०)—इति श्रीकृष्णवर्णनं समाप्य क्रमप्राप्तं बुधावतारं प्रस्तौति—

षट्चक्रेति । षट्चक्राणि योगशास्त्रप्रसिद्धानि आधारस्वाधिष्ठानमणिपूरकानाहतविशुद्धयाज्ञानामकानि, तत्राधारचक्रं नाम गुदमूले चतुर्दशदलपद्माकृतिः, तत्र शृङ्गारैकसमयात्[2] वैश्वरौ पार्थिवरश्मिप्रधानौ शिवाशिवौ प्रायेण योगिनोऽनुध्यायन्ति । द्वितीयं स्वाधिष्ठानं नाम नाभिस्थदशदलपद्मं, तत्र प्रायेण योगिनोऽग्निमधितिष्ठन्तं तैजसरश्मिप्रधानं संवर्तेश्वरं शीतोपचारं विश्वस्य रचयन्ती च समयामेव शक्तिमनुध्यायन्ति । मणिपूरकं नाम षडश्रिपद्मं, तत्र त्वाप्यरश्मिप्रधानमेघेशसौदामिन्योः[3] शिवशक्ती उपासमाते[4] । चतुर्थमनाहतं नाम आम्राकृतिहृदयकमलं तत्र वायव्यरश्मिमुख्ये हंसहंसेश्वर्यौ शिवशक्ती साक्षात् कृत्वा अष्टादशविद्यापरिपाकोत्थं परमानन्दमनुभवन्ति । तदुक्तं योगानुशासने—

'अनुपममनुभूतिस्वात्मसंवेद्यमाद्यं,
विततसकलविद्यालास्यमन्योन्यमुख्यम् ।
सकलनिगमसारं सोऽहमोंकारगम्यं,
हृदयकमलमध्ये हंसमुख्यं नमामि ॥१॥

इति, तस्य हंसयुग्मस्य जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयस्तिस्रोऽवस्थाः, तत्र जाग्रदवस्थायां सत्वगुणाधिक्यं तदा देहिनां वेदशास्त्रादिरूप आलापो भवति, यदा रजोगुणः प्रभवति तदा प्राणिनामाहारादिव्यवहारः, यदा तमः प्रभवति तदा क्रोधनिद्रादिभयहिंसादिव्यवहारः, सर्वगुणोपरमे पुनर्मायाशबलतया समुल्लसितदेशकालादिपरिच्छेदबोधपरिहारेण शुद्धसंविदात्मकं निरतिशयं सच्चिदानन्दरूपमेवावतिष्ठते ।

---

१. कीकामते तु—लयवशादात्मानमेवात्मना । २. ब. शृंगारैकरसिकसमयानवैश्वरौ । ३. ब. सौदामिन्यौ । ४. ब. उपासते ।

तदेतदभिप्रेत्यायमपि कपिकविराह—हृत्पद्ममध्यस्थितं सम्पश्यन् शिवरूपिणं लयवशादात्मानमेवात्मनेति । अथ पञ्चमं विशुद्धं नाम कण्ठस्थं षोडशदलं पद्मं, तत्र नाभसरश्मिप्रधानं व्योमेश्वरं चिदानन्दप्रकाशहेतुं व्योमेश्वरीं स्मरन्ति । षष्ठमाज्ञाचक्रं नाम भ्रूमध्यगतं द्विदलं पद्मं, तत्र प्रायेण मुनयः परचिच्छक्ति-संवलितं शशिसूर्यकोटिकान्तिधरं मानसरश्मिप्रधानं शिवं साक्षात्कुर्वन्तो वीत-रागाः क्रममुक्तिं भजन्ते सरामाः[1] । पुनर्वागगोचरभालोके वसन्त इत्थोपनीत-नानाभोगभाजो भवन्तीति, तदेतदनुसन्धायोच्यते षट्चक्रेति, यथोक्ततत्तच्छिव-शक्त्याधिष्ठितानां षण्णां चक्राणां क्रमेण या भावनानुध्यानं, ततः परिगतं सर्वतः प्राप्तं विद्यमानमेवावगतमित्येतत् हृत्पद्ममध्यस्थितं, सर्वगतोप्यसौ परमात्मा हृदय-पुण्डरीके दहराकाशे विशेषात् समाहितैरुपलभ्यत इत्यत उच्यते हृत्पद्ममध्य-स्थितमिति सम्पश्यन् । स एवाहमिति साक्षात्कुर्वन् शिवरूपिणं सत्यकामादिसर्व-गुणवत्त्वेऽपि निर्गुणं पूर्णस्वच्छचिद्गगनाकारं चतुर्थमित्येतत् । 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्त' इति श्रुतेः । तद्दर्शनं च लयवशादष्टौ प्रकृतयः षोडश विकारा इत्येवं चतुर्विंशतिकस्य गणस्याभाने सतीत्यर्थः । अत एव स्थूलसूक्ष्मदेहद्वयविस्मृतिवशेन तमात्मानमेव तदेव सत्तामात्रमर्थनिर्भासं स्वस्वरूपं गत इत्यर्थः । एतेन निर्बीज-समाधिरुक्तः । ध्यातृध्येयाकारस्यापि भेदस्य निरस्तत्वात् । अथ योन्यां देवता-मुपास्ते 'अन्योऽसावन्योहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेव स देवानाम्' इति श्रुतेः । एवकारेणेतरेषामिव योगफलाद्युत्थानं निवार्यते । यदुक्तम्—

'सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्तन्न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ।।'

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः । इति भागवतं स्मरणमपि भवति ।

'देहं तु तं न चरमं स्थितमुत्थितं वा,
सिद्धो विपश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम् ।'

इति, साक्षात्कारे साधनमाह—आत्मनेति बुद्ध्येत्यर्थः ।

'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ।
मनसैवानुद्रष्टव्यं
मानसेन प्रदीपेन महानात्मा प्रकाशते ।।'

ति स्मरणात् । निश्चयावस्थं मन एव बुद्धिरुच्यत इति बुद्धिमनोवाक्ययोर-

१. ब. सरागाः ।

विरोधः । ननु 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इति वाक्यान्तरविरोध इति चेत् ? न, गुरुवाक्यशास्त्रसंस्कृतस्य मनसः साधनत्वेनोपादानात् संकल्पात्मकस्य वा साधनत्वात् । अत एवोक्तं – 'शास्त्रदृष्टिर्गुरोर्वाक्ये तृतीयश्चात्मनिश्चयः' इति ।

अन्वयस्तु स बुधवपुर्धारी असुराणां वेदे निष्ठानानुगुणेत्यसुरव्यामोहार्थं बुधशरीरं धृत्वाऽवतीर्णो मधुसूदनः पुराणपुरुषो लयवशात् षट्चक्रक्रमभावनापरिगतं हृत्कञ्जकर्णिकालयं शिवस्वरूपं निजात्मानमेवाऽऽत्मनाऽन्तःकरणेन सम्पश्यन् सन् युष्माकं ज्ञाननिष्ठानां भक्तानां मुदे भूयात्–प्रीत्यतिशयजनकोऽस्तु, प्रीतिजनकत्वं च देवताया अपि स्वाभिप्रेतनिष्ठादर्शनात् । तामेव ध्यानयोग्यां निष्ठां प्रपञ्चयति–य इति । यो मधुसूदनः कमलासने कृतरुचिः–सदा बद्धपद्मासनः सन् बुद्धैकलिङ्गाकृतिस्तिष्ठेत् गतेर्निवर्तेत, सम्भावने लिङ् । बुद्धानामवगतस्वस्वरूपाणां स्थितप्रज्ञानामेवैकं लिङ्गं–चिह्नं यस्यां तादृशी आकृतिर्यस्य स तथा । स्थितप्रज्ञलक्षणं च प्रश्नपूर्वकमवतार्य स्मर्यते –

'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ।

इति प्रश्ने भगवानुवाच—

'प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ।।

इत्यादिना ।।१।।

(गुण०) —अथ बुद्धावतारहरिस्तुतिव्याख्या आरभ्यते—

षट्चक्रक्रमेति । स मधुसूदनः–मधुदैत्यहन्ता बुधवपुर्धारी[1]–बुधावतारो हरिर्युष्माकं मुदे–हर्षाय भूयात् । स इति कः ? यः कमलासने–पद्मासने कृतरुचिः–विहिताभिलाषस्तिष्ठेत् । पद्मासनं स्वरूपं चेदम्—

जंघाया मध्यभागे[2] तु संश्लेषो यत्र जङ्घया ।
पद्मासनमिति प्रोक्तं तदासनविचक्षणैः ।।

इति श्रीयोगशास्त्रे श्रीहेमाचार्या निजगदुः[3] । तथा स किंविशिष्टः ? बुद्धैकलिङ्गाकृतिः बुद्धानां–पण्डितानां मध्ये एकं–अद्वितीयं यल्लिङ्गं ज्ञानं लिंग्यते–ज्ञायतेऽर्थोऽनेनेति व्युत्पत्तेस्तदेवाकृतिः–स्वरूपं यस्य स बुद्धैकलिङ्गाकृतिः । पुनः किंविशिष्टः ? शिवरूपिणं–ब्रह्मस्वरूपमात्मानं लयवशात्–चित्तैकाग्र्यवशात् सम्पश्यन्–अवलोकयन् सन् अध्याश्रितः–स्थितः । किंविशिष्टमात्मानम् ? षट्चक्रक्रमभावनापरिगतं षट्चक्रस्य[4] य क्रमः–परिपाटी तस्य या

---

१. हं० बुद्धरूपधारी । २. हं० मध्यभागेषु । ३. हं० निगदुः । ४. हं० षट्चक्रस्य ध्यानविशेषप्रतिबद्धस्य ।

भावना-वासना तया परिगतं-व्याप्तं । षट्चक्राण्यमूनि—आधारचक्र १, मणिपूरकचक्र २, अधिष्ठानचक्र ३, आज्ञाचक्र ४. विन्दुचक्र ५, लयचक्राख्यानीति ६ । तथा पुनः किंविशिष्टम् ? हृत्पद्ममध्यस्थितं हृत्पद्मस्य-हृदयपङ्कजस्य यन्मध्यं तस्मिन् स्थितं-व्यवस्थितम् ।।१।।

बद्ध्वा पद्मासनं यो नयनयुगमिदं न्यस्य नासाग्रदेशे,
धृत्वा मूर्ध्नौ च शान्तौ शमरसमिलितौ[1] चन्द्रसूर्याख्यवातौ ।
पश्यन्नन्तर्विशुद्धं किमपि च परमं ज्योतिराकारहीनं,
सौख्याम्भोधौ निमग्नः स दिशतु भवतां ज्ञानबोधं बुधोऽयम् ।।२।।

(कोका०)—एवमष्टांगादिहठयोगं[2] प्रपंच्य 'सर्वेपि हठयोगास्तु[3] राजयोग-फला मता' इति स्मरणात् फलभूतं सहजं राजयोगं प्रपञ्चयितुमाह—

बद्ध्वेति । पुनरपि पद्मासनग्रहणं राजयोगे आनुगुण्यप्रदर्शनार्थं पद्मासनलक्षणं च स्कन्दे[4] ज्ञानयोगखण्डे स्मर्यते—

'ऊर्वोरुपरि विप्रेन्द्र कृत्वा पादतलद्वयम् ।
पद्मासनं भवेदेतद् पापरोगभयापहम् ।।'

इति । तदेतत् पद्मासनं बद्ध्वा यो बुधवपुर्हरिरिदं सर्वजनानुभूतप्रागतिकं नयन-युगं-चक्षुर्द्वयं नासाग्रदेशे न्यस्य-निजनासिकाग्रे व्योम्नि अवस्थाप्य इत्येतत् । तथा च स्मर्यते—

'समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ।।'

इति । धारणायाः पूर्णे गगनेऽभीष्टत्वान्नासिकाग्रमिव सम्प्रेक्ष्येति लुप्तमिव शब्दं सन्तं वर्णयन्ति व्याख्यातारः । तथा चन्द्रसूर्याख्यवातौ–प्राणापानौ समरस-मिलितौ 'रसो वै सः' इति श्रुतेः । सदा समरसमेकस्वभावं यद् ब्रह्म तस्मिन् मिलितौ–संगतौ मूर्ध्नि–ब्रह्मरन्ध्रे प्रशान्त्यै–मोक्षसुखानुभवाय धृत्वा–अवष्टभ्य इत्येतत् । उक्तमेवार्थं सस्मार भगवान्—

'स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ।।
जितेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यस्सदा मुक्त एव सः ।।

---

१. कोकामते तु—धृत्वा मूर्ध्नि प्रशान्त्यै समरसमिलितौ । २. ब. ०हठयोगं । ३ ब हठयोगास्तु । ४. ब. स्कान्दे ।

इति । प्राणापानयोः शशिसूर्याख्यौ च शीतोष्णवीर्यनिबन्धिनी । अथ यदर्थोऽयं योगोद्यमस्तदाह—पश्यन्नन्तर्विशुद्धं किमपि च परमं ज्योतिराकारहीनं इति, पश्यन् साक्षात्कुर्वन्नन्तर्हृदयाकाशे 'हृद्यन्तर्ज्योतिः' इति श्रुतेः। यद्वा, अन्तर्विशुद्धं-सर्वोपाधिनिर्मुक्तं किमपि योगिनामपि अनिर्वचनीयं, 'यतो वाचो निवर्तन्त' इति श्रुतेः। चकारेण सर्वगतत्वं व्यज्यते, 'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य स[१] बाह्यत इति मन्त्रवर्णात् । परमं परैर्ब्रह्मादिभिरप्यनुमीयमानं प्रपञ्चाधारत्वाद् रज्जुरिव सर्पाधारत्वेन ज्योतिः स्वप्रकाशं 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्ध' इति श्रुतेः । उपाधि-सम्पर्केऽपि आकारत्वं निरस्यति—आकारहीनमिति, आकाशवत्सर्वगतत्वान्निरा-कारं सौरचन्द्रप्रकाशवत् सर्वदा सर्वत्रैकरूपतयोपलभ्यमानमीदृशं परमात्मानं प्रपञ्चविलापनेनैकीभूतः पश्यन् सौख्याम्भोधावानन्दसागरे निमग्नः सोयं प्रसिद्धो योगिप्रत्यक्षश्च बुधो भवतां जिज्ञासूनां युष्माकं ज्ञानबोधमेकमेवाद्वितीय-मिति ज्ञानमेव बोधोऽवगतार्थता तां दिशतु-ददातु । 'ददामि बुद्धियोगं येन मामुपायान्ति त' इति स्मरणात् ॥२॥

(गुण)०--बद्ध्वा पद्मासनमिति । अयं स बुधः[२]-बुधावतारो[३] हरिर्भवतां-युष्माकं ज्ञानबोधं-ज्ञानस्फूर्त्तिं दिशतु-ददातु । स इति कः ? यः पद्मासनं बद्ध्वा तथा नयनयुगं नासाग्रदेशे न्यस्य-संस्थाप्य नासाग्रदेशदृष्टित्वेन भूत्वा इत्यर्थः । तथा च पुनः मूर्त्तौ-शरीरे शान्तौ चन्द्रसूर्याख्यवातौ शमरसमिलितौ धृत्वा किमप्यनिर्वाच्यं अन्तर्विशुद्धं-चेतसि निर्मलं परमं-प्रधानं आकारहीनं-निराकृतिर्ज्योतिरात्मस्वरूपं पश्यन् सौख्याम्भोधौ-सुखसमुद्रे निमग्नः स दिशत्विति ॥२॥

रेतोरक्तमयान्यमूनि भविनां विण्मूत्रपूर्णोदरा-
ण्यालोक्येत्र कलेवराणि विगलत्तोयार्द्ररन्ध्राणि[४] यः ।
मायाजालनियन्त्रितानि घृणया नोन्मीलयत्यक्षिणी
निर्व्याजप्रणिधाननिश्चलमतिर्बुद्ध्यै स बुद्धोऽस्तु वः ॥३॥

(कीका०)—पुनर्व्युत्थाननिरासाय व्युत्थानहेतौ [५]संसारवैराग्यं प्रदर्शयन्नाह—

रेतो रक्तमयानीति । स बुद्धः-अवगतात्मयाथात्म्यो वः-युष्माकं शान्ति-दान्त्युपरतितितिक्षाश्रद्धावत्वेनाधिकारिणां बुद्ध्यै आत्मयथात्मबोधायाऽस्तु, आत्म-याथात्म्यं च 'आकाशो वै नाम' नामरूपयोर्निर्व(ह)िता ते यदन्तरा तद्ब्रह्मेत्या-

१. ब. स्य । २. हं० बुद्धः । ३. हं० बुद्धावतारो । ४. कीकामते तु-विगल-त्क्लिन्नार्दरन्ध्राणि । ५. ब. संसारे ।

दिवेदान्तवाक्येषु निर्णीतम्, अथाचार्यादध्यवसातव्यः[1] । 'आचार्यवान् पुरुषो वेद स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं, इत्यादि श्रुतेः। निर्बीजसमाधिभाक्त्वेन विशिनष्टि—निर्व्याजप्रणिधाननिश्चलमतिरिति, निर्गतो व्याजः—उपाधिर्यस्मात्तादृशं निर्बीजं यत् प्रणिधानं—समाधिस्तत्र निश्चला—निवातप्रदीपवदवस्थिता मतिर्यस्य स तथा, 'यथा दीपो निवातस्थो नङ्गते[2] सोपमा स्मृता' इति भगवत्स्मरणात् । इत्थं लयवशान्निमीलितनेत्रत्वे कविरुत्प्रेक्ष्यमाण आह—रेतोरक्तमयानीति, रेतः—शुक्रं पुंसोऽष्टमो धातुः, रक्तं—स्त्रियश्चरमो धातुः, विकारार्थे मयट्. शुक्रशोणितविकृतिमात्राणि भविनां—संसारासक्तानां अस्मदादिजीवानां अमूनि कलेवराणि—शरीराणि, प्रत्यक्षेष्वपि शरीरेष्वमूनीति परोक्षाभिधायकादमूशब्दे व्यपदेशः, स्थूलोपाधेरपि अनवगतत्वं व्यनक्ति किं तनुः[3] शरीरमिति, सर्वेषां भ्रान्तत्वात् । तादृशान् देहानालोक्येव प्रायस्तद्दर्शनादेव जुगुप्समानो घृणया—लज्जयाऽक्षिणी—स्वनेत्रो[4] नोन्मीलयति—न प्रकाशयति, यः लज्जा च तादृग् मृषाप्रपञ्चस्य गन्धर्वनगरादिवत् स्वयमुत्थापनात् किमिदमसभ्यं मया सृष्टमिति । स्त्र्यादिशरीरेष्वासक्तानामस्मदादीनां वैराग्यहेतोस्तानि शरीराणि विशिनष्टि—विण्मूत्रपूर्णोदराणीति, प्राणिभक्षितान्नस्य मलत्वेनावशिष्टो यः स्थविष्ठो भागः स विट् विशति स्थूलान्त्रेष्विति व्युत्पत्तेरेवमपां पीतानां स्थूलो भागो मूत्रं ताभ्यां पूर्णान्युदराणि येषां तानि तथा यद्यपि विण्मूत्रयोः पक्वाशयवस्ती अवस्थितिभूमिके उदरादधस्तादेव, तथापि तत्रावस्थानस्य[5] नियतसमधातुसाधुजीवविषयत्वात् कामिनामनियताहाराणां च मलभूयस्त्वापेक्षयेदं मलपूर्णोदरत्वमुच्यते । ननु प्रत्यक्षमोष्ठाक्षिवरांगादिषु भूयान् सोऽनुभूयते तत्कथं मन्यामहे मलमात्रपूर्णत्वमिति, मलशेषोद्गारेण कामिनोऽप्यस्मान् अध्यवसायं पुनर्विशिनष्टि—विगलत्क्लेदार्द्ररन्ध्राणि इति, विशेषान्निपुणं प्रक्षाल्यमानोऽपि गलन्—प्रक्षरन्नेव यः क्लेदः—मलोद्गारस्तेनाऽऽर्द्राणि—क्लिन्नानि एव रन्ध्राणि योन्यादिनवाऽपि छिद्राणि येषु तानि तथा । नंविद्यमानं[6] कूपे जलं पशूदपाने दृष्टमिति भावः । मृगतृष्णासु मृगस्यवत् शरीरेषु व्यर्थं रमणमित्युपसंहरति—मायाजालनियन्त्रितानीति, मायानामासद्भावोपदृष्टिः पिच्छात् पारापतानीव सा ह्यसद्भावोपदर्शनचतुरैव तत्क्षतं[7] जालं—पक्षिबन्धार्थे प्रसारितपाशस्तद्वन्नितरां यन्नातिशयेन यन्त्रितानि-

१. ब. अध्यवसातव्यम् । २. ब. नेंगते । ३. क. किं स तनः । ४. ब स्वनेत्रे । ५. अ. तत्रावस्थातस्य । ६. अ. नाविद्यमानां । ७. ब. तत्कृतम् ।

यन्त्रवद्बद्धानि भ्रममात्रकरणायाविर्भूतानीत्यर्थः । तथा चोक्तं वस्तुविचार-निष्ठैः—

'बाला मामियमिच्छतीन्दुवदना सानन्दमुद्वीक्षते,
नीलेन्दीवरलोचना पृथुकुचोत्पीडं परीरिप्सते ।
का त्वामिच्छति का च पश्यति पशो मांसास्थिभिर्निर्मिता,
नारी वेच्छिन(च्छति)[1] किञ्चिदत्र स पुनः पश्यत्यमूर्त्तः पुमान् ।'

इति । अपि चैतदेवानुसन्धाय समुद्रे यादोवद्व्योमाकृतिपूर्णवस्तुसागरे निमग्नैर्विवेकिभिरप्युक्तम्—

'शान्तेऽनन्तमहिम्नि निर्मलचिदानन्दे तरंगावली-
निर्मुक्तेऽमृतसागराम्भसि चिरं मग्नोऽपि नाचामति ।
निस्सारे मृगतृष्णिकार्णवजले श्रान्तोऽपि मूढः पिब-
त्याधावत्यवगाहतेऽभिरमते मज्जत्यथोन्मज्जति ।'

इति । अयमेवार्थः स्मर्यते भगवद्गीतासु—

'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्त्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥'

इति । किं बहुनाऽधिकारिभेदेनैव विद्याविद्ययोर्व्यवस्थितो विषयः, इत्यलं अन्धहस्तादर्शदर्शनेति ॥३॥

(गुण०)—रेतोरक्तमयान्यमूनि भविनामिति । स बुद्धः-बुद्धावतारो हरिर्वः-युष्माकं बुद्धयै-मतये[2] अस्तु-भवतु । स इति कः ? यः भविनां-संसारिणां अमूनि-प्रत्यक्षोपलभ्यानि कलेवराणि-शरीराणि आलोक्येव-दृष्ट्वेव घृणया-जुगुप्सया अक्षिणी-चक्षुषी नोन्मीलयति-न विकासयति । किंविशिष्टानि कलेवराणि ? रेतोरक्तमयानि-शुक्ररुधिराश्लिष्टानि । पुनः किं विशिष्टानि ? विण्मूत्रपूर्णोदराणि विट्-विष्टा मूत्रं-प्रस्रावस्ताभ्यां पूर्णान्युदराणि येषां तानि । पुनः किंविशिष्टानि ? विगलत्तोयार्द्ररन्ध्राणि विगलत्-क्षरत् यत्तोयं-मूत्रादिजलं तेन आर्द्राणि-क्लिन्नानि रन्ध्राणि-विवराणि येषां तानि । पुनः किंविशिष्टानि ? मायाजालनियन्त्रितानि मायारूपेण जालेन नियन्त्रितानि-बद्धानि ।* किम्भूतः सः ? निर्व्याजप्रणिधाननिश्चलमतिः निर्व्याजेन-निःकपटेन प्रणिधानेन-चेतःसमाधिना निश्चला मतिर्यस्य स निर्व्याजप्रणिधान-निश्चलमतिः* ।

[4]इति श्रीगुणविनयविरचितायां खण्डप्रशस्तिवृत्तौ
बुधावतारो हरिस्तुतिव्याख्या ।[4]

। ९ ।

---

१. ब. वेच्छिन । २. हं० विशदमतये । * । *चिह्नान्तर्गतपाठो नास्ति हं० प्रतौ । ४-४. हं० इति बुधावतारस्तुतिव्याख्या ।

१०. कल्क्यवतारः

प्रेंखद्वाजितरङ्गमुन्मदगजग्राहप्रगल्भं[1] भट-
व्यावल्गत्स्फुटपुण्डरीकनिलयं डिण्डीरपिण्डावलिम्।
म्लेच्छानीकमहार्णवं सुविपुलं संग्रामकल्पावधौ,
यश्चौर्वाग्निरिवाभवद्[2] द्यतु स वः कल्कानि कल्की हरिः ॥१॥

[3]इति कल्क्यवतारः।

इति श्रीखण्डप्रशस्तिर्दशावतार हरिस्तुतिर्समाप्ता।

शुभम्भूयान्नः स ना शमस्तु।

श्रीजिनदत्तसूरि-श्रीजिनकुशलसूरीन्द्रौ कल्याणाय स्यातां नः।
श्रीरस्तु वाचकपाठकयोः। शुभम्भूयात्।[3]

(कीका०)—इत्थं बुद्धचर्याव्यपदेशप्रसङ्गेन सकलशास्त्रार्थनिर्णयं प्रपंच्य कल्किकीर्त्तनेन ग्रन्थमुपसंहरन्नाह—

प्रेखद्वाजीति। स कल्की हरिः कल्कं नाम यवनसंहारकल्पितकलंको वस्तुतो बुद्धो अस्मादृशोऽपि हत्वा 'स इमान् लोकान्न हन्ति न निबध्यत' इति स्मृत्या, 'न कर्मणा लिप्यते पापकेने' ति श्रुत्या च पुण्यपापास्पृष्ट इति बोधितत्वात्। तत्कल्कमस्यास्तीति कल्की हरिर्भक्तानां पापापहर्ता वः—युष्माकं कल्कानि—स्वरूपज्ञानप्रतिबन्धकानि पापानि द्यतु—अवखण्डयतु, 'दो अवखण्डने, ओतः श्यनि' इति ओकारलोपः, अधीष्टे लोट्। नीचेनोत्तम-प्रेषणाया अवगतत्वात्। स कः? यः कल्की और्वाग्निः—वडवानल इव संग्रामकल्पावधौ—रणाकृतिकल्पान्तावस्थायी सुविपुलमतिव्यायतं म्लेच्छानी-कमहार्णवं—यवनसैन्यसागरं अदहत्—निश्शेषीचकार। कल्पान्तेति, संकर्षण-मुखाग्निना त्रैलोक्याप्लावका अपि समुद्राः शुष्यन्त इति शुश्रुमः। म्लेच्छानी-कमहार्णवयोस्सादृश्यं विशेषणद्वारेणोपपादयति—प्रेंखदिति, प्रेंखन्तः—जवाति-शयेन दोलायमाना वाजिनः—अश्वा एव तरंगा यत्र स तम्। तथोन्मदाः—सप्तधा मदं क्षरन्तो गजा एव ग्राहाः—मकरा यत्र स तम्। पद्माकरत्वमुपपादयति—

---

१. कीकामते तु—प्रेंखद्वाजितरङ्गमुन्मदगजग्राहं प्रगवल्भद्। २. कीकामते तु—यश्चौर्वाग्निरिवादहद्। ३–३ हं० नास्ति पाठः।

प्रगल्भदिति । प्रगल्भन्तः—युद्धे शौण्डीरीभवन्तो ये[१] योद्धारस्तेषां व्यावलगन्तः जववशाद् विचलन्तो ये शिरोवेष्टनपटास्ते एव शौक्ल्यातिशयात् पुण्डरीकाणि—श्वेतकमलानि तेषां निलयः—आवासो यस्मिन् स तम् । फेनवत्त्वमुपपादयति—डिण्डीरपिण्डावलिमिति, प्रोच्छलद्शोणितान्येव[२] डिण्डीराणि—फेनास्तत् पिण्डानां बाहुल्यादावलयो[३] यत्र स तम् ॥१॥

(गुण०)—अथ कल्क्यवतारहरिस्तुतिव्याख्या प्रस्तूयते—

प्रेंखद्वाजितरङ्गेति । स कल्की हरिर्वः—युष्माकं कल्कानि—पापानि द्यतु—खण्डयतु । स इति कः ? यः सुविपुलं—सुष्ठु विस्तीर्णं म्लेच्छानां यदनीकं—सेना तदेव महार्णवः—समुद्रस्तं प्रति संग्रामकल्पावधौ संग्राम एव कल्पः—युगान्तस्तस्य योऽवधिः—मर्यादा तस्मिन् और्वाग्निरिव—वडवानल इवाऽभवत् । यथा और्वाग्निना समुद्रः शोष्यते तथा येन भगवता म्लेच्छानीकसागरः शोषित इति भावः । किंविशिष्टं म्लेच्छानीकमहार्णवम् ? प्रेंखद्वाजितरङ्गं प्रेंखन्तः—व्यावलगन्तो ये वाजिनः—अश्वास्त एव तरङ्गाः—कल्लोला यस्मिन् स तम् । पुनः किं-विशिष्टम् ? उन्मदगजग्राहप्रगल्भं उन्मदा—उन्मत्ता ये गजास्त एव ग्राहाः—तन्तुनागास्तैः प्रगल्भम् । पुनः किंविशिष्टम् ? भटव्यावलगत्स्फुटपुण्डरीकनिलयं भटाः—शूरास्त एव व्यावलगन्ति स्फुटानि—प्रकटानि यानि पुण्डरीकाणि तेषां निलयः—गृहं यः स तम् । पुनः किं विशिष्टम् ? डिण्डीरपिण्डावलिम् डिण्डीरपिण्डाः—फेनपिण्डास्तेषामावलिः—श्रेणिर्यस्मिन् स तम् । एतच्च विशेषणं केवलं[४] महार्णवस्यैव घटत इति[५] ॥

[६]इति श्रीगुणविनयविरचितायां खण्डप्रशस्तिवृत्तौ
कल्क्यवतारहरिस्तुतिव्याख्या इति श्रीदशावतारव्याख्यानेन समर्थिता श्रीखण्ड-
प्रशस्तिवृत्तिर्गुणविनयैः ।

आरुह्याश्वं च शुभ्रं स्फटिकगिरिसमं सङ्गरैकान्तमल्ले,
बिभ्रत् कुन्तं कराग्रे ज्वलदनलशिखायुक्तसंरक्तनेत्रः ।
हत्वा म्लेच्छांश्च सर्वान् रणभुवि निमिषार्द्धेन तान् लीलयाऽयं,
पायाद्वः पद्मनाभः कृतयुगरचनाविष्टबुद्धिः स कल्की ॥२॥

१. ब. भटाः—योद्धारः । २. ब. शोणितोत्थान्येव । ३. अ. बाहुल्यादावयो । ४. ब. समकालतां । ५, हं० केवल । ६–६, हं० इति दशावतारव्याख्यानेन समर्थिता खण्डप्रशस्तिः ।

(कीका०)—वीरतामाह—

आरुह्याश्वमिति । स कल्की पद्मनाभो दशावतारो हरिर्वः— युष्मान् पायाद्—रक्षतु । कीदृशः ? कृतयुगरचनाविष्टबुद्धिः कलिमपनीय कृतयुगं रचयिष्यामीत्याविष्टा कृताभिनिवेशा बुद्धिर्यस्य स तथा । स कः ? यः कल्की स्फटिकगिरिसमं शुभ्रं—कैलाशवदुज्ज्वलं चलस्याश्वस्य शुक्लतैवोपमीयते तादृशं श्वेताश्वमारुह्य, अश्वमित्यनेन मानुषलीलासौ यन्म्लेच्छहननमिति व्यज्यते, 'हयो भूत्वा देवानवहद् वाजी गन्धर्वानर्वाऽसुरानश्वो मनुष्यानि' ति श्रुतेः । कराग्रे कुन्तं—भल्लं बिभ्रत् 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुमभावः । एवं कुन्तायुधः सन् रणभुवि—संग्रामाङ्गणे तान् बलोद्धायप्रसिद्धान् म्लेच्छान्—तुरुष्कान् निमिषार्द्धकालेन लीलया—अनायासेनैव हत्वा—निपात्य, ज्वलदनलशिखायुक्तसंरक्तनेत्रः हतेष्वपि तेषु तत्तद्यवनकृतदौःस्थ्यसंस्कारबलेन जाज्वल्यमानक्रोधाग्निज्वालाशबलिते, अत एव संरक्ते—अतिलोहिते नेत्रे अस्य तादृशः स्थित इति शेषः । विश्वद्रुहो विनाश्यापि न निर्वाण इति भावः । शक्त्यतिशयमाह—सङ्गरैकान्तमल्ल इति, निश्चयेन संग्रामसुभट इत्यर्थः । चकारद्वयं अश्वारोहणम्लेच्छहननयोः सकालतां[1] द्योतयति । अस्यावतारस्य भावित्वकीर्त्तनेनोपसंहरति ॥२॥

[पद्यस्यास्य टीका गुणविनयकृता नोपलभ्यते]

प्रख्यातो मधुरापुरीप्रभवतः प्रावृट्पयोदद्युति-
बीलो काल इव द्विषां दलयिता दैत्येश्वराणां किल ।
कल्की कल्ककलङ्कितः कलियुगप्रान्ते य उत्पत्स्यते,
कालुष्यात् कमलालयापरिवृढो देवः स वस्त्रायताम् ॥३॥

(कीका०)—प्रख्यात इति । अयं हृदये सन्निधापितः कल्कीनाम परमेश्वरो देवो वः—युष्मान् कलिकृतात्कालबलोत्थात्कल्मषात्—पापात् त्रायतां—रक्षतु । यः कलियुगप्रान्ते—जघन्ययुगावसाने दस्युप्रायेषु राजसु स्वाहा—स्वधा—वषट्कारादिलोपे शूद्रप्रायेषु ब्राह्मणेषु समुत्पत्स्यते । विष्णुयशसो ब्राह्मणस्य गृहे प्रादुर्भविष्यतीति[2] भावः । एतेन प्राणापहारेऽपि तस्मान्न ब्राह्मणो म्लेच्छेदित्यासुरतास्वीकारो विप्रस्य निवारितः । आसुरता च नान्नमात्रस्वीकारेण सर्वान्नानुमतिः

१. ब० इत्यर्थः । २. हं० १६०॥

प्राणात्यये तद्दर्शनादिति सूत्रितत्वात्, किन्तु तद्धर्मरुचिमात्रेणासुरो ब्राह्मण इति प्रतीमः। किम्बहुना ब्राह्मणत्वमेव दुर्बोधमिति भावः। प्रकृतं तु, कीदृशः कल्की ? मधुरापुरीप्रभवतः प्रख्यातः यमुनोपान्ते शत्रुघ्नेन लवणं हत्वा विनिवेशिता मधुरा प्रसिद्धा कंसो यत्र निपातितस्तस्यां नगर्यां जन्म गृहीत्वा विश्रुत इत्यर्थः। युगानुरूपं ध्येयं वर्णमाह—प्रावृट्पयोदद्युतिरिति, वर्षाकालीनसजलजलदश्यामः, किञ्च दैत्येश्वराणां द्विषां समानाधिकरणेयं षष्ठी, महतां दैत्यानां यवनादि-रूपेण परिणतत्वाद् द्वेषास्पदानां बालोऽल्पवया अपि काल इव दलयिताऽनेकधा-विनाशहेतुरित्यर्थः। किलेति आगमेनायं स्वकपोलकल्पितोऽर्थः, स च कल्की कल्ककलंकितः स्वयं निहतरुधिरोक्षितस्तत्तद्व्यापादनोद्भूताकीर्त्तिकलंकित इति वा एनस्वीति पामरैर्व्यपदिश्यमान इत्यर्थः। पतितपावनत्वेन सर्वेषां सर्वदा स्मर्यमाणोऽपि सर्वपापक्षयहेतुत्वादिति परमेश्वरपदेन सूच्यते, इत्यलं विस्तरेण ॥३॥

इति श्रीखण्डप्रशस्तिविवृतिः कीकाकेन विरचिता समाप्ता।

[पद्यस्यास्य टीका गुणविनयकृता नोपलभ्यते]

पाठीनः कमठः किरिर्नरहरिः खर्वाकृतिर्भार्गवो,
रामः कंसनिषूदनो दशबलः कल्की च नारायणः।
अस्माकं स विभूतयेऽस्तु भगवान् सेतुर्भवाम्भोनिधा-
वुत्ताराय युगे युगे युगपतिस्त्रैलोक्यनाथो हरिः ॥१॥



कीकाकृतविवृत्ति - प्रशस्तिः

विधातुकामः सुकृतं गरीयो, महीतलं स्वर्ग इवावतीर्णः ।
प्रालम्बनं सर्वविशेषणानां, स गूर्ज्जराख्यो जयति प्रदेशः ॥१॥

फलमिव सुकृतानां लोकधात्र्याः समग्रं, विगलितमिव खण्डं नाकलोकस्य भूमौ ।
नगरमतिगरीयो हाटके शैक्षणीयं, त्रिभुवनकमनीयं तत्र विख्यातमास्ते ॥२॥

तत्राभवत् सकलधर्म्मविचारपात्रं, गात्रं समिद्धमिव योगमतिर्बभार ।
अन्यद्विधातुरवलम्बनमाप्तवाचां, श्रीमाधवः कलिकलङ्ककथान्तरायः ॥३॥

आसीत् प्रमाणपदवाक्यविचारसिंहः, साहित्यसूक्तिबिशिनीकलराजहंसः ।
ब्रह्मामृतग्रहणलोलुपचित्तधामा, तस्यात्मजो निपुणधीर्बलभद्रनामा ॥४॥

तर्के कर्कशकेलिनाऽत्र भवता वेदान्तविद्यारसे,
मीमांसागुणमांसलेन पारितः सांख्येऽप्यसंख्योक्तिना ।
साहित्यामृतसागरेण फणिनो व्याख्यासुविख्यावता,
काश्यां तेन महाशयेन परमं ब्रह्मान्वभाव्यन्वहम् ॥५॥

विचार्य सर्वं सुखमेव दुःखं, धिया परब्रह्मणि निष्ठितस्य ।
संन्यस्यतस्तस्य बभूव सार्थो, यो योगिनश्छन्दगतेरपीष्टः ॥६॥

लक्ष्मीरिव मुरारातेः पुरारातेरिवाम्बिका ।
तस्य धर्मवधूरासीन्नाम्ना हन्त्री दयोज्ज्वला ॥७॥

ज्येष्ठस्तदीयतनयो विनयोदितश्री-र्नारायणोऽभवदशेषनरेन्द्रमान्यः ।
वाग्देवताकमलयोरपि यस्य गात्रे, सीमाविवादकलहो न कदापि शान्तः ॥८॥

विरञ्चिर्वेदार्थे तदनु गुणशास्त्रे फणिपति-
स्त्रिदोषो दोषाणां सकलगुणमाणिक्यजलधिः ।
वहन् गङ्गाख्यां यस्सकलविदुषां मौलिकुसुमं,
कनीयांस्तत्सूनुर्जयति नयशाली नरवरः ॥९॥

तस्मादगण्यगुणतो महनीयकीर्त्तेः, कीकाभिधोऽन्वयकरस्तनयोऽजनिष्ट ।
तेनेयमात्मवति[1] वैभवगुम्फितार्था, खण्डप्रशस्तिविवृतिः सुगमा व्यधायि ॥१०॥

[2]इति श्रीखण्डप्रशस्तिवृत्तिः समाप्ति[2] ।

॥ सम्वत् १६४५ वर्षे माहावदि ५ रवौ लखितं ॥ स्तम्भतीर्थे साहा लालजी लखित्यात्
ग्रं० २३००

१, ब० तेनेयमात्ममति० । २–२, व० इति श्रीः ॥ श्रीरस्तु ॥ कल्याणमस्तु ॥ शुभं भवतु ॥छ॥ लेखकपाठकयोः कल्याणं ॥छ॥छ॥

[गुणविनयकृतविवृतिशस्तिः]

विधुवारिधिरसशशिधर (१६४१) मितवर्षे विक्रमार्कभूभर्त्तुः ।
श्रीमत्खरतरगच्छे श्रीमज्जिनचन्द्रसूरिवरे ॥१॥

विजयिनि विजितानेकोद्भटकटुमदवादिवादिसन्दोहे ।
सूरिश्रीजिनमाणिक्यपट्टपूर्वाद्रिमार्त्तण्डे ॥२॥ युग्मम् ।

आसञ्छ्रीक्षेमशाखासु सुधातुलफलोपमाः ।
अभिषेकपदप्रौढाः क्षेमराजा यतीश्वराः ॥३॥

श्रीभारतीप्रतिमसन्मतिसद्विचाराः, शास्त्रार्थसार्थवरनीरधिलब्धपाराः ।
प्रापुः प्रदीप्तपदवीमपि यद्विनेयाः, श्रीपाठकीं[1] निगुणवादिभिरप्यजेयाः ॥४॥

शिवसुन्दरनामानः कनकाह्वाश्च सत्तमाः ।
यन्मुखाम्भोजमासाद्य कमला मुमुदेतराम् ॥५॥ युग्मम्

साधव्याः* वाचना भव्या अशोभन्त शुभोदयाः ।
श्रीदयातिलकाश्चात्र वैराग्यरससागराः ॥६॥

प्रमोदमाणिक्यगणिप्रधानाः, शिष्याः पुनर्वाचकताभिधानाः ।
राजन्ति तेषां करुणावधाना[2]-स्तच्छिष्यदक्षा विदितार्थतानाः ॥७॥

माधुर्यसारैर्वचनप्रकारै-र्जिग्युः सुराचार्यमपीह[3] तारैः ।
जयन्तु ते श्रीजयसोमशिष्टाः, सुपाठका मे गुरवो गरिष्ठाः ॥८॥

येषां प्रसादेन मया विदृब्धा, स्वबोधवृद्धयै विततार्थसारा ।
खण्डप्रशस्तेर्विवृतिर्वरेण्या, प्रसद्य शोध्या च[4] बुधैर्मयीयम् ॥९॥

इति श्रीपण्डितशिरोरत्नश्रीजयसोमगणिशिष्यपण्डितगुणविनयगणिभिर्विरचिता[5] वृत्तिः[6]
श्रीखण्डप्रशस्तेः[7] सुबोधिकानाम्नीति ।

श्रीफलवर्द्धिकाद्भुताधीशश्रीपार्श्वनाथप्रसादाच्चिरं पाठकश्रोतृसुखदायिनी स्तात् ।

राभस्यात् किञ्चिदज्ञानाद् यद्विरुद्धमवादि[8] तत् ।
नोपेक्षणीयं किन्त्वेद् विशोध्यं विबुधैरिह ॥१॥

[9]गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः ।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः ॥२॥

[10]कल्याणमस्त्वहर्निशम् ।

---

*पी. प्रतौ, साधुभ्यो हिता साधव्याः हितार्थे यत् ।

१. हं० श्रैपाठकीं । २. हं० करुणानिधाना० । ३. हं० सुराचार्यमहैपतारैः । ४. हं० विबुधै० । ५. हं० गणिविरचिता । ६. हं० नास्ति । ७. हं० श्रीखण्डप्रशस्तिवृत्तिः । ८. हं० यद्विरुक्तमवादि । ९-९. हं० प्रतौ पद्यं नास्ति । १०-१०. हं० नास्ति ।

लेखनप्रशस्तिः

म्वत्प्रवेष्टमुनिवक्त्रशशिप्रवर्षे (१६७२), सद्धर्मराज सुतिथौ वरवक्रवारे ।
श्रीलूणकर्णसर ········ ·····वरेण्ये, सच्चारुराजिकविमानवपूरिते च ।।१।।

युगप्रधानजिनसिंहसूरीश्वरस्य, राज्ये वरे भविकतोयजबोधहेते ।
यौगप्रधानजिनचन्द्रसुपट्टनिष्क-ग्रावोपमस्य ········ पूजितस्य ।। २ ।।

आसन् पुरा खरतरगच्छनायकाः, सच्छीलखड्गव्यापादितपञ्चबाणाः ।
श्रीभारतीप्रतिभ सुबुद्धिसागराः, माणिक्यसूरिगुरवः सुरशाखिकल्पाः ।।३।।

············सुदक्षाश्च वाचकपदधारिणः ।
कल्याणादि सुधीरान्त नामानः श्रुतसागराः ।।४।।

जयन्तु तेषां वराः शिष्याः कल्याणलाभाभिधाः ।
ज्ञप्त्या सुरगुरुप्रतिमस्थिराः श्रवणपुङ्गवाः ।।५।।

लिपियांचक्रिरे पुस्तं शिष्यैः कमलकीर्त्तिभिः ।
सवृत्तिकं मनोहारि यथा दृष्टं तथा मुदा ।।६।।

श्रीरस्तु । २५०० । कल्याणं भूयात् ।छा।छ।



परिशिष्ट—१

खण्डप्रशस्तेर्व्यंवहृतप्रतिषूपलब्धानाम्पद्याङ्कानामनुक्रम

क्रमाङ्क	मुद्रित पृष्ठाङ्क	पद्याङ्क	विनय. सं. प्रति के अवतार	पद्याङ्क	कीका टीका के पद्याङ्क	गुणविनय टीका के पद्याङ्क
अत्युक्तौ यदि न	१६०	७६	(७)*अवतार	५८	१२०	६४
अधाक्षीन्नो लक्ङा	१५१	६५		×	११२ [८]	१५१
अन्तः क्रोधोज्जिहान०	५१	६	(४)	६	३७	३४
अन्दर्वारिजिघृक्षया०	१५६	७२	(७)	५४	११६	५८
अम्भः कर्दमतामुपैति	१७२	९१	(७)	७६	१३३	१२७
अयि खलु विषमः	१६६	८३	(७)	६८	१२७ क	१२२
" " "	१६७	८४	"	६७	१२७ ख	१२३
" " "	१६७	८५	"	६९	१२७ ग	१२१
अर्द्धोदञ्चितमाननेन्दु०	१९४	५	(८)	५	१४८	×
अष्टौ यस्य दलानि	३६	७	(३)	७	२५	२४
अस्माकं परमन्दिरस्य	१५४	६९	(७)	५१	११३	७३
आकृष्टिः सुखसम्पदां	१४९	६३		×	११२ (६)	१५०
आकृष्टे कवचादहीन्द्र०	१६८	८७	(७)	६६	१२९	१०२
आकृष्टे युधि कार्मुके	१५४	७०	(७)	५२	११४	७२
आगस्कारिणि कैटभ०	१९४	४	(८)	४	१४७	×

*. कोष्ठकान्तर्गतोङ्कोऽवतार सूचकः

आर्त्ते सीमन्तचिह्नं	१७७	६६	(७)	८१	१३८	×	
आदाय प्रतिपक्ष०	१२०	३२	(७)	२६	८८	८६	
आबाल्याधिगमान्मयैव	६०	४	(७)	४	६०	७७	
आरुह्याश्वं च शुभ्रं	२०४	२	(१०)	२	१५५	×	
आलानं जयकुञ्जरस्य	११३	२५	(७)	२३	८१	१३१ ख०	
इन्दोर्लक्ष्म त्रिपुरजयिनः	१३३	४४	(७)	९३	९९ ख.	८३	
उत्तीर्णस्तूर्णमब्धिः	१८९	११३	(७)	९६		×	
उत्फुल्लामल कोमलो०	८५	२	(७)	२	५८	५२	
उन्मीलद्गुडपाक०	१८९	११२		×	×	×	ग्र., ११६२ प्रती, रामावतारे पद्य ४३
एक एव महान्दोषो	१८६	१०६	(७)	४२	×	१०९	
एकं कर्णलताविभूषण०	१४०	५१	(७)	४४	१०६	११४	
एकं काञ्चनभूधरं	१३१	४२	(७)	३८	६८	६३	
एकं पादं च पृष्ठे	४१	१२	(३)	१२	३०	×	
एतस्मिन्विजने वने	१८०	९९	(७)	८४	१४१	११८	
एत्य द्वारि ततो	१८१	१००	(७)	८५	१४२	११९	
करकम्पितखड्गयष्टि०	१६५	८१	(७)	६३	१२५	१०१	
कर्पूरप्रतिपन्थिनो	९२	६	(७)	६	६२	१५४	
कल्याणानां निधानं	८१	१	(७)	१	५७	५१	
कान्ताऽस्मद्दैवगत्या	१७४	९३	(७)	७८	१३६ क	१२६	
किं किं सिंहस्ततः	४४	१	(४)	१	३२	२९	
किं छत्रंकिन्नु रत्नं	६२	१	(५)	१	४६	४१	

क्रमाङ्क	मुद्रित पृष्ठाङ्क	पद्याङ्क	विनय. सं. प्रति के अवतार	विनय. सं. प्रति के पद्याङ्क	कीका टीका के पद्याङ्क	गुणविनय टीका के पद्याङ्क
किं दोर्भ्यां किमु कार्मुको०	७६	४	(६)	३	५३	४८
कीर्तिः श्रीरघुवंशदीप	१२८	३९	(७)	३३	६५	५७
कीर्तिः श्री रघुवंशरत्न	१३६	४७	(७)	३६	१०२	५६
कीर्त्तिस्तव क्षितिप	१२९	४०		×	९६	७५
कुतस्त्वमणुकः स्वतः	७०	७		×	५० ग०	×
कुलाचला यस्य महीं	७८	६	(६)	५	५५	५० क०
कृतक्रोधे यस्मिन्	३		(१)	१	१	१
कृत्वा छेदमपांनिधे०	११०	२२	(७)	२०	७८	८७
कोशान्गेहेष्वमुञ्चन्	१४७	६१		×	१२२ [४]	१४३
कौन्तेयस्य सहायतां	१६०	१	(८)	१	१४४	१५५
क्रामन्त्यः-क्षतकोमला०	१७८	६७	(७)	८२	१३६	११५
क्रोधस्फीतस्फुलिङ्ग०	५८	१२		×	४३	×
क्षीरक्षालितपाञ्चजन्य०	१४०	५२	(७)	४५	१०७	८८
खण्डक्षोदमृदिस्थले	१८७	१०९		×	×	१४२
खर्वग्रन्थिविमुक्त०	६३	२	(५)	२	४७	४२ क
गङ्गीयत्यसितापगां	१३५	४६	(७)	४१	१०१	६१
गण्डी पाण्डिमसात्तनू०	१६६	८८	(७)	७०	१३०	१०३
गर्वविशविशाल०	१५९	७५	(७)	५७	११९	६७
गाम्भीर्येण महोदयेन	१५१	६६		×	११२ [६]	१५२
गोत्राचारविचार०	७३	२	(६)	१	५१	४५

चञ्चच्चण्डनखाग्र०	४६	२	(४)	२	३३	३०
चटच्चटिति चर्म्मणि	५४	८	(४)	८	३९	३६
चन्द्रादित्योरुनेत्रः	७	२	(१)	३	२	३
चिन्तागम्भीरकूपा.	१५७	७३	(७)	५	११७	६६
छिन्द्याद्वः कलिकश्मला०	११८	२९	(७)	८८	८५	×
जात्यन्धत्वमभिष्टुतं	१०८	२०	(७)	९५	७६	६३
जीयासुः शकलाकृते०	८	३	(१)	५	३	४
जृम्भाविस्तृतवक्त्र०	१४	७	(१)	९	७	८
तं दृष्ट्वा शङ्खदैत्यं	१५	८	(१)	१०	८	×
त्वत्प्रारब्धप्रचण्ड०	९७	११	(७)	११	६७	१२४
त्वं चेत्कल्पतरुर्वयं	१०२	१४	(७)	१४	७०	११३
त्वं सर्वदा नृपतिचन्द्र	१४५	५८	(७)	५०	११२ [१]	९१
दंष्ट्रासंकटवक्त्र०	४८	४	(४)	४	३५	३२
दिङ्मूढं तं सुरारिं	१७	१०	(१)	१२	१०	११
दिश्याद्वः शकलाकृतिः	१०	४	(१)	६	४	५
दृप्यद्दैत्यनितम्बिनी०	३४	५	(३)	५	२३	२२
देव त्वं मलयाचलोसि	११२	२४	(७)	२२	८०	१३१ क.
देव त्वत्करनीरदे	१२२	३४	(७)	२८	९०	६२
देव त्वद्गजवाजि०	१७६	९५	(७)	८०	१३७	१३३
देव त्वद्भुजदण्ड चण्डिम०	१७३	९२	(७)	७७	१३४	१२८
देव त्वद्भुजदण्डदर्प०	१२४	३६	(७)	३०	९२	६५
देव त्वद्विजये तुरंगम०	९९	१२	(७)	१२	६८	१२५

क्रमाङ्क	मुद्रित पृष्ठाङ्क	पद्याङ्क	विनय सं. प्रति के अवतार	पद्याङ्क	कीका टीका के पद्याङ्क	गुणविनय टीका के पद्याङ्क
देव त्वामसमानदान०	१११	२३	(७)	२१	७९	१०५
देव ब्रह्माण्डभाण्डे	१४३	५५	(७)	४८	११० क.	१३०
देव श्रीनृपरामचन्द्र	१५२	६७		×	११२[१०]	१५३
देवाधिपो वा भुजगा०	१०३	१६	(७)	१५	७२	९२
देवे दिग्विजयोद्यते	७५	३	(६)	२	५२	४६
देवे दिग्विजयोद्यते	१६४	८०	(७)	६२	१२४	७६
द्वारे कल्पतरून्गृहेषु	८०	८		×	×	× ग्र.५९९८ प्रतौ, परशुरामावतारवर्णने प. ८६
द्वारं खड्गिभिरावृतं	१८४	१०३	(७)	७३	×	९६
द्वीन्द्रं भाति जगत्	९५	९	(७)	९	६५	१४५
धत्ते नायक राम	१०५	१८	(७)	१७	७४	९९
धाराधीर धरामहीश–	१८५	१०५	(७)	७५	×	९८
न तृणानि न तोयानि	१४७	६०		×	११२(३)	१४९
न पङ्कं रालेपं	२९	१	(३)	१	१९	१८
नमस्कुर्मः कूर्मं	२७	७	(२)	१	१८	१६
नाग विशेषे शेषे	९६	१०	(७)	१०	६६	१३८
नाशिष्यः किमभूद भवः	७७	५	(६)	४	५४	४९
निः कन्दामरविन्दिनीं	३३	४	(३)	४	२२	२१
निः प्रत्यूहमनल्पकल्प.	२२	२	(२)	३	१३	१३
नृपतिमुकुटरत्न	१४४	५७	(७)	४९	१११	८५

परिहरत पराङ्गना०	१६५	८२	(७)	६४	१२६	१०८
पाठीनः कमठः	२०६	१	(१०)	४	×	×
पातालाच्च समुद्धृतो	४३	१४		×	×	× ग्र० ५१६८ प्रतौ, रामावतारवर्णने पद्य ८७, परंमुद्रणकाले भ्रमेण वराहावतार-१०७रवर्णने उपन्यस्तम् ।
पाताले मञ्जुमूलं	१४१	५३	(७)	४६	१०८	
पातु त्रीणि जगन्ति	३०	२	(३)	२	२०	१९
पातु वः कपटकोल०	३९	१७	(३)	१०	२८	२७
पातु श्रीस्तनपत्रभङ्गि०	३२	३	(३)	३	२१	२०
पायाद्वो जमदग्निवंश०	७९	७	(६)	६	५६	५० ख०
पुत्रिण्यः कति नाऽत्र	२५	५	(२)	६	१६	१४
पूर्णेन्दुः करकन्दुको	१३२	४३	(७)	३९	९९ क०	७०
पृष्ठभ्राम्यदमन्द०	२६	६	(२)	७	१७	१५
पौलस्त्यस्यावमन्ता	१०७	१९	(७)	१८	७५	९४
प्रख्यातो मथुरापुरी	२०५	३	(१०)	३	१५६	×
प्रेङ्खद्वाजितरङ्ग०	२०३	१	(१०)	१	१५४	१६०
प्रौढिं धत्तां कलासु	१००	१३	(७)	१३	६९	८४
फूत्कारैःफणिपुङ्गवं	१३८	४९	(७)	३५	१०४	७९
बद्धाः केऽमी पतंगाः	१६३	७९	(७)	६१	१२३	१११
बद्ध्वा पद्मासनं यो	१९९	२	(९)	२	१५२	१५८
बिभ्राणोऽभिनवेन्दु०	३७	८	(३)	८	२६	२५

क्रमाङ्क	मुद्रित पृष्ठाङ्क	पद्याङ्क	विनय. सं. प्रति के अवतार	विनय. सं. प्रति के पद्याङ्क	कीका टीका के पद्याङ्क	गुणविनय टीका के पद्याङ्क
बीजं चिन्तामणिश्चेत्	६३	७	(७)	७	६३	८१
ब्रह्माण्डच्छत्रदण्डः	६५	३	(५)	३	४८	४२ ख०
ब्रूमो निर्भयमद्य	१४२	५४	(७)	४७	१०६	×
भीमं यज्जलधिं जवेन	१०४	१७	(७)	१६	७३	६५
भूयः कण्ठावधूति०	५०	५	(४)	५	३६	३३
भूषारत्नं भुवनवल०	१५३	६८		×	११२ (११)	×
भ्रमति गिरिराट् पृष्ठे	२३	३	(२)	४	१४	१७
भ्रश्यत्कुम्भशिरोघरेषु	४१	१३		×	३१	×
भ्रान्त्वा भूवलयं दशास्य०	११९	३१	(७)	२५ ख.	८७	६८
भ्राम्यन्मन्दरकन्दरो०	२५	४	(२)	५	१५	×
भ्राम्यन्मन्दरकन्दरो०	१६१	२	(८)	२	१४५	१५६
मग्ना ये रिपवो निपत्य	१६२	७८	(७)	६०	१२२	×
मग्ने मेरौ पतति तपने	१२	६	(१)	८	६	७
मत्स्यः कूर्मो वराहश्च	४		(१)	२	२	टीकायां
मनोभूर्मुग्धासु	१४४	५६	(७)	६२	११० ख.	१३७
मल्लानाम शनि०	१६५	६	(८)	६	१४६	×
महाराज श्रीमन्	१३६	५०	(७)	४३	१०५	८०
मायामीनतनोस्तनोतु	११	५	(१)	७	५	६
मुक्तैर्या स्यति कुत्रचिद्	३८	६	(३)	९	२७	२६
मुरारातिर्लक्ष्मीं	१८८	११०		×	×	१४४

यं दृष्ट्वा नारसिंहं	५६	१३	(४)	१२	४४	×
यत्राखण्डलदन्ति०	६०	१४	(४)	१३	४५	४०
यस्तीर्थानामुपास्या	१८८	१११		×	×	१४७
यस्मादाक्रामतोद्यां	७१	८		×	५० घ	४४
यातीत: पान्थ पन्था	१८२	१०१	(७)	८६	१४३ क.	१२०
ये मज्जन्ति निमज्ज०	९१	५	(७)	५	६१	५३
यो जम्भं जितवान्	१०३	१५	(७)	९४	७१	८९
योद्धायोद्धावधीतान्	१८७	१०८	(७)	२५ क.	×	१३९
यो धत्ते शेषनागं	२१	१	(२)	२	१२	१२
यो रामो न जघान	१४६	५९		×	११२ [२]	१४०
राजन् बीजन्ति मुक्ता	१२३	३५	(७)	२९	९१	८२
राजन् राजसुता न	१८५	१०४	(७)	७४	×	९७
राज्यं येन पटान्त०	११६	२८	(७)	८७	८४	१४६
राम: किं कुरुते न	१८६	१०७		×	×	११०
राम त्वत्तरुण प्रताप०	१६१	७७	(७)	५६	१२१	५५
रामो दाशरथिर्दशा०	११५	२७	(७)	८९	८३	×
रतो रक्तमयान्यमूनि	२००	३	(९)	३	१५३	१५९
रेफ व्यञ्जनराजता	८८	३	(७)	३	५९	१२९
लावण्योकसि सत्प्रताप०	९४	८	(७)	८	६४	१३५
लीने श्रोत्रैक देशे	३५	६	(३)	६	२४	२३
लीलोन्मूलितमौलि०	७३	१		×	५० ङ	×

क्रमाङ्क	मुद्रित पृष्ठाङ्क	पद्याङ्क	विनय. सं. प्रति के अवतार	विनय. सं. प्रति के पद्याङ्क	कीका टीका के पद्याङ्क	गुणविनय टीका के पद्याङ्क
वपुर्दलनसम्भ्रमात्	४७	३	(४)	३	३४	३१
वर्षासु भीतिमवशां०	१७२	९०	(७)	७२	१३२	×
विद्युच्चक्रकरालकेसर०	५७	११	(४)	११	४२	३९
वियत्पुच्छातुच्छोच्छलित०	६	१	(१)	४	१	२
वीरक्षीरसमुद्रसान्द्र०	१३४	४५	(७)	४०	१००	९०
शत्रुक्षत्रकलत्रनेत्र०	१२१	३३	(७)	२७	८९	५९
शत्रोः प्राणानिलाः पञ्च	५५	९	(४)	९	४०	३७
शुष्के गम्भीरनीरे	११९	३०	(७)	९१	८६	×
श्रीमद्राम त्वदीयाः	१८३	१०२		×	१४३ ख.	×
श्रीमन्नायक रामभद्र	१६७	८६	(७)	६५	१२८	१००
श्रीराम त्वदनेकचित्र०	१३०	४१	(७)	३७	९७	५४
श्रीरामे मृगयां गतेऽपि	१०९	२१	(७)	१९	७७	१३६
श्रुतिपथि विचरामः	१५०	६४		×	११२ (७)	×
षट्चक्र क्रमभावना	१९६	१	(९)	१	१५१	१५७
संग्रामाङ्गणमागतेन	१३७	४८	(७)	३४	१०३	६९
संग्रामे रिपुभूभुजां	१४८	६२		×	११२ (५)	१४१
संग्रामो दिवसायते	१५८	७४	(७)	५६	११८	७१
सत्यं सा वहुरूपिणी	१२७	३८	(७)	३२	९४	७४
सम्वृत्ते रणतूर्य०	१७५	९४	(७)	७६	१३६ ख.	११७
सर्वैर्माङ्गल्यनादै०	१८९	११४	(७)	६७	×	×

स सत्वरमितस्तत ०	५६	१०	(४)	१०	४१	३८
साधर्म्येण कथं	१७०	८९	(७)	७१	१३१	१०४
सिन्धुष्वङ्गावगाहः	४०	११	(३)	११	२९	२८
सोमार्द्धायितनिःपिधान०	५२	७	(४)	७	३८	३५
स्थाणुः कूर्मोऽत्र यष्टि०	१५५	७१	(७)	५३	११५	६०
स्नाताः प्रावृषि	१७९	९८	(७)	८३	१४०	११६
स्पष्टस्वस्तटिनी०	१२५	३७	(७)	३१	९३	७८
स्वर्फूर्जद्व्योममधुव्रती०	६८	५	(५)	५	५० क	×
स्वस्तिः स्वागतर्थ्यहं	६९	६		×	५० ख	×
स्वेदाम्भःकणमण्डलानि	११४	२६	(७)	२४	८२	१३२
हं हो मीनतनो हरे	१९	११	(१)	१३	११	१०
हत्वा तान् रङ्गवाटे	१९३	३	(८)	३	१४६	×
हस्ते शस्त्रकिणाङ्कितो०	६६	४	(५)	४	४९	४३

परिशिष्ट—२

टीकाकारोद्धृतग्रन्थानां ग्रन्थकाराणाञ्च नामसूची



टीकाकारोद्धृत विविध-सन्दर्भ-सूची



परिशिष्ट— ३

टीकाकारोद्धृत प्रतीकानामकारानुक्रमः

परिशिष्ट — ४

खण्डप्रशास्तिपद्यच्छन्दसां लक्षणानि

मात्रिक–छन्द

१. आर्या-गीति प्रत्येक चरण में मात्राएँ–१२, २०, १२, २०. (७) १०.

वर्णिक–छन्द

२. अनुष्टुप्		(मं.) २; (४) ९; (७) ६०; १०६.
३. उपेन्द्रवज्रा	ज. त. ज. ग. ग.	(६) ६.
४. वाणी (इन्द्रवज्रोपेन्द्र-वज्रयोरुपजातेर्द्वितीयोभेदः)	त. त. ज. ग. ग. ज. त. ज. ग. ग. त. त. ज. ग. ग. त. त. ज. ग. ग.	(७) १६.
५. रथोद्धता (११)	र. न. र. ल. ग.	(३) १०
६. वसन्ततिलका (१४)	त. भ. ज. ज. ग. ग.	(७) ४०, ५८, ९०.
७. मालिनी (१५)	न. न. म. य. य.	(७) ५७, ६४.
८. पृथ्वी (१७)	ज. स. ज. स. य. ल. ग.	(४) ३, ८, ६, (५) ७.
९. शिखरिणी (१७)	य. म. न. स. भ. ल. ग.	(मं.) १; (१) १; (२) ७; (३) १; (७) ५०; ५६; ६५; ११०.
१०. हरिणी (१७)	न. स. म. र. स. ल. ग.	(२) ३.
११. मन्दाक्रान्ता (१७)	म. भ. न. त. त. ग. ग.	(१) ६; (७) ४४; ६८.
१२. शार्दूलविक्रीडितम् (१९)	म. स. ज. स. त. त. ग.	(१) ३, ४, ५, ७, ११; (२) २, ४, ५, ६; (३) २, ३, ४, ५, ७, ८, ९ १३, १४; (४) २, ४, ७, ११, १४; (५) २, ४, ५. ६; (६) १, २ ३, ४, ५, ७, ८; (७) २, ३, ४, ५, ६, ८ ९, १२, १४, १५, १७, १८, २०, २१, २२, २३, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३१, ३२, ३३, ३४, ३६, ३७, ३८, ३९, ४१, ४२, ४३, ४५, ४६, ४७, ४८, ४९, ५१, ५२, ५४, ५९, ६२, ६३, ६६, ६७, ६९, ७०, ७२, ७४,

		७५ ७६, ७७, ७८, ८०, ८६, ८७ ८८, ८९, ९१, ९२, ९४, ९५, ९७, ९८, ९९. १००, १०३, १०४, १०५, १०७, १०९, ११२; (८) १, २, ४, ५, ६; (९) १, ३; (१०) १, ३; (उप०) १.
१३. स्रग्धरा (२१)	म. र. भ. न. य. य. य.	(१) २, ८, ९, १०; (२) १; (३) ६, ११, १२; (४) १, ५, ६, १२, १३; (५) १, ३, ८; (७) १, ७, ११, १३, १९, ३०, ३५, ५३, ५५, ६१, ७१, ७३, ७९, ९३, ९६, १०१, १०२, १०८, १११, ११३, ११४; (८) ३; (९) २; (१०) २.

अर्द्धसम—छन्द

१४. मालभारिणी	स. स. ज. ग. ग. स. भ. र. य. स. स. ज. ग. ग. स. भ. र. य.	(७) ८१
१५. पुष्पिताग्रा	न. न. र. य. न. ज. ज. र. ग. न. न. र. य. न. ज. ज. र. ग.	(७) ८२, ८३, ८४, ८५.

—— छन्द-लक्षणों में संकेतित, म. य. र. स. त. ज, भ. न. ल. ग. क्रमश: मगण, यगण, रगण, सगण, तगण, जगण, भगण, नगण एवं लघु, गुरु के सूचक हैं।

— पद्याङ्क क्रम में ( ) चिह्नान्तर्गत १ से १० अंक, तथा मं. एवं उप० क्रमश: १. मत्स्य, २. कूर्म, ३. वराह, ४. नृसिंह, ५. वामन, ६. परशुराम, ७. राम, ८. कृष्ण, ९. बुद्ध, १० कल्की, मं. मंगलाचरण तथा उप. उपसंहार के द्योतक हैं।

चित्र परिचय—

पुस्तक के प्रारम्भ में जो चित्र दिया गया है वह, विष्णु ... अवतारों का चित्र है। यह एक ही विशाल एवं भारी प्रस्त... है और इस पर बड़े ही सुन्दर ढंग से दशों मूर्तियां उत्कीर्ण की हु... ऊपर की तरफ सात मछलियां, नवग्रह एवं गणेश की मूर्तियां अङ्कित हैं। इन दश अवतारों में सूत्रधार ने ८वें अवतार के रूप में बलराम को उत्कीर्ण किया है। इससे यह प्रतीत होता है कि प्राचीन परम्परा कृष्ण के स्थान पर बलराम को ही अवतार मानती थी। यह प्रस्तर पट्ट १०वीं शताब्दी का है। इसकी लम्बाई ४ फुट ११ इंच और ऊंचाई २ फुट ११ इंच है। यह प्रस्तर-पट्ट भरतपुर-... कुम्हेर नामक ग्राम से प्राप्त हुआ था और वर्तमान में भरतपुर के पुरातत्व एवं संग्रहालय में विद्यमान है।

१३. स्रग्ध

१५. पुष्पिताग्रा

—— छन्द-लक्षणों :
रगण, सगण, तगण,
— पद्याङ्क क्रम में (